श्रीअरविन्द-साहित्य

खण्ड २०

श्रीमाताजीके विषयमें

('माता' पुस्तक सहित)

टिप्पणियों और पत्रोंसे संकलित

ON THE MOTHER

Compiled From Notes And Letters

श्रीअरविन्द
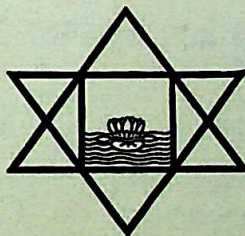
श्रीअरविन्द सोसायटी
पांडिचेरी - 2
1973

अनुवादक :

प्रथम भाग, जगन्नाथ वेदालंकार

प्रथम संस्करण, वर्ष 1973

Price Rs. 18.00 मूल्य रु०

प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी-2

मुद्रक : ऑल इन्डिया प्रेस,
श्रीअरविन्द आश्रम,
पांडिचेरी-2.

विषय सूची

श्रीमाताजीके विषयमें पत्र

प्रथम भाग

द्वितीय भाग

प्रथम भाग

श्रीमाताजीके विषयमें पत्र

I

श्रीमाताजी

और

उनके देहधारणका प्रयोजन

श्रीमाताजी और उनके देहधारणका प्रयोजन

श्रीमाताजी कौन हैं ?

श्रीमाँ

प्र०– क्या आप अपनी पुस्तक "माता" में श्रीमां (हमारी माताजी) का ही जिक्र नहीं करते हैं ?

उ०– हां।

प्र०– क्या वह "व्यष्टिभावापन्न" भगवती माता ही नहीं हैं जिन्होंने "सत्ताके इन दो विशालतर स्वरूपोंकी — परात्पर और विश्वगत-की — शक्तिको" मूर्तिमान् किया है ?

उ०– हां, वही हैं।

प्र०– क्या वह हमारे प्रति अपने गभीर और महान् प्रेमके वश ही यहां (हमारे बीच) अन्धकार और मिथ्यापन, भूल-भ्रांति और मृत्युके अन्दर अवतरित नहीं हुई हैं ?

उ०– हां।

१७-८-१९३८

* * *

प्र०– ऐसे बहुतसे लोग हैं जिनका मत है कि श्रीमां मनुष्य थीं पर अब उन्होंने भगवती माताको अपने अन्दर मूर्तिमान् किया है और उनका विश्वास है कि श्रीमांकी प्रार्थनाएं* इस मतको पुष्ट करती हैं। पर, मेरे मनकी धारणा, मेरे अन्तरात्माका अनुभव यह है कि वे स्वयं भगवती माता ही हैं जिन्होंने अन्धकार, दुःख-

*श्रीमां लिखित 'प्रार्थनाएं और ध्यान' नामक पुस्तक।

कष्ट और अज्ञानका जामा पहनना इसलिये स्वीकार किया है कि वे सफलतापूर्वक हम मनुष्योंको ज्ञान, सुख और आनन्दकी ओर, तथा परम प्रभुकी ओर ले जा सकें।

उ०— भगवान् स्वयं मार्गपर चलकर मनुष्योंको राह दिखानेके लिये मनुष्यका रूप धारण करते हैं और बाहरी मानव-प्रकृतिको स्वीकार करते हैं। पर इससे उनका 'भगवान्' होना खतम नहीं हो जाता। यह एक अभिव्यक्ति होती है, बढ़ती हुई भागवत चेतना अपने-आपको प्रकट करती है। यह मनुष्यका भगवान्में बदल जाना नहीं है। श्रीमां अपने आन्तर स्वरूपमें बचपनमें भी मानवत्वसे ऊपर थीं। इसलिये 'बहुतसे लोगों' का जो उपर्युक्त मत है वह भ्रमात्मक है।

१७-८-१९३८

प्र०— मेरी यह भी धारणा है कि उनकी 'प्रार्थनाएं' हम अभीप्सु जीवोंको यह दिखलानेके लिये लिखी गई हैं कि भगवान्के सामने किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये। (क्या यह ठीक है?)

उ०— हां।

१७-८-१९३८

श्रीमांका अविर्भाव तथा अतिमानसका अवतरण

प्र०— क्या श्रीमांके प्राकटच तथा अतिमानसके अवतरणमें कोई अन्तर है?

उ०— श्रीमां अतिमानसको नीचे लानेके लिये ही आती हैं और अतिमानसका अवतरण होनेपर ही उनका यहां पूर्ण रूपसे अभिव्यक्त होना सम्भव होता है।

२३-९-१९३५

* * *

प्र०— श्रीमां सीधे ऊपरके अपने लोकसे साधकपर कार्य नहीं करतीं, यद्यपि वे यदि ऐसा करना चाहें तो कर सकती हैं — यहांतक कि वे संसारको एक दिनमें अतिमानसभावापन्न भी बना सकती

हैं; पर उस हालतमें यहां बननेवाली अतिमानसिक प्रकृति ठीक वैसी होगी जैसी कि वह ऊपर है, स्वयं हमारी पृथ्वी, जो अभी अज्ञानमें है, उस समय अतिमानसिक पृथ्वीमें नहीं विकसित होगी जो कि एक ऐसी अभिव्यक्ति होगी जो देखनेमें ठीक वैसी ही नहीं होगी जैसा कि अतिमानस है।

उ०– यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण सत्य है।

१७-६-१९३५

श्रीमांके मूर्त्त होनेका उद्देश्य

प्र०– क्या मेरा यह सोचना ठीक है कि माताजी एक व्यक्तिके रूपमें समस्त भागवत शक्तियोंको मूर्तिमान् करती हैं और अधिकाधिक भागवत कृपाको भौतिक स्तरपर उतार लाती हैं? और उनका मूर्तिमान् होना सम्पूर्ण भौतिक स्तरके लिये परिवर्तित और रूपान्तरित होनेका एक सुयोग है?

उ०– हां, उनका मूर्तिमान् होना पृथ्वीकी चेतनाके लिये अपने अन्दर अतिमानसको ग्रहण करने तथा उसे सम्भव बनानेके लिये पहले जो रूपान्तर जरूरी है उसे प्राप्त करनेका एक सुयोग है। पीछे चलकर अतिमानसके द्वारा और भी रूपान्तर साधित होगा, परन्तु समूची पार्थिव चेतना अतिमानसभावापन्न नहीं हो जायगी — सबसे पहले एक नयी जाति उत्पन्न होगी जो अतिमानसको प्रकट करेगी, जैसे कि मनुष्य मनको अभिव्यक्त करता है।

१३-८-१९३३

* * *

केवल एक ही दिव्य शक्ति है जो विश्वमें भी कार्य करती है और व्यक्तियोंमें भी और फिर जो व्यक्ति और विश्वके परे भी है। श्रीमां इन सबकी प्रतिनिधि हैं, पर वे यहां शरीरमें रहकर कुछ ऐसी चीज उतारनेके लिये कार्य कर रही हैं जो अभी तक इस स्थूल जगत्में इस तरह अभिव्यक्त नहीं हुई है कि यहांके जीवनको रूपान्तरित कर सके — अतः तुम्हें उनको इस उद्देश्यसे यहां कार्य करनेवाली भागवती शक्ति समझना चाहिये। वे अपने शरीरमें वही हैं,

पर अपनी सम्पूर्ण चेतनामें वे भगवान्‌के सभी स्वरूपोंके साथ अपना तादात्म्य बनाये हुई हैं।

***

माताजी बहुतसी नहीं हैं, माताजी एक ही हैं पर उनके रूप बहुतसे हैं। परात्पर रूप श्रीमांका केवल एक रूप है। मैं नहीं जानता कि परात्परा मांके मूर्त्त स्वरूपका क्या अर्थ है। एक ही मांका मूर्त्त स्वरूप होता है—उसके द्वारा वे किस चीजको अभिव्यक्त करती हैं यह स्वयं उनपर निर्भर है।

७-७-१९३६

***

प्र०— अपने विश्व-कार्यमें श्रीमां वस्तुओंके नियमके अनुसार क्यों कार्य करती हैं, और अपने मूर्त्त भौतिक शरीरमें वे बराबर कृपा-शक्तिके द्वारा क्यों कार्य करती हैं?

उ०— विश्वको और विश्वके विधानको बनाये रखना विश्व-शक्तिका कार्य है। महत्तर रूपान्तर आता है विश्वातीत परात्परसे और उसी परात्पर कृपाशक्तिको कार्य-रूपमें लानेके लिये यहां श्रीमांका मूर्त्त स्वरूप विद्यमान है।

१३-८-१९३३

प्र०— भौतिक रूपमें श्रीमांके पास जानेकी उपयोगिताके विषयमें आपका क्या विचार है?

उ०— भौतिक रूपमें श्रीमांके पास जानेकी उपयोगिता है—यह सशरीर मन और प्राणका उनकी सशरीर शक्तिके पास जाना है। अपने विश्व-कार्यमें श्रीमां वस्तुओंके नियमके अनुसार कार्य करती हैं—उनकी मूर्त्त भौतिक क्रिया निरन्तर कृपा-प्राप्तिका सुयोग प्रदान करती है—वास्तवमें यही शरीर ग्रहण करनेका उद्देश्य है।

१२-८-१९३३

श्रीमांके विभिन्न रूप

श्रीमांके बहुतसे अलग-अलग व्यक्तित्व हैं और उनमें जो व्यक्तित्व प्रधान होता है उसके अनुसार उनका बाह्य रूप बदल जाता है। अवश्य ही कुछ साधारण चीजें सबमें एकसी बनी रहती हैं। सबसे पहला वह व्यक्तित्व है जिसे ये सब व्यक्ति-रूप अभिव्यक्त करते हैं पर जिसे नाम या शब्द द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता — फिर अतिमानसिक स्वरूप भी है जो पर्देके पीछेसे वर्तमान अभि-व्यक्तिके लक्ष्यके ऊपर अधिष्ठान कर रहा है।

९-११-१९३३

* * *

श्रीमांका केवल एक ही रूप नहीं है, बल्कि विभिन्न समयोंपर उनके विभिन्न रूप होते हैं।

भौतिक शरीरके पीछे श्रीमांके बहुतसे रूप, शक्तियां और व्यक्तित्व विद्यमान रहते हैं।

१४-५-१९३३

* * *

प्र०— दो दिन हुए, मैंने सूक्ष्म दर्शनके रूपमें यह देखा कि मेरे हृदयसे अभीप्साकी आग उठ रही है और ऊपरकी ओर जा रही है तथा उसके साथ श्रीमाताजीकी याद निरन्तर बनी हुई है। फिर मैंने देखा कि श्रीमाताजी, जिस रूपमें हम उन्हें स्थूल शरीरमें देखते हैं, आगमें उतर रही हैं और मेरे सभी अंगोंको शान्ति और शक्तिसे भर रही हैं। यह दर्शन क्या सूचित करता है? मैंने श्रीमांको उनके दिव्य रूपमें न देख ठीक वैसा ही क्यों देखा जैसा कि हम उन्हें स्थूल शरीरमें देखते हैं?

उ०— यह सूचित करता है अभीप्साको और केवल आन्तर सत्तामें ही नहीं वरन् बाहरी प्रकृतिमें भी सिद्धि ले आनेवाली क्रियाको। जब यह आन्तरिक क्रिया अथवा दूसरे स्तरकी क्रिया होती है तब मनुष्य श्रीमांको उनके किसी एक रूपमें देख सकता है, पर भौतिक स्तरपर सिद्धि प्राप्त करनेके लिये उनका

उपयुक्त रूप वही है जिसे उन्होंने यहां धारण कर रखा है।

१५-७-१९३३

* * *

प्र०– श्रीमाताजी विभिन्न समयोंपर, जैसे प्रणाम या 'प्रॉसपेरिटी' या मुलाकातके समय, अलग-अलग रूपोंमें क्यों दिखायी देती हैं? यहांतक कि कभी-कभी तो उनके स्थूल अंगोंमें भी अन्तर दिखायी देता है। उनके आकारमें इस प्रकारका अन्तर दिखायी देनेका कारण क्या है? क्या यह इस बातपर निर्भर करता है कि किस हदतक वे बाहरकी ओर मुड़ती हैं?

उ०– मेरी समझमें यह बात निर्भर करती है उस व्यक्ति-स्वरूपपर जो सामनेकी ओर अभिव्यक्त होता है—क्योंकि उनके बहुतसे व्यक्तिस्वरूप हैं और उनका शरीर सामने आनेवाले प्रत्येक स्वरूपका कुछ-न-कुछ अंश अभिव्यक्त करनेके लिये काफी नमनीय है।

४-१२-१९३३

* * *

प्र०– प्रायः ही जब मैं श्रीमाताजीको देखता हूं तब मैं अनुभव करता हूं मानों वे दिव्य आनन्दकी प्रतिमा हों और उनका रूप एक छोटी लड़कीके जैसा दिखायी देता है। क्या मेरे अनुभवमें कोई सत्य है?

उ०– आनन्द ही एकमात्र चीज नहीं है—ज्ञान, शक्ति, प्रेम तथा भगवान्‌की बहुतसी दूसरी शक्तियां भी हैं। सिर्फ एक विशेष अनुभवके रूपमें यह ठीक हो सकता है।

३०-४-१९३३

* * *

हां, बहुतसे लोग ऐसा देखते हैं, मानों श्रीमाताजी अपने साधारण भौतिक आकार

से अधिक लम्बी हों।

२६-६-१६३३

श्रीमांके अवतरित होनेका पूर्वज्ञान

प्र०– जब रामकृष्ण साधना कर रहे थे, श्रीमां अपने बचपनके शुरूके आठ साल, १८७८से १८८६ तक, भौतिक रूपमें पृथ्वीपर थीं। क्या उन्हें ज्ञात था कि माताजी अवतरित हो गई हैं? कम-से-कम उन्हें मांके अवतरित होनेका कुछ अन्तर्दर्शन अवश्य हुआ होगा, पर इस विषयमें हमें निश्चित रूपसे कहीं कुछ लिखा नहीं मिलता। और जब रामकृष्ण मांको अति तीव्र रूपमें बुला रहे होंगे तब मांको भी उस उम्रमें कुछ अनुभूति अवश्य हुई होगी।

उ०– श्रीमाताजीने अपने बचपनके सूक्ष्म दर्शनमें मुझे देखा था और 'कृष्ण' समझा था — उन्होंने रामकृष्णको नहीं देखा।

यह आवश्यक नहीं था कि उनको (रामकृष्णको) माताजीके अवतरित होनेका दर्शन प्राप्त हो, क्योंकि वे भविष्यकी बात नहीं सोच रहे थे और न ज्ञानपूर्वक उसके लिये तैयारी कर रहे थे। मैं नहीं समझता कि उन्हें श्री माता-जीके किसी अवतरणका कोई ख्याल था।

११-७-१६३५

* * *

'क्ष' की प्रकृति बहुत कुछ अत्यधिक वेदान्तीकी-सी है। जिस चीजमें हमारा विश्वास है उसमें और अवतरण आदिमें उसका विश्वास नहीं। तथापि उसे स्वयं कुछ ऐसे अनुभव हुए जिनमें माताजीने प्रत्यक्ष, मुक्त भौतिक रूपमें हस्त-क्षेप किया और उसे वह चीज नहीं करने दी जो वह करना चाहता था।

७-७-१६३६

माताजीमें भगवान्‌को देखना

प्र०– आज प्रातःकाल मैंने माताजीमें महान् सौन्दर्यका अवलोकन किया। यह तो ऐसा था मानों उनका सारा शरीर अलौकिक प्रकाशसे

देदीप्यमान हो रहा हो। वास्तवमें मुझे यों अनुभव हुआ मानों परात्परा देवी ऊपरके द्युलोकोंसे नीचे उतर आई हों। इसकी व्याख्या करनेकी कृपा कीजिये।

उ०– यह केवल यही कुछ था कि तुमने उनके संग रहनेवाली दिव्यताका अनुभव किया जो वहां सदैव रहती है।

२०-७-१९३३

* * *

जहांतक पहली दृष्टिमें ही माताजीमें भगवान्‌को देखनेकी बात है, ऐसा देखनेवाला अकेला वही नहीं है। कितने ही लोग ऐसा देख चुके हैं ...... उदाहरणार्थ, 'क्ष' की चचेरी बहन, एक मुसलमान कन्या, ज्यों ही श्रीमांसे मिली त्यों ही बोल उठी; "ये स्त्री नहीं, देवी हैं", और तबसे उसे सदैव उनके मार्मिक स्वप्न आते रहे हैं, और जब कभी उसे कोई कष्ट होता है वह उनका चिन्तन करती है और उनकी सहायतासे कष्टसे मुक्त हो जाती है। माताजीमें भगवान्‌को देखना उतना कठिन नहीं जितना तुम इसे समझ रहे हो।

२३-७-१९३५

* * *

प्र०– मुझे मालूम नहीं उस मुस्लिम महिलाने ठीक-ठीक क्या देखा था। जो आपने कहा है उससे लगता है कि वह अन्तर्ज्ञानकी झलकी थी।

उ०– बिलकुल नहीं, वह उनमें स्थित देवत्वका प्रत्यक्ष संवेदन था—क्योंकि मैं समझता हूं अन्तर्ज्ञानसे तुम्हारा मतलब एक इस प्रकारके विचारसे है जो एकाएक आ जाता है? साधारणतया लोग अन्तर्ज्ञानसे यही कुछ समझते हैं। उस महिलाके और 'क्ष' के दृष्टान्तमें यह चीज नहीं थी।

२९-७-१९३५

प्र०– परन्तु क्या पूर्णतया देदीप्यमान ज्योतिर्मयी भगवती माताके दर्शन करना अतीव कठिन नहीं है?

उ०— मैं नहीं मानता कि 'क्ष' को या किसी औरको पहली ही दृष्टिमें श्रीमाताजीके पूर्ण दिव्यत्वके दर्शन हुए होंगे। वह दर्शन केवल तभी हो सकता है जब कि किसीने पहलेसे ही गुह्य लोकोंका सूक्ष्म दर्शन प्राप्त करनेकी शक्ति विकसित कर रखी हो। अधिक महत्त्वकी बात यह है कि इस बातका स्पष्ट दर्शन या घनिष्ठ आन्तरिक अनुभव या प्रत्यक्ष बोध हो कि "यही वे हैं।" मैं समझता हूँ कि इन मामलोंमें तुम्हारा झुकाव बहुत अधिक काल्पनिक और काव्यमय होनेकी ओर है और आध्यात्मिक रूपसे यथार्थवादी होनेकी ओर बहुत कम।

बहुतसे लोगोंमें, जब वे साधना आरम्भ करते हैं तब, गुह्य दर्शनकी इस प्रकारकी शक्ति सबसे पहले विकसित होती है और दूसरोंमें यह शक्ति स्वभावतः ही उपस्थित रहती है अथवा योगकी किसी साधनाके बिना ही कभी-कभी आती है। परन्तु जो लोग मुख्यतः बुद्धिमें निवास करते हैं उनमें (कुछ लोगोंको छोड़कर) यह शक्ति साधारणतया स्वभावतः ही उपस्थित नहीं होती और उनमेंसे बहुतोंको उसे विकसित करनेमें बड़ी कठिनाई होती है। इस विषयमें मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ था।

इस दर्शनशक्तिके बिना चीजोंको देखना एक प्रकारका जादू ही होगा। हम लोग यहां इस प्रकारके जादूका बहुत अधिक कारबार नहीं करते।

२९-७-१९३५

श्रीमांके दिव्यत्वकी पहचान

कुछ लोग एकदम आरम्भ कर देते हैं और दूसरोंको समय लगता है।

'क्ष'ने पहली दृष्टिमें ही श्रीमाताजीको भगवतीके रूपमें पहचान लिया था और उसके बादसे बराबर ही वह प्रसन्न रहा है; दूसरे लोगोंको, जो श्रीमाताजीके भक्तोंमें ही शामिल हैं, इस बातका पता लगाने या इसे स्वीकार करनेमें वर्षों लग गये, पर वे सब उस स्थितिको प्राप्त हुए। कुछ लोग ऐसे भी हैं जिन्हें अपनी साधनाके पहले पांच, छः, सात या अधिक वर्षोंतक कठिनाइयों और विद्रोहोंके सिवा और कुछ नहीं मिला, फिर भी अन्तमें चैत्य पुरुष जग गया। समय लगनेकी बात गौण है; एकमात्र आवश्यक बात है वहां पहुँच जाना — फिर चाहे जल्दी हो या देरमें, आसानीसे हो या कठिनाईके साथ।

* * *

प्र०— बहुत बार मैं देखता हूँ कि पुराने संस्कार उठ खड़े होते हैं

और श्रीमां तथा उनकी दिव्यतामें मेरी श्रद्धाको विचलित कर देते हैं। इस स्थितिको कैसे रोका जा सकता है?

उ०— विश्वास स्थिर रूपसे तभी जम सकता है यदि तुम माताजीकी दिव्यताके दर्शन कर लो — यह आन्तरिक चेतना और दिव्यदर्शनका प्रश्न है।

५-६-१९३७

* * *

प्र०— मनको यह विश्वास कैसे दिलाया जाय कि श्रीमां दिव्य हैं और उनकी क्रियाएं मानवी नहीं?

उ०— यह इस प्रकार किया जा सकता है कि चैत्यको खोल दिया जाय और उसे मन तथा प्राणपर शासन करने दिया जाय — क्योंकि चैत्य को (श्रीमांकी दिव्यताका) ज्ञान है और वह उस चीजको भी देख सकता है जिसे मन नहीं देख सकता।

* * *

प्र०— ऐसा मालूम होता है कि मेरी सत्ताका जो बाहरी भाग माताजी को स्वीकार नहीं करता था वह अब उनके दिव्यत्वको पहचानने लगा है। पर जब मैं शरीरसे उनके सामने जाता हूँ तब मैं इसे क्यों भूल जाता हूँ?

उ०— अपनी अत्यन्त बाहरी क्रियामें भौतिक मन स्थूल वस्तुओंको केवल स्थूल रूपमें ही देखता है।

१५-८-१९३७

* * *

तुम्हारे अन्दरका यह संघर्ष (श्रीकृष्णकी भक्ति और माताजीके दिव्यत्वके बोधके बीचका संघर्ष) एकदम अनावश्यक है; क्योंकि ये दोनों चीजें एक हैं और पूर्ण रूपसे एक साथ चल सकती हैं। श्रीकृष्ण ही तुम्हें माताजीके पास ले

आये हैं और माताजीकी पूजा करके ही तुम उनको (श्रीकृष्णको) पा सकते हो। वह स्वयं इस आश्रममें हैं और यहां जो काम हो रहा है वह उन्हींका है।

१९३३

* * *

प्र०– 'क्ष' जैसे अच्छे भक्त और तेज विद्यार्थीको भी श्रीमाताजीको स्वीकार करना कठिन मालूम हो रहा है। मैं नहीं समझ पाता कि श्रीमां-सम्बन्धी सरल सत्यको वह क्यों नहीं देख सकता?

उ०– अगर श्रीमाताजीको स्वीकार करना उसके लिये कठिन है तो वह भला अच्छा भक्त कैसे हुआ और भक्त है तो किसका? तेज छात्र होना दूसरी बात है; हो सकता है कि कोई मेधावी छात्र तो हो पर आध्यात्मिक विषयोंमें एकदम अयोग्य हो। अगर कोई विष्णु या किसी अन्य देवताका भक्त हो तो वह अलग बात है — वह केवल अपनी पूजाके विषयको ही देख सकता है और इसलिये किसी अन्य वस्तुको स्वीकार करनेमें समर्थ नहीं होता।

१४-११-१९३४

* * *

प्र०– कुछ लोग उच्चतर लोकोंके क्रममें श्रीमाताजीकी स्थितिको समझनेमें एकदम पथभ्रष्ट-से प्रतीत होते हैं। जब वे इन लोकोंमें होते हैं या उनसे कोई चीज ग्रहण करते हैं तब वे ऐसा समझना आरम्भ कर देते हैं कि वे एक बड़ी ऊंचाई पर पहुँच गये हैं, और उच्चतर लोकोंका माताजीके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। विशेषकर अतिमानसके विषयमें उनकी ऐसी विचित्र धारणाएं हैं मानों वह श्रीमाताजीसे कहीं बड़ी कोई चीज हो।

उ०– अगर उन्हें श्रीमाताजीसे बड़ी अनुभूति या चेतना प्राप्त है तो उन्हें यहां नहीं रहना चाहिये और बाहर जाकर उसके द्वारा जगत्‌की रक्षा करनी चाहिये।

* * *

प्र०— क्या यह मनोभाव कि मैं ब्रह्म हूँ, पूर्णयोगमें आवश्यक नहीं?

उ०— सम्पूर्ण प्रकृतिका रूपान्तर करनेके लिये यह पर्याप्त नहीं। यदि पर्याप्त होता तो माताजीके यहां होनेकी आवश्यकता ही न होती। तब तो अपने विषयमें यह सोचने भरसे कि मैं ब्रह्म हूँ रूपान्तर साधित हो सकता। माताजी-की उपस्थिति या उनकी शक्तिकी कोई आवश्यकता न होती।

२७-१२-१९३५

* * *

माताजीका सत्यका प्रस्ताव

माताजी तुम्हारे लिये यह निश्चय नहीं कर सकतीं कि तुम्हें निर्विकल्प समाधि के मार्गका अनुसरण करना चाहिये या इस योगको स्वीकार करना चाहिये; वह तो केवल सत्यका प्रस्ताव तुम्हारे सामने रख सकती हैं और अगर तुम उसे स्वीकार करो तो वह उसकी ओर तुम्हें ले जा सकती हैं।

८-९-१९३३

माताजी और ज्ञानयोग

भला माताजी ज्ञानयोगको नापसन्द क्यों करें? आत्माका और विश्वपुरुषका साक्षात्कार (जिसके बिना आत्माका साक्षात्कार अधूरा रह जाता है) हमारे योगका आवश्यक अंग है; यह अन्य योगोंका अन्त है, पर यह वास्तवमें हमारे योगका आरम्भ है, अर्थात् यह वह स्थान है जहांसे इसकी विशिष्ट अनुभूति आरम्भ हो सकती है।

२६-३-१९३६

* * *

निश्चय ही, समाधि इस योगमें वर्जित नहीं। यह तथ्य कि माताजी सदैव इसमें जाया करती थीं इस बातका पर्याप्त प्रमाण है।

१०-६-१९३६

II

श्रीमाताजीके रूप और शक्तियां

श्रीमाताजीके रूप और शक्तियां

"माता" पुस्तकमें प्रयुक्त कुछ शब्दोंकी व्याख्या

1. मिथ्यात्व और अज्ञान

अज्ञानका अर्थ है अविद्या, पृथगात्मिका चेतना और उससे प्रवाहित होनेवाला अहंकारपूर्ण मन और प्राण तथा वह सब कुछ जो पृथगात्मिका चेतना और अहंकारपूर्ण मन तथा प्राणके लिये स्वाभाविक है। यह अज्ञान उस क्रियाका परिणाम है जिसके द्वारा विश्वव्यापी बुद्धि-शक्तिने अपने-आपको अतिमानस (भागवत विज्ञान) की ज्योतिसे पृथक् कर लिया और सत्यको — सत्ताके सत्यको, भागवत चेतनाके सत्यको, शक्ति और क्रियाके सत्यको, आनन्दके सत्यको —खो दिया। उसका फल यह हुआ है कि भागवत विज्ञानकी ज्योतिमें सृष्ट पूर्ण सत्य और दिव्य सामंजस्यके जगत्के स्थानपर हमने पाया है एक ऐसा जगत् जो एक निम्न कोटिकी विश्वव्यापी बुद्धि-शक्तिके आंशिक सत्योंपर प्रतिष्ठित है — उस बुद्धि-शक्तिके जिसमें सब कुछ अर्ध-सत्य, अर्धमिथ्या होता है। यही वह चीज है जिसे शंकर-जैसे कुछ प्राचीन दार्शनिकोंने, उसके पीछे विद्यमान महत्तर सत्यशक्ति (ऋत-चित्) को बिना देखे, 'माया' कह दिया और भगवान्की उच्चतम सर्जनात्मिका शक्ति मान लिया। इस सृष्टिकी चेतनाके अन्दर सब कुछ या तो सीमित होता है अथवा पूर्ण ज्योतिसे पृथक् होनेके कारण विकृत होता है; यहांतक कि जिस सत्यको वह चेतना देखती है वह केवल अर्द्ध-ज्ञान होता है। इसीलिये उसे कहा जाता है अज्ञान।

दूसरी ओर, मिथ्यात्व ठीक यह अविद्या ही नहीं, बल्कि उसका एक चरम परिणाम है। इसकी सृष्टि होती है एक आसुरिक शक्तिके द्वारा जो इस सृष्टिमें हस्तक्षेप करती है और जो केवल सत्यसे पृथक् ही नहीं हुई है और इस कारण ज्ञानमें सीमित और भ्रान्तिकी ओर उद्घाटित ही नहीं, बल्कि सत्यके विरुद्ध विद्रोह किये हुई है अथवा सत्यको केवल विकृत करनेके लिये ही उसे पकड़नेकी आदी है। यह शक्ति, यह काली आसुरिक शक्ति या राजसी माया अपनी निजी विकृत चेतनाको सच्चे ज्ञानके रूपमें और अपनी जान-बूझकर की हुई सत्यकी विकृतियों या उससे एकदम उलटी चीजोंको वस्तुओंके सत्यके रूपमें सामने रखती है। इसी विकृत और विकृतिकारिणी चेतनाकी शक्तियों और व्यक्ति-रूपोंको हम विरोधी सत्ताएं, विरोधी शक्तियां कहते हैं। जब कभी ये शक्तियां

अज्ञानके सत्त्वके द्वारा विकृतियोंकी सृष्टि करती और उन्हें वस्तुओंके सत्यके रूपमे सामने रखती हैं तब उन्हींको हम, यौगिक अर्थमें, 'मिथ्या', 'मोह' कहते हैं।

2. शक्तियां और आकृतियां

ये सब वे शक्तियां और सत्ताएं हैं जो अज्ञानके जगत्में अपने ही द्वारा उत्पन्न की हुई मिथ्या चीजोंको बनाये रखनेमें तथा उन्हें सत्यके रूपमें, जिसका अनुसरण मनुष्योंको करना ही होगा, सामने रखनेमें दिलचस्पी रखती हैं। भारतमें उन्हें कहा जाता है असुर, राक्षस, पिशाच (क्रमशः मनोमय प्राणलोक, मध्य-प्राणलोक और निम्न-प्राणलोककी सत्ताएं) जो ज्योतिकी शक्तियों, देवताओंके विरोधी होते हैं। ये हैं शक्तियां ही, क्योंकि इनका भी विश्वके अन्दर अपना क्षेत्र होता है जिसके अन्दर ये अपनी क्रिया और अधिकारका प्रयोग करती हैं और इनमेंसे कुछ एक समय दिव्य शक्तियां थी 'पूर्वे देवाः', जैसे कि महाभारतमें कहींपर इन्हें नाम दिया गया है।) जो विश्वब्रह्माण्डके पीछे विद्यमान भागवत संकल्प-शक्तिके विरुद्ध विद्रोह करनेके कारण अन्धकारमें गिर गई हैं। 'आकृतियां' शब्द उन रूपोंको सूचित करता है जिन्हें ये जगत्पर शासन करनेके लिये ग्रहण करती हैं और जो अधिकांशमें झूठे होते हैं और बराबर ही मिथ्यात्वको प्रकट करनेवाले तथा कभी-कभी झूठा दिव्यत्व लिये हुए होते हैं।

3. शक्तियां और व्यक्तित्व

'शक्ति' (Power) शब्दके व्यवहारकी बात समझायी जा चुकी है—जो कोई चीज या जो कोई व्यक्ति विश्व-क्षेत्रमें सचेतन रूपसे शक्तिका प्रयोग करे और जिसे संसारकी गतिके ऊपर या उसकी किसी विशिष्ट क्रियाके ऊपर अधिकार हो, उसके लिये इस शब्दका प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु जिन चार* की बात तुम कहते हो वे भी शक्तियां हैं, परम दिव्य चेतना और शक्तिकी, भगवती माताकी विभिन्न शक्तियोंकी अभिव्यक्तियां हैं, जिनके द्वारा वह विश्वपर शासन करती और यहां कार्य करती हैं। और फिर साथ ही वे दिव्य व्यक्ति-स्वरूप भी हैं, क्योंकि उनमेंसे प्रत्येक एक सत्ता है—जो परम देवके विभिन्न गुणोंको तथा व्यक्तिगत चैतन्य-रूपोंको अभिव्यक्त करती है। इस तरह सभी

*महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती।

बड़े-बड़े देवतागण भगवान्‌के व्यक्ति-स्वरूप हैं — एक ही चेतना बहुतसे व्यक्ति-रूपोंमें लीला करती है, 'एकं सत् बहुधा'। मनुष्योंके भीतर भी बहुत-से व्यक्ति-रूप होते हैं, केवल एक ही रूप नहीं होता, जैसा कि पहले लोग कल्पना किया करते थे। क्योंकि सभी चेतनाएं एक साथ ही 'एक' और 'बहु' दोनों हो सकती हैं। "शक्तियां और व्यक्ति-स्वरूप" एक ही सत्ताके विभिन्न रूपोंको सूचित करते हैं। यह जरूरी नहीं है कि शक्ति निर्व्यक्तिक ही हो और निश्चय ही वह तुम्हारे संकेतके अनुसार 'अव्यक्तम्' तो हर्गिज नहीं होती — उसके विपरीत, यह एक व्यक्त रूप है जो भागवत अभिव्यक्तिके जगतोंमें कार्य करता है।

4. अंश-विभूतियां

तुम्हारे पत्रमें वर्णित 'मातृकाएं' अंश-विभूतियों Emanations के साथ मिलती-जुलती हैं। श्रीमांकी अंशविभूति उनकी चेतना और शक्तिका कुछ अंश है जिसे वे अपने भीतर से प्रकट करती हैं और जो, जबतक कि वह लीलाके अन्दर है, उनके साथ घनिष्ठ रूपमें जुड़ा होता है और जब उसकी लीलाकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती तब अपने मूल उद्गमके अन्दर वापस खींच लिया जाता है, पर जो हमेशा प्रकट किया जा सकता है और लीलामें लाया जा सकता है। परन्तु सम्पर्कको बनाये रखनेवाला धागा काटा या खोला भी जा सकता है और जो चीज एक अंशविभूतिके रूपमें प्रकट हुई थी वह एक स्वतन्त्र दिव्य सत्ताके रूपमें अपने ढंगसे काम कर सकती है और जगत्‌में अपनी निजी लीला चरितार्थ कर सकती है। सभी देवता इस तरहकी अंशविभूतियां अपनी सत्तामेंसे उत्पन्न कर सकते हैं जो तत्त्वतः चेतना और शक्तिमें उनसे मिलती-जुलती हैं यद्यपि एकदम एकसमान नहीं होती। एक विशेष अर्थमें स्वयं विश्वको भी परात्पर भगवान्‌से पैदा हुई एक अंशविभूति कह सकते हैं। साधककी चेतनामें श्रीमांकी अंशविभूति साधारणतया वही रूप, आकार और स्वभाव ग्रहण करती है जिससे वह परिचित होता है।

एक अर्थमें श्रीमांकी चारों शक्तियां, अपने मूलस्रोतके कारण, उनकी अंश-विभूतियां कही जा सकती हैं, ठीक जैसे कि देवताओंको 'भगवान्' की अंश-विभूतियां कह सकते हैं। परन्तु उनका स्वभाव एवं स्वरूप देवताओंकी अपेक्षा अधिक स्थायी और सुनिश्चित होता है। वे एक साथ ही स्वतन्त्र सत्ताएं हैं जिन्हें आद्या-शक्तिने अपनी-अपनी लीला करनेकी छूट दे रखी है और साथ ही, माताजीके — महाशक्तिके अंश भी हैं। श्रीमां चाहें तो बराबर ही उनके द्वारा पृथक्-पृथक् सत्ताओंके रूपमें प्रकट हो सकती हैं अथवा उन्हें अपने ही विभिन्न

व्यक्तित्वोंके रूपमें एक साथ खींच सकती हैं और अपने अन्दर धारण कर सकती हैं। वे चाहें तो उन्हें पीछे हटाये रखें और चाहें तो लीला करने दें। यह उनकी इच्छा है। अतिमानस-स्तरपर वे श्रीमांके अंदर ही रहती हैं और स्वतन्त्र रूपमें कार्य नहीं करतीं बल्कि अतिमानसिक महाशक्तिके घनिष्ठ अंशोंके रूपमें कार्य करती हैं और एक दूसरेके साथ घना एकत्व और सामंजस्य बनाये रखती हैं।

5. देवता

ये चार शक्तियां श्रीमांकी वैश्व दिव्य-शक्तियां हैं जो जगत्-लीलामें स्थायी रूपसे रहती हैं; इनकी गणना उन महत्तर विश्व-देवताओंके अन्दर होती है जिनको लक्ष्य करके ही यह कहा गया है कि इस त्रिविध जगत्की महाशक्तिके रूपमें माताजी वहां (अधिमानस-लोकमें) "देवताओंसे ऊपर अधिष्ठान करती हैं।" देवतागण, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मूलतः और तत्त्वतः भगवान्-की स्थायी अंशविभूतियां हैं जिन्हें परात्परा माताने, आद्याशक्तिने परात्पर भगवान्के अन्दरसे उत्पन्न किया है; अपनी विश्वक्रियाओंमें वे भगवान्की शक्ति-यां और व्यक्तिस्वरूप हैं और उनमेंसे प्रत्येकका विश्वके अन्दर अपना स्वतन्त्र स्थान, स्वभाव और कर्म है। वे निर्व्यक्तिक — निराकार सत्ताएं नहीं हैं बल्कि वैश्व व्यक्ति हैं, यद्यपि साधारणतया वे निर्व्यक्तिक शक्तियोंकी क्रियाके पीछे अपनेको छिपा सकते हैं और छिपाते भी हैं। परन्तु एक ओर जहां अधिमानस-लोकमें और इस त्रिविध जगत्में वे स्वतन्त्र सत्ताओंके रूपमें दिखायी देते हैं वहां दूसरी ओर वे अतिमानस-लोकमें 'एकमेवाद्वितीयम्' के अन्दर वापस चले जाते हैं और वहां वे केवल एक सुसमंजस कार्यके अन्दर युक्त होकर एक ही 'व्यक्ति' के, दिव्य पुरुषोत्तमके बहुविध व्यक्तिस्वरूपोंके रूपमें विद्यमान रहते हैं।

6. उपस्थिति Presense

'उपस्थिति (Presence) प्रैजैंस), शब्दसे यह सूचित करना अभीष्ट है कि भगवान् का एक 'पुरुष'के रूपमें संवेदन एवं प्रत्यक्ष अनुभव होता है, यह अनुभव होता है कि वह 'पुरुष' व्यक्तिकी सत्ता एवं चेतनामें उपस्थित है या उसके साथ उसका सम्बन्ध है और उसकी कोई और विशेषता बतलाने या उसका वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं। इस प्रकार, "अनिर्वचनीय उपस्थिति"के विषयमें केवल यही कहा जा सकता है कि यह वहां है और इससे अधिक न कुछ कहा जा सकता है, न कहनेकी आवश्यकता है, यद्यपि इसके साथ ही व्यक्ति जानता

होता है कि सब कुछ वहां है, व्यक्तित्व और निर्व्यक्तिकता, शक्ति और ज्योति और आनन्द तथा और सब कुछ भी, और कि ये सभी उसी अवर्णनीय उपस्थिति से प्रवाहित होते हैं। यह शब्द कभी-कभी कम निरपेक्ष अर्थमें प्रयुक्त हो सकता है, पर मूल तात्पर्य सदा यही होता है,—अन्य प्रत्येक वस्तुको आश्रय देनेवाली सारभूत उपस्थितिका वास्तविक प्रत्यक्ष।

परात्परा मां

यही हैं जिन्हें आद्या शक्तिका नाम दिया गया है; ये विश्वातीत परम चेतना और शक्ति हैं और इन्हींसे सब देवता उत्पन्न हुए हैं, यहांतक कि अतिमानसिक ईश्वर भी — वह विज्ञानमय पुरुषोत्तम भी जिनकी शक्तियां और व्यक्ति-रूप देवतागण हैं — इन्हींके द्वारा अभिव्यक्तिमें आते हैं।

आद्या शक्ति

आद्या शक्ति मूल शक्ति है और इसलिये श्रीमांका सबसे ऊंचा रूप है। वे देखनेवालेके स्तरके अनुसार भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होती हैं।

२२-७-१९३३

भगवती माता

भगवती माता भगवान्‌की चित्-शक्ति हैं — जो समस्त वस्तुओंकी जननी है।

श्रीमां और ईश्वर

श्रीमां भगवान्‌की चेतना और शक्ति हैं — अथवा, यह कहा जा सकता है कि, वे चिच्छक्ति-रूपमें स्वयं भगवान् ही हैं। विश्वके स्वामीके रूपमें ईश्वर श्रीमां-के अन्दरसे प्रकट होते हैं और श्रीमां उनकी बगलमें विश्व-शक्तिके रूपमें अपना स्थान ग्रहण करती हैं — विराट् ईश्वर भगवान्‌का एक रूप हैं।

गीता, तन्त्र और पूर्णयोगमें भगवती माता

गीता स्पष्ट रूपमें भगवती माताकी बात नहीं कहती; वह बराबर ही पुरुषोत्तम को आत्मसमर्पण करनेके लिये कहती है—वह भगवती माताका जिक्र केवल परा प्रकृतिके रूपमें करती है जो जीव बनती है—'जीवभूता', अर्थात् जो भगवान्‌को 'बहु' के अन्दर अभिव्यक्त करती है और जिसकी सहायतासे परात्पर प्रभुने इन सब जगतोंकी सृष्टि की है तथा वे स्वयं अवतारके रूपमें उतरते हैं। गीता वैदान्तिक परम्पराका अनुसरण करती है जो पूरी तरहसे भगवान्‌के ईश्वर-स्वरूप पर जोर देती है और भगवती माताकी बात बहुत कम करती है, क्योंकि उसका उद्देश्य है जगत्-प्रकृतिसे पीछे हट जाना और उसके परे जाकर चरम उपलब्धि प्राप्त करना; तान्त्रिक परम्परा शक्ति या ईश्वरी-रूपपर अधिक जोर देती है और सबको भगवती मातापर ही निर्भर रहनेको बाध्य करती हैं, क्योंकि उसका उद्देश्य है विश्व-प्रकृतिको वशमें करना और उसपर शासन करना तथा उसीके द्वारा उपलब्धि प्राप्त करना। यह योग इन दोनोंपर जोर देता है; भगवती माताके प्रति आत्मसमर्पण करना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना इस योगका उद्देश्य ही सिद्ध नहीं हो सकता।

पुरुषोत्तमके सम्पर्कमें भगवती माता जगतोंसे ऊपरकी परात्परा दिव्य चेतना और शक्ति, आद्या शक्ति हैं; वह परात्परको अपने अन्दर धारण करती हैं और अक्षर और क्षरके द्वारा भगवान्‌को विभिन्न जगतोंमें अभिव्यक्त करती हैं। अक्षरके सम्पर्कमें वे वही परा शक्ति हैं जो समस्त सृष्टिके पीछे अपने अन्दर पुरुषको निष्क्रिय-निश्चल रूपमें धारण करती हैं और स्वयं भी उसके अन्दर स्थिर-निश्चल रहती हैं। क्षरके सम्पर्कमें वे सचल विश्व-शक्ति हैं जो सभी सत्ताओं और शक्तियोंको प्रकट करती हैं।

* * *

श्रीमांके विषयमें यह अनुभूति कि वे ही परात्पर तत्त्व हैं, एक तांत्रिक अनुभूति है—यह सत्यका एक पक्ष है।

* * *

प्र०— तान्त्रिक अपनी साधनामें शक्तिका आवाहन किया करते थे। क्या वह वही शक्ति और चेतना थी जो यहां माताजीमें है?

उ०– यह इसपर निर्भर करता है कि वे किस शक्तिका आवाहन करते थे — सामान्यतया वे श्रीमाताजीके किसी रूपको ही पुकारा करते थे।

जगज्जननी

ईश्वरी शक्ति, दिव्य चिच्छक्ति और जगज्जननी शाश्वत 'एक' और अभिव्यक्त 'बहु' के बीच मध्यस्था बन जाती हैं। एक ओर, जिन शक्तियोंको वे 'एक' के भीतरसे ले आती हैं उनके खेलके द्वारा वे विश्वके अन्दर बहुविध भगवान्‌को प्रकट करती हैं और अपने प्रकट करनेवाले पदार्थके भीतरसे उस 'बहु' के अनन्त रूपोंको भीतर गठित और बाहर विकसित करती है। दूसरी ओर, उन्हीं शक्तियोंकी पुनः-आरोहणकारी धाराके द्वारा वे सबको 'उस' की ओर वापस ले जाती हैं जिससे वे इसलिये उत्पन्न हुए हैं कि अन्तरात्मा अपनी विकसनशील अभिव्यक्तिके अन्दर अधिकाधिक या तो वहां विद्यमान भगवान्‌की ओर वापस जा सके अथवा यहां अपने दिव्य स्वभावको धारण कर सके। उनके अन्दर किसी निश्चेतन यन्त्रस्वरूप कार्यकारिणी शक्तिका स्वभाव नहीं है जिसे हम प्रकृतिके प्रथम बाह्य स्वरूप — प्रकृति-शक्तिके अन्दर पाते हैं, यद्यपि वह एक विश्व-व्यापी यंत्रकी रचना करती है; और न वहां असत्‌का भ्रम या अर्ध-भ्रमकी जननीका वह बोध है जो मायासम्बन्धी हमारे पहले दृष्टिकोणके साथ लगा रहता है। अनुभव करनेवाले जीवके सामने यह तुरत प्रकट हो जाता है कि यहां एक सचेतन शक्ति है जो सत्त्व और प्रकृतिमें उन परात्परके साथ एक है जिनसे कि वह उत्पन्न हुई थी। अगर हमें ऐसा मालूम होता है कि उसने हमें अज्ञान और निश्चेतनाके अन्दर डुबा दिया है और डुबा दिया है एक ऐसी योजनाका अनुसरण करनेके लिये जिसकी हम अभी कोई व्याख्या नहीं दे सकते, अगर उसकी शक्तियां विश्वकी इन सब अस्पष्ट शक्तियोंके रूपमें हमारे सामने प्रकट होती हैं, तो भी बहुत शीघ्र यह दिखायी पड़ जाता है कि वह हमारे अन्दर भागवत चेतनाका विकास करनेके लिये कार्य कर रही है और वह ऊपर खड़ी होकर हमें अपनी निजी उच्चतर सत्ताकी ओर खींच रही है, हमारे सामने अधिकाधिक भागवत ज्ञान, संकल्पशक्ति और आनन्दका सारतत्त्व प्रकट कर रही है। यहांतक कि अज्ञानकी क्रियाओंके अन्दर भी जिज्ञासुका अन्तरात्मा उसके उस सज्ञान पथप्रदर्शनके विषयमें सचेतन होता है जो उसके पगोंको सम्भालता है और उन्हें धीरे-धीरे या शीघ्रतासे, सीधे या बहुतेरे टेढ़े-मेढ़े रास्तोंसे अन्धकारसे बाहर निकालकर एक महत्तर चेतनाके प्रकाशमें, मृत्युसे बाहर निकाल-कर अमरतामें, अशुभ और दुःख-कष्टसे बाहर निकालकर उच्चतम शुभ और

आनन्दमें ले जाता है जिसके केवल एक क्षीण रूपकी ही कल्पना उसका मानव मन अभी कर सकता है। इस तरह उसकी शक्ति एक साथ ही मुक्तिदायिनी और क्रियाशील, सृष्टिक्षम, फलोत्पादिका होती है—केवल ऐसी चीजोंकी सृष्टि करनेमें समर्थ नहीं होती जैसी कि अभी हैं, बल्कि ऐसी चीजोंकी सृष्टि करनेमें भी समर्थ होती है जो होनेवाली हैं; क्योंकि अज्ञानके तत्त्वसे बनी हुई साधककी निम्नतर चेतनाकी ऐंठी और उलझी हुई क्रियाओंको दूर कर वह उसके अन्तरात्मा और प्रकृतिको एक उच्चतर दिव्य प्रकृतिके सत्त्व और शक्तियोंके द्वारा फिरसे गढ़ती और नया रूप देती है।*

श्रीमां और निम्न-प्रकृति

श्रीमांको निम्नतर प्रकृति और उसके शक्ति-समूहके साथ एक समझना भूल है। यहां प्रकृति केवल एक मशीन है जो विकसनशील अज्ञानकी क्रियाके लिये उत्पन्न की गयी है। जिस तरह अज्ञ मनोमय, प्राणमय या अन्नमय सत्ता स्वयं भगवान् नहीं है, यद्यपि वह आती भगवान्से ही है—वैसे ही प्रकृति-रूपी यन्त्र भगवती माता नहीं है। निस्सन्देह इस यन्त्रके अन्दर और पीछे भगवती माताका कुछ अंश वर्तमान है जो क्रमविकासको सिद्ध करनेके लिये इसे बनाये रखता है; पर स्वयं श्रीमां अविद्याकी शक्ति नहीं हैं, बल्कि भागवत चेतना, शक्ति, ज्योति हैं, परा प्रकृति हैं जिनकी ओर हम मुक्ति और दिव्य परिपूर्णताके लिये मुड़ते हैं।

अज्ञानकी विश्वव्यापी शक्ति और भगवती माता

इसमें इतना-सा सत्य है कि विश्वशक्ति प्रत्येक चीजको कार्यान्वित करती है और विश्वव्यापी आत्मा (विराट् पुरुष) उसके कार्यको धारण करता है। विश्वशक्ति एक ऐसी शक्ति है जो अज्ञानकी शर्तोंके अधीन कार्य करती है—यह निम्नतर प्रकृतिके रूपमें दीख पड़ती है और निम्नतर प्रकृति तुमसे गलत काम कराती है। भगवान् इन सब शक्तियोंका खेल तबतक होने देते हैं जबतक तुम स्वयं कोई और अच्छी चीज नहीं चाहते। पर तुम यदि साधक हो तो तुम निम्नतर प्रकृतिके खेलको स्वीकार नहीं करते, उसके बदले भगवती माताकी ओर मुड़ते हो, और निम्नतर प्रकृतिके बदले उनसे अपने द्वारा कार्य करनेके

*'योगसमन्वय' पुस्तकसे।

लिये कहते हो। जब तुम अपनी सत्ताके प्रत्येक भागमें पूर्ण रूपसे भगवती माताकी ओर और एकमात्र उन्हींकी ओर मुड़ जाते हो, केवल तभी भगवान् तुम्हारे द्वारा सभी कर्मोंको करते हैं।

सगुण और निर्गुण ईश्वर और श्रीमां

निर्गुण और सगुण केवल अलग-अलग रूप हैं जिन्हें भगवान् अभिव्यक्तिके अन्दर ग्रहण करते हैं। श्रीमां ही सगुण या निर्गुण ईश्वरको अभिव्यक्त करती हैं (सृष्टि और कुछ नहीं, केवल अभिव्यक्ति है)।

२८-६-१९३३

शान्त आत्मा, सक्रिय ब्रह्म और श्रीमां

वे अनुभूतियां बिलकुल ठीक थीं—परन्तु वे भागवत सत्यके केवल एक ही पक्षको दे रही हैं, उस पक्षको दे रही हैं जिसे मनुष्य उच्चतर मनके द्वारा प्राप्त करता है—दूसरा पक्ष भी है जिसे मनुष्य हृदयके द्वारा प्राप्त करता है। उच्चतर मनसे ऊपर ये दोनों सत्य एक हो जाते हैं। अगर कोई ऊपर शान्त आत्माको प्राप्त करे तो इसमें कोई खतरा नहीं है, परन्तु साथ ही उससे कोई रूपान्तर भी नहीं होता, केवल मोक्ष, निर्वाण प्राप्त होता है। अगर कोई विश्वात्माको — सशक्त और सक्रिय रूपमें — प्राप्त करे तो वह सबको आत्माके रूपमें, सबको स्वयं अपने रूपमें, उस आत्माको भगवान्‌के रूपमें अनुभव करता है इत्यादि। यह सब सत्य है; परन्तु खतरा इस बातका है कि वहां जो यह भाव है कि "सब कुछ स्वयं मैं हूँ" उसमें 'मैं' को कहीं अहंकार अपने चंगुलमें न ले ले। क्योंकि यह 'मैं-पन' मेरा व्यक्तिगत आत्मा नहीं है, बल्कि प्रत्येक व्यक्तिका आत्मा है और साथ ही मेरा भी है। ऐसे किसी खतरेसे छुट्टी पानेका उपाय यह है कि हम बराबर इस बातको याद रखें कि ये भगवान् 'माता' भी हैं, व्यक्तिगत 'मैं' उन मांकी संतान है जिनके साथ मैं एक हूँ, फिर भी उनसे भिन्न हूँ, उनका बालक, सेवक, यन्त्र हूँ। मैं कह चुका हूँ कि तुम्हें आत्माको विश्व-चेतनाके रूपमें अनुभव करना बन्द नहीं करना चाहिये, बल्कि उसके साथ-साथ यह याद रखना चाहिये कि सब कुछ श्रीमां ही हैं।

* * *

यह सम्भव है कि 'एकमेवाद्वितीय' में लयको प्राप्त होनेकी अनुभूतिसे आरम्भ करके मनुष्य ज्ञानकी ओर अग्रसर हो। पर शर्त्त यह है कि वह वहींपर रूक रुक न जाय, उसे ही उच्चतम सत्य न समझ बैठे, वल्कि उसी 'एक' को परात्परा मां — सनातन भगवान्‌की चिच्छक्तिके रूपमें उपलब्ध करनेके लिये आगे बढ़े। अगर दूसरी ओर, तुम परात्परा मांके द्वारा आगे बढ़ो तो वे तुम्हें निश्चल-नीरव 'एक' के अन्दर प्राप्त मुक्ति भी प्रदान करेंगी तथा साथ ही सक्रिय 'एक-मेवाद्वितीय' की अनुभूति भी देंगी। और फिर उस सत्यको प्राप्त करना आसान हो जायगा जिसमें वे दोनों एक और अविच्छेद्य हैं। उसके साथ-ही-साथ परात्पर भगवान् और उसकी अभिव्यक्तिके बीच जिस खाईको मन तैयार किये हुए है, वह भी पट जाती है और फिर उसके बाद सत्यके अन्दर कोई ऐसी दरार नहीं रह जाती जो हर चीजको दुर्बोध बना दे।

* * *

वास्तवमें भगवान् ही प्रभु हैं — आत्मा तो निष्क्रिय होता है, वह बराबर ही सब वस्तुओंको सहारा देनेवाला निश्चल-नीरव साक्षी होता है — वही स्थाणु, अचल भाव है। एक सक्रिय भाव भी है जिसके द्वारा भगवान् कार्य करते हैं — उसीके पीछे श्रीमां विद्यमान हैं। तुम्हें इस बातको आंखसे ओझल नहीं होने देना चाहिये कि श्रीमांके द्वारा ही सब चीजें प्राप्त होती हैं।

१-६-१६३३

* * *

तुम परम आत्माका साक्षात्कार प्राप्त करनेके लिये यत्न कर रहे हो — पर वह आत्मा यदि माताजीका आत्मा नहीं तो क्या है? और कोई आत्मा है ही नहीं।

२६-६-१६३४

* * *

परम आत्माके दो पक्ष हैं, निष्क्रिय और सक्रिय। पहलेके अनुसार वह शुद्ध नीरवता, विशालता और स्थिरता है, निष्क्रिय व्रह्म है, दूसरेके अनुसार वह है विराट् आत्मा, वैश्व न कि व्यक्तिगत। उसमें व्यक्ति माताजीके साथ सायुज्य

या एकत्व अनुभव कर सकता है। घनिष्ठता व्यक्तिगत भाव है, अतः वह चैत्य पुरुषका भाव है।

१८-१०-१९३४

माताजीकी विश्वगत और व्यक्तिगत उपस्थिति

माताजीके निराकार स्वरूपसे लोगोंका क्या अभिप्राय होता है?—साधारणतया उनका अभिप्राय उनके वैश्व रूपसे होता है। जब उनका यों अनुभव होता है कि वे एक ऐसी वैश्व सत्ता एवं शक्ति हैं जो सारे विश्वमें फैली हुई है और जिसमें तथा जिसके सहारे सभी रहते-सहते हैं तो वह उनका यही विश्वगत रूप होता है। जब कोई उस "उपस्थिति" को अनुभव करता है तो वह निःसीम वैश्व शान्ति, ज्योति, शक्ति और आनन्द अनुभव करने लगता है—यही है माताजीका 'स्वरूप'। इस स्वरूपका साक्षात्कार व्यक्तिको बारंबार तभी होता है जब वह सिरसे ऊपरकी चेतनामें आरोहण करता है जहां वह इस सीमाबद्ध देह-चेतनासे युक्त होकर अपने-आपको भी एक विशाल एवं स्थिर सत्ता अनुभव करता है, अपनेको सर्वभूतोंके साथ एकात्मा — शाश्वत शान्तिमें प्रतिष्ठित तथा आवेग एवं विक्षोभसे मुक्त अनुभव करता है। पर इसका अनुभव हृदयके द्वारा भी प्राप्त हो सकता है—तब हृदय भी अपनेको जगत्‌के समान विशाल, शुद्ध एवं आनन्दपूर्ण तथा माताजीकी उपस्थितिसे परिपूरित अनुभव करता है। हृदयमें माताजीकी व्यक्तिगत और व्यष्टिगत उपस्थिति भी है जो सीधे ही प्रेम और भक्ति पैदा करती है तथा अन्तरङ्ग घनिष्ठता एवं व्यक्तिगत एकताकी अनुभूति प्रदान करती है।

९-६-१९३५

भागवत शक्तिमें श्रद्धा हमारी सामर्थ्यके पीछे सदा ही रहनी चाहिये और जब शक्ति प्रकट हो जाय तो श्रद्धा असंदिग्ध और पूर्ण होनी या बन जानी चाहिये। ऐसी कोई चीज नहीं जो उसके लिये असम्भव हो क्योंकि वह एक चिन्मय शक्ति तथा विराट् भगवती है जो सनातन कालसे सबका सृजन करनेवाली जननी है तथा परमात्माकी सर्वशक्तिमत्तासे सुसम्पन्न है। सम्पूर्ण ज्ञान, समस्त शक्तियां, समस्त सफलता और विजय, समस्त कौशल और कर्म-कलाप उसीके हाथोंमें हैं और वह परम आत्माके ऐश्वर्यों तथा समस्त पूर्णताओं एवं सिद्धियोंसे परिपूर्ण है। वह महेश्वरी अर्थात् परम ज्ञान की देवी है, और सब प्रकारके सत्योंके लिये तथा सत्यके सभी विशाल रूपोंके लिये अपनी अन्तर्दृष्टि हमें

प्राप्त कराती है। हमारे अन्दर अपनी आध्यात्मिक संकल्प-सम्वन्धी यथार्थता, अपनी अतिमानसिक विशालताकी शान्ति और संवेगशीलता तथा अपना ज्योतिर्मय आनन्द लाती है; वह महाकाली अर्थात् परम शक्तिकी देवी है, और समस्त शक्तियां, आत्मवल, तपस्की उग्रतम कठोरता, संग्रामका वेग, विजय और अट्ट-हास्य उसीके अन्दर विद्यमान हैं, अट्टहास्य ऐसा जो कि पराजय और मृत्युको तथा अज्ञानकी शक्तियोंको तृणवत् समझता है: वह महालक्ष्मी है, परम प्रेम और आनन्दकी देवी है, और उसकी देनें हैं आत्माकी सुषमा, आनन्दकी मोहकता और सुन्दरता, अभयदान और प्रत्येक प्रकारका दैवी एवं मानवीय वरदान: वह महासरस्वती है, दिव्य कौशलकी तथा परम आत्माके सब कार्योंकी अधि-ष्ठात्री देवी है, और जिस योगको कर्म-कौशल, 'योग: कर्मसु कौशलम्,' कहा जाता है वह महासरस्वतीका ही है। इसी प्रकार दिव्य ज्ञानके नाना उपयोग, आत्माका अपने-आपको जीवनके क्षेत्रमें प्रयुक्त करना और उसकी समस्वरताओं-का आनन्द महासरस्वतीके ही गुण और कार्य हैं। अपनी सभी शक्तियों और अपने सभी रूपोंमें वह सनातन ईश्वरीके प्रभुत्वोंकी परमोच्च भावनाको अपने संग रखती है; साथ ही, किसी यन्त्रसे जिन कार्योंकी मांगकी जा सकती है उन सब प्रकारके कार्योंके लिये तीव्र और दिव्य सामर्थ्य, सर्वभूतोंकी सभी शक्तियोंके साथ एकता, सहानुभूति एवं सुख-दुःख-सहभागिता, मुक्त तदात्मता, और अतएव विश्वमें कार्य कर रहे समस्त दिव्य संकल्पके साथ स्वयंस्फूर्त एवं फलप्रद सामंजस्य—इन सव गुणोंको भी वह अपने संग रखती है। उसके सान्निध्य और उसकी शक्तियोंका घनिष्ठ अनुभव, और हमारे भीतर और चारों ओर उसकी जो क्रियाएं हो रही हैं उनके प्रति हमारी सम्पूर्ण सत्ताकी सन्तुष्ट स्वीकृति—यह भागवत शक्तिमें श्रद्धाकी चरम पूर्णता है। और उसके पीछे है ईश्वर; और उसमें विश्वास पूर्णयोगकी श्रद्धाका सबसे प्रधान अंग है। हमें अपने अन्दर यह श्रद्धा धारण और पूर्णतया विकसित करनी चाहिये कि यहांका सभी कुछ परम आत्मज्ञान और प्रज्ञाकी उन क्रियाओंका परिणाम है जो विश्वकी विराट् परिस्थितियोंमें घटित होती हैं, हमारे अन्दर या चारों ओर जो कुछ भी होता है उसमें ऐसा कुछ भी नहीं जो व्यर्थ हो या जिसका अपना नियत स्थान एवं समुचित अर्थ न हो, जब ईश्वर हमारे परमोच्च 'पुरुष' एवं आत्माके रूपमें हमारे कार्योंको अपने हाथमें ले लेते हैं तब सभी कुछ सम्भव हो जाता है और जो कुछ वे पहले कर चुके हैं तथा जो कुछ वे भविष्यमें करेंगे वह सब उनके निर्भ्रान्त एवं पूर्वदर्शी मार्गनिर्देशका अंग था और होगा, साथ ही वह हमारे योगकी सफलता, हमारी पूर्णता एवं हमारे जीवन-कार्यके लिये भी अभिप्रेत था और होगा। जैसे-जैसे उच्चतर

ज्ञानका द्वार खुलेगा, यह श्रद्धा अधिकाधिक सार्थक सिद्ध होती जायगी, जो बड़े एवं छोटे मर्म हमारे संकुचित मनकी दृष्टिसे परे थे उन्हें हम अब देखने लगेंगे और तब श्रद्धा ज्ञानमें परिणत हो जायगी। तब हम सन्देहकी जरा-सी भी सम्भावनाके बिना यह देखेंगे कि सभी कुछ एक ही संकल्पशक्तिकी क्रियाके अन्तर्गत घटित होता है और वह संकल्प-शक्ति प्रज्ञा भी है क्योंकि वह जीवनमें सदा ही आत्मा और प्रकृतिकी सच्ची क्रियाओंको विकसित करती है। जब हम ईश्वरकी उपस्थतिको अनुभव करेंगे और अपनी सम्पूर्ण सत्ता एवं चेतनाको एवं अपने समस्त चिन्तन, संकल्प और कर्मको उन्हींके हाथमें अनुभव करेंगे तथा सभी वस्तुओंमें एवं अपनी आत्मा और प्रकृतिके प्रत्येक करणके द्वारा परमात्माकी प्रत्यक्ष, अन्तर्यामी और प्रभुत्वशालिनी संकल्पशक्तिको अनुमति प्रदान करेंगे तब वह हमारी सत्ताकी स्वीकृति अर्थात् श्रद्धाकी पराकाष्ठा होगी। और श्रद्धाकी वह सर्वोच्च पूर्णता दिव्य शक्तिके लिये एक अवसर एवं पूर्ण आधार-का भी काम करेगी: पूर्णता प्राप्त कर लेनेपर वह ज्योतिर्मय अतिमानसिक शक्तिके विकास, आविर्भाव और कार्य-कलापका आधार बनेगी।*

* * *

प्र०– "माता (The Mother) पुस्तकमें आपने कहा है कि, "श्रीमां जो कुछ देखती एवं अनुभव करती हैं तथा अपनेमेंसे उंडेलती हैं उसके द्वारा" वे वैश्व महाशक्तिके रूपमें उस सबका निर्धारण करती हैं "जो इस ब्रह्माण्डमें तथा पार्थिव विकासमें घटित होगा। ऐसा करती हुई वे वहां देवगणके ऊपर स्थित हैं। उनकी सभी शक्तियां और विग्रह (व्यक्तित्व) इस कार्य के लिये उनके अन्दरसे बाहर निकल उनके सामने आ उपस्थित होते हैं और वे उनकी अंश-विभूतियोंको इन निम्नतर लोकोंमें भेजती हैं जिससे वे (अंश-विभूतियां) इनमें अन्तःक्षेप करके इनपर शासन करें, युद्ध करके विजय लाभ करें, इनके युगचक्रोंका परिचालन, आवर्तन एवं परि-वर्तन करें, इनकी शक्तियोंकी समष्टिगत और व्यष्टिगत कार्य-दिशाओंका निर्देशन करें।"* क्या इसका यह अर्थ है कि विश्व-युद्ध या बोल्शेविक क्रान्ति या सत्याग्रह-आन्दोलन आदि किसी

*योग-समन्वय (शताब्दी-संस्करण, १९७२) पृ० ९०४-०६।

रूपमें माताजीके द्वारा आयोजित एवं निर्धारित किये गये थे?

उ०— वे घटनाएं विश्व-योजनाके अन्तर्गत ही हैं और अतएव वैश्व महाशक्ति के द्वारा आयोजित की गई थीं और प्रकृतिकी शक्तिके आवेगके अधीन लोगोंके द्वारा क्रियान्वित की गईं थीं।

१-६-१९३३

* * *

माताजीकी प्रेम और आनन्दकी अतिमानसिक शक्ति

प्र०— 'चंडी' पुस्तकमें अन्य शक्तियोंके साथ-साथ श्रीमांकी चार विश्व-शक्तियोंके नाम — महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महा-सरस्वती — तो वर्णित हैं पर 'राधा' का नाम नहीं दिया गया है। यह इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि जब 'चंडी' की रचना हुई थी तब ऋषियोंकी दृष्टिके सामने राधा-शक्ति नहीं प्रकाशित हुई थीं और 'चंडी' में केवल श्रीमांकी विश्व-शक्तियोंका ही वर्णन आया है, उनकी अतिमानसिक शक्तियोंका वहां उल्लेख नहीं है। अपनी पुस्तक 'दि मदर' (The Mother) में श्रीमांकी चार शक्तियोंका वर्णन करनेके बाद आपने कहा कि, "मां भगवतीके और भी कई महान् व्यक्तित्व हैं, पर उनका अवतरण कराना अधिक कठिन रहा और भूपुरुषके क्रमविकासमें वे उतनी स्पष्टताके साथ सामने आये भी नहीं हैं। उनमें अवश्य ही कुछ व्यक्तित्व ऐसे हैं जो विज्ञान-सिद्धिके लिये अनिवार्य रूपसे आवश्यक हैं — सबसे अधिक आवश्यक वह है जो माताके परम भागवत प्रेमसे प्रवाहित होनेवाले रहस्यमय परम उल्लासमय आनन्दकी मूर्त्ति है, यह वह आनन्द है जो विज्ञान-चैतन्यके उच्चतम शिखर और जड़ प्रकृतिके निम्नतम गह्वरके बीचका महान् अन्तर मिटाकर दोनोंको मिला सकता है, अनुपम परम दिव्य जीवनकी कुंजी इसी आनन्दके पल्ले है और अब भी यही आनन्द अपने गुप्त धामसे विश्वकी अन्य सभी महाशक्तियोंके कार्यका सहारा बना हुआ है।" इस उद्धरणमें जिस मूर्त्तिकी बात कही गयी है क्या वह 'राधाशक्ति' नहीं है जिसे प्रेममयी राधा, महाप्राण-शक्ति और ह्लादिनी शक्ति भी कहा गया है?

उ०— हां; परन्तु राधा-कृष्ण-लीलाके प्रतीक प्राणमय जगत्से लिये गये हैं और इस कारण वहां जिस शक्तिका वर्णन किया गया है वह राधा-शक्ति केवल एक आन्तर प्रकाश है। यही कारण है कि उसे महाप्राण-शक्ति और ह्लादिनी शक्ति कहा गया है। यहां (ऊपर उद्धरणमें) जिस शक्तिकी बात कही गयी है वह यह आन्तरिक रूप नहीं है बल्कि वह तो ऊपरके प्रेम और आनन्दकी पूर्ण शक्ति है।

७-२-१६३४

सभी स्तरोंमें श्रीमांकी शक्तियां

प्र०— क्या महेश्वरी संबोधि और अधिमानस स्तरकी देवी हैं?

उ०— अधिमानससे लेकर भौतिक तकके सभी स्तरोंमें ये शक्तियां प्रकट हो सकती हैं।

२५-८-१६३३

माताजीकी शक्तियोंके अनेक रूप

जहांतक देवताओंका प्रश्न है, मनुष्य उनके ऐसे रूप रच सकता है जिन्हें वे स्वीकार करेंगे, पर इन रूपोंकी अन्तःप्रेरणा भी मनुष्यके मनके अन्दर उन्हीं स्तरोंसे आती है जिनसे वे देवता सम्बन्ध रखते हैं। समस्त सृष्टिके दो पक्ष हैं, साकार और निराकार,—देवता भी निराकार हैं, तथापि उनके आकार भी हैं, पर एक ही देवता अनेक रूप ग्रहण कर सकता है, यहां महेश्वरीका, वहां पालस एथिनीका। स्वयं महेश्वरीके, अपनी निम्नतर अभिव्यक्तिमें अनेक रूप हैं, दुर्गा, उमा, पार्वती, चण्डी इत्यादि। देवता मानवीय रूपोंकी सीमामें आबद्ध नहीं—मनुष्यने भी उनके दर्शन सदा मानवीय रूपोंमें ही नहीं किये।

कृष्ण-महाकाली

अपनी वैश्व शक्तिमें माताजी सभी वस्तुएं तथा सभी दिव्य व्यक्तित्व हैं, क्योंकि उनके बिना तथा उनकी सत्ताका एक अङ्ग-रूप हुए बिना कोई भी वस्तु अभि-व्यक्त रूपमें नहीं आ सकती। परन्तु (Visions and Voices) (विजन्स ऐण्ड

वॉयसिज*) में जो कुछ कहा गया है उसका अभिप्राय यह था कि ईश्वर और भगवती शक्ति एक ही 'व्यक्ति' या पुरुषके दो पक्ष हैं और कृष्ण-महाकालीके रूपमें उनके इस दिव्यदर्शनको इस पुस्तकमें इस रूपमें प्रस्तुत किया गया है कि यह अभिव्यक्तिके लिये एक महाशक्ति है।

२०-१०-१९३६

दुर्गा

दुर्गा अपने अन्दर महेश्वरी और महाकालीके गुणधर्मोंको कुछ अंशमें संयुक्त किये हुई हैं,—महालक्ष्मीके साथ उसका कोई अधिक सम्बन्ध नहीं। कृष्ण और महाकालीका संयोग एक ऐसा संयोग है जिसका इस योगमें महान् शक्तिशाली प्रभाव होता है और यदि ये नाम तुम्हारी चेतनामें एक साथ उठते हैं तो यह अच्छा लक्षण है।

२१-३-१९३८

* * *

दुर्गा श्रीमांकी संरक्षण-शक्ति हैं।

१५-४-१९३३

* * *

दुर्गा-अधिष्ठित सिंह दिव्यीकृत भौतिक-प्राणिक और प्राणिक-भौतिक शक्तिके द्वारा कार्य कर रही भागवत चेतनाका प्रतीक होता है।

* * *

सिंह देवी दुर्गाका, जगदम्बाके विजयशील और रक्षाकारी पक्षका सूचक लक्षण है।

मृत्युका सिर भगवती शक्ति द्वारा पराजित और निहत असुरका (देवताओंके शत्रुका) प्रतीक है।

*एक साधकको लिखी पुस्तक।

महाकाली और काली

महाकाली और काली एक ही नहीं। काली एक अवर (निम्न कोटिका) रूप है। उच्चतर भूमिकाओंमें महाकाली सामान्यतया सुनहरे रंगमें प्रकट होती हैं।

यह काली, श्यामा इत्यादि साधारण रूप हैं जो प्राणके द्वारा दिखायी देते हैं; महाकालीका सच्चा रूप, जिसका मूल अधिमानस-लोकमें है, काला या धूमिल या भयानक नहीं है बल्कि सुनहले रंगका है और असुरोंके लिये भीषण होनेपर भी सौन्दर्यसे भरपूर है।

१०-२-१९३४

* * *

प्र०— आज प्रार्थना करते समय मुझे काली माताकी मूर्त्ति दिखाई दी। वह काले रंगकी और नग्न थी और शिवकी पीठपर पैर रखे खड़ी थी — जैसा परम्परागत रूपसे उसका वर्णन किया जाता है। काली इस रूपमें क्यों दिखायी देती हैं और किस स्तरपर वे ऐसी दिखाई देती हैं?

उ०— ऐसी वे प्राणके स्तरपर दिखाई देती हैं। यह है विनाशकारी शक्तिके रूपमें काली — यह उस अज्ञानगत प्रकृति-शक्तिका प्रतीक है जो कठिनाइयोंसे घिरी होती है, उनसे पार होनेके लिये अन्ध संघर्षमें प्रत्येक वस्तुको तोड़ती-मरोड़ती चली जाती है जबतक कि वह अपनेको स्वयं भगवान्‌पर ही पैर रखे खड़ी नहीं पाती — तब वह अपने-आपेमें आ जाती है और संघर्ष एवं विनाश समाप्त हो जाते हैं। यही है इस प्रतीकका अर्थ।

९-२-१९३४

माताजीकी महाकाली-शक्तिका कार्य

प्र०— "माता" पुस्तकके पृष्ठ ५०पर माताजीकी महाकाली-शक्तिके बारेमें कहा गया है कि "उनकी भुजाएं मारने और तारनेको आगे बढ़ी रहती हैं।" यहांपर "मारने" का तात्पर्य क्या है?

उ०— यह संसारमें होनेवाली उनकी साधारण क्रियाको प्रकट करता है। वे

असुरोंपर प्रहार करती हैं, वे ऐसी प्रत्येक चीजपर प्रहार करती हैं जिससे पिंड छुड़ाना है या जिसे नष्ट करना है, साधनाकी बाधाओं आदिपर भी प्रहार करती हैं। मैं कह सकता हूँ कि माताजी कभी महाकाली-शक्ति या महाकालीका दबाव तुमपर प्रयुक्त नहीं करतीं।

५-६-१९३६

* * *

प्र०— माताजीके महाकली-रूपके विषयमें 'माता' पुस्तकमें कहा गया है, "जब उन्हें अपनी पूरी सामर्थ्यके साथ कहीं भी दखल देनेका अवसर मिलता है तब वे सब बाधाएं जो साधकको पंगु बना देती हैं एक क्षणमें निःसार पदार्थोंके समान नष्ट हो जाती हैं और वे सब शत्रु भी मृतप्राय हो जाते हैं जो साधकपर आक्रमण किया करते हैं।" महाकाली-शक्तिके इस हस्तक्षेपका अनुभव किस रूपमें होता है?

उ०— यह मानो किसी क्षिप्र, आकस्मिक, सुनिश्चित और अनिवार्य वस्तुके रूपमें अनुभूत होता है। जब यह हस्तक्षेप करता है तब इसके पीछे एक प्रकार-की भागवत या अतिमानसिक स्वीकृति होती है और यह एक अन्तिम आज्ञाके जैसा होता है जिसके विरुद्ध कोई अपील नहीं चलती। जो कुछ किया जा चुका है वह न तो उलटा जा सकता है न मिटाया जा सकता है। विरोधी शक्तियां कोशिश कर सकती हैं, यहांतक कि छू सकती या चढ़ाई कर सकती हैं, पर घबड़ाकर लौट जाती हैं और, ज्योंही वे पीछे हटती हैं, पुराना मैदान जैसा-का-तैसा सुरक्षित दिखाई पड़ता है — आक्रमणके समय भी यह अनुभव रहता है। वे कठिनाइयां भी जो इससे पहले प्रबल थीं, इस निर्णयके छू देनेसे अपनी शक्ति खो बैठती हैं, उनकी सम्भावना नष्ट हो जाती है अथवा वे दुर्बल छाया-सी रह जाती हैं जो केवल टिमटिमाने और बुझ जानेके लिये ही आती है। मैंने ऊपर 'अवसर मिलने' की बात कही है, क्योंकि महाकालीकी यह चरम क्रिया अपेक्षाकृत बहुत कम होती है, अन्य शक्तियोंकी क्रिया या महा-कालीकी आंशिक क्रिया ही अधिक होती है।

२४-८-१९३३

मित्र*

हां, मित्र वास्तवमें दो शक्तियों [महालक्ष्मी और महासरस्वती] का संयोग है।

महासरस्वतीका स्पर्श

प्र०— वह कौन-सी प्रज्ञा है जो मानव-मस्तिष्कमें अधिक गहरे कंर्णक (Gyri वलयन), हृदयके प्रकोष्ठोंमें सर्वथा निर्दोष पट तथा रचनाकी ऐसी अन्य सूक्ष्मताएं लाई? क्या यह महासरस्वतीका कार्य है?

उ०— हां — सूक्ष्मांशकी जटिलताकी समस्त पूर्णता महासरस्वतीके स्पर्शकी द्योतक है।

१९-९-१९३३

साधनाकी वर्तमान गतिविधि

प्र०— क्या यह सच है कि यहां हमारी साधनामें अधिकतर श्रीमांका महासरस्वती-रूप ही कार्य करता है?

उ०— हां, इस समय, जबसे साधना भौतिक चेतनाके स्तरपर उतरी है तबसे —या, यों कहना अधिक ठीक होगा कि यह महेश्वरी-महासरस्वतीकी शक्तियों-का संयोग है।

२५-८-१९३३

श्रीमांकी विभूतियां

प्र०— ईश्वरकी विभूतियों और श्रीमांकी विभूतियोंके बीच अभि-व्यक्तिके रूप या अनुभवकी दृष्टिसे क्या अन्तर है?

उ०— साधारणतया श्रीमांकी विभूतियां नारीरूप होंगी और उनमेंसे अधिकांश

*एक वैदिक देवता।

श्रीमांके चार व्यक्तिरूपोंमें किसी एकके द्वारा अधिकृत होंगी। दूसरे, जिनका जिक्र तुमने किया है, (ईसा, बुद्ध, चैतन्य, नेपोलियन, सीजर आदि) ईश्वरके व्यक्ति-रूप और शक्तियां होंगे, पर सबकी तरह उनमें भी, श्रीमांकी शक्ति कार्य करेगी। सारी सृष्टि और रूपान्तर माताजीका ही काम है।

२६-१०-१६३५

* * *

प्र०— जब समस्त सृष्टि-कार्य उनका है तब क्या हम यह मान सकते हैं कि श्रीमांके व्यक्ति-रूप ही पर्देके पीछेसे अवतार या विभूतियोंके अवतरणके लिये उपयुक्त अवस्थाओंको तैयार करते हैं?

उ०— अगर तुम्हारा मतलब श्रीमांके दिव्य व्यक्ति-रूपोंसे हो तो उत्तर है "हां"। फिर यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक विभूति अपनी शक्ति इन चार शक्तियोंसे और अधिकतर उनमेंसे किसी एकसे मुख्य रूपमें लेती है, जैसे नेपोलियन महाकालीसे, राम महालक्ष्मीसे, आगस्टस सीजर महासरस्वतीसे शक्ति पाते थे।

३१-१०-१६३५

चित-शक्ति, जीवात्मा, अन्तरात्मा और अहम्

चित्-शक्ति या भागवत चेतना स्वयं श्रीमां हैं—जीवात्मा उनका एक अंश है, चैत्य या अन्तरात्मा उनकी एक चिनगारी है। अहम् चैत्य या जीवात्माका एक विकृत प्रतिबिम्ब है। अगर तुम्हारे कहनेका मतलब यही हो तो यह ठीक है।

अन्तरात्मा और भगवती माता

पृथ्वीपर के प्रत्येक अन्तरात्माके विषयमें यह बात सत्य है कि वह भगवती माताका अंश है जो अज्ञानकी अनुभूतियोंमेंसे गुजर रहा है जिसमें कि वह अपनी सत्ताके सत्यको प्राप्त करे और यहां एक दिव्य अभिव्यक्ति और कर्मका यन्त्र बने।

परात्परा मां – एक मन्त्र*

ॐ आनन्दमयि चैतन्यमयि सत्यमयि परमे

OM anandamayi chaitanyamayi
satyamayi parame

Sri Aurobindo

*इस मन्त्रके अंगरेजी लिप्यन्तरमें अन्तिम दो शब्द श्रीमाताजीने जोड़े हैं क्योंकि वे श्रीअरविन्दने अपनी मूल लिपिमें नहीं लिखे थे।

III

श्रीमाताजीकी ज्योतियां
तथा
दिव्य-दर्शन

श्रीमाताजीकी ज्योतियां तथा दिव्य-दर्शन

श्रीमांकी ज्योतियां

सभी ज्योतियोंको श्रीमां स्वयं अपने अन्दरसे प्रकट करती हैं।

ज्योतिके अलग-अलग रूप

ज्योति एक साधारण शब्द है। ज्योति ज्ञान नहीं है, बल्कि वह एक आलोक है जो ऊपरसे आता है और सत्ताको सब प्रकारके अन्धकारसे मुक्त करता है।

पर यह ज्योति नाना प्रकारके रूप भी ग्रहण करती है; जैसे, श्रीमांकी सफेद ज्योति, श्रीअरविन्दकी हलकी नीली ज्योति, सत्यकी सुनहली ज्योति, चैत्य ज्योति (लाल और गुलाबी) इत्यादि।

१३-१०-१९३४

श्रीमांकी सफेद ज्योति

ज्योतियां श्रीमांकी शक्तियां हैं और संख्यामें बहुत-सी हैं। सफेद ज्योति उनकी अपनी विशेष शक्ति है, मूल रूपमें स्वयं भागवत चेतनाकी शक्ति है।

१५-७-१९३४

* * *

सफेद ज्योति श्रीमांकी ज्योति है और यह हमेशा उनके चारों ओर बनी रहती है।

२२-८-१९३३

* * *

हलकी नीली ज्योति मेरी है और सफेद ज्योति श्रीमाताजीकी है (यह कभी-कभी सुनहली भी होती है)। साधारणतया लोग श्रीमांके चारों ओर सफेद

या सफेद हलकी नीली ज्योति देखते हैं।

४-६-१९३३

***

सफेद ज्योति श्रीमांकी ज्योति है। जहां कहीं वह उतरती है या प्रवेश करती है वहीं वह शान्ति, पवित्रता, निश्चल-नीरवता ले आती है और उच्चतर शक्तियोंके प्रति उद्‌घाटित करती है। अगर वह नाभि-केन्द्र के नीचे आती है तो उसका यह अर्थ होता है कि वह निम्नतर प्राणमें कार्य कर रही है।

३१-७-१९३४

***

महत्त्वपूर्ण अनुभव है हृदयमें श्वेत किरणका अनुभव — क्योंकि वह श्रीमांकी ज्योति, सफेद ज्योतिकी किरण है, और उस ज्योतिके द्वारा हृदयका आलोकित हो जाना इस साधनाके लिये एक बहुत शक्तिशाली चीज है। वह साधिका जो अन्तर्ज्ञानकी बात कहती है वह इस बातका द्योतक है कि उसके अन्दर आन्तर चेतना बढ़ रही है — वह चेतना बढ़ रही है जो योगके लिये आवश्यक है।

२८-७-१९३७

***

यह (श्रीमांकी ज्योति) बराबर ही आन्तर पुरुषके अन्दर विद्यमान रहती है।

***

उसका अर्थ है प्राणके अन्दर दिव्य चेतनांकी ज्योति (श्रीमांकी चेतना, सफेद ज्योति)। नीला रंग उच्चतर मनका है और सुनहला भागवत सत्य है। अतएव इसका मतलब है वह प्राण जिसमें उच्चतर मन और भागवत सत्यकी ज्योति है और जो श्रीमांकी ज्योति छिटका रहा है।

***

जो कुछ तुमने सूक्ष्म दर्शनके रूपमें देखा था वह श्रीमांका अतिभौतिक शरीर था जो सम्भवत: उनकी सफेद ज्योतिसे बना था। वह ज्योति भागवत चेतना और शक्तिकी ज्योति है जो विश्वके परे विद्यमान है।

३०-१-१९३५

***

प्र०— आज प्रणाम-गृहमें ध्यान करते समय मैंने सूक्ष्म दृष्टिसे एक पर्वतश्रेणी देखी जिससे सफेद ज्योति निकल रही थी। इसका तात्पर्य क्या है? किस लोकका यह स्वप्न है?

उ०— मानसिक लोकका। पर्वत निम्न स्तरसे उच्च स्तरमें आरोहण सूचित करता है। सफेद ज्योति श्रीमांकी ज्योति है, उच्चतर स्तरोंसे उतरनेवाली भागवत चेतनाकी ज्योति है।

७-८-१९३३

***

यह (सफेद कमल) श्रीमाताजीका, भागवत चेतनाका फूल है।

१५-४-१९३३

***

प्र०— आज श्रीमाताजीने जैसे ही प्रणाम-गृहमें आसन ग्रहण किया वैसे ही मैंने देखा कि उनके दायें और बायें दोनों ओर सफेद ज्योति चमक रही है। क्या मेरे इसे देखनेका कोई विशेष कारण था?

उ०— नहीं; श्रीमाताजीके चारों ओर हमेशा ही सफेद ज्योति देखी जा सकती है; क्योंकि यह उन्हींकी ज्योति है और हमेशा उनके साथ रहती है।

८-८-१९३३

***

प्र०— कल शाम जब श्रीमां छतपर टहल रही थीं तव मुझे उनके शरीरपर एक ज्योति दिखाई दी। वह क्या थी ?

उ०— बहुत-से लोग श्रीमांके चारों ओर प्रकाश देखते हैं। वह प्रकाश वहां सदा ही रहता है।

२६-७-१९३३

श्रीमाताजीका ज्योतिमण्डल

लोग श्रीमांके चारों ओर जो कुछ देखते हैं वह पहले तो उनका ज्योतिर्मंडल होता है, जैसा कि उसे आजकलकी भाषामें नाम दिया गया है, और दूसरे, वे सब ज्योतिकी शक्तियां होती हैं जो उनके ध्यान करनेके समय उनसे बाहर निकलती हैं, उदाहरणार्थ छतके ऊपर, जहां वह हमेशा ही ध्यान किया करती हैं। (प्रत्येक मनुष्यका एक ज्योतिर्मंडल होता है—पर अधिकांश लोगोंमें वह दुर्बल होता है और बहुत अधिक प्रकाशयुक्त नहीं होता, श्रीमांके ज्योतिर्मंडल ज्योतियों और शक्तियोंकी पूरी लीला होती है)। लोग उसे साधारणतया नहीं देखते, क्योंकि वह एक सूक्ष्म-भौतिक चीज है, कोई स्थूल जड़ व्यापार नहीं है। लोग उसे केवल दो अवस्थाओंमें देख सकते हैं— एक तो, अगर वे पर्याप्त रूपमें सूक्ष्म दृष्टि विकसित करें, या फिर स्वयं ज्योतिर्मंडल ही इतना सुदृढ़ होना आरम्भ कर दे कि वह उसे ढक रखनेवाले स्थूल जड़-तत्त्वके कोषपर भी प्रभाव डाल सके। निश्चय ही माताजी उसे लोगोंको दिखानेका कोई विचार नहीं रखतीं—अपने-आप ही, एकके बाद एक, आश्रमके करीब २० या ३० आदमियोंने शायद उसे देखा है। निस्सन्देह यह इस बातका द्योतक है कि उच्चतर शक्ति (चाहे उसे अतिमानसिक कहो या न कहो) ने जड़-तत्त्वपर प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया है।

१५-११-१९३३

* * *

यदि श्रीमाताजीकी ज्योतिको देखना एक गलत बात हो या मन या प्राणकी एक रचना हो तो भगवान्‌की उपलब्धि तथा सभी आध्यात्मिक अनुभूतियोंपर मानसिक या प्राणिक रचना या भूल होनेका सन्देह किया जा सकता है और

इस तरह सारा योग ही असम्भव हो जाता है।

६-६-१९३३

श्रीमांकी हीरक-ज्योति

(क) इस (हीरेकी जैसी ज्योति) का अर्थ है श्रीमांकी मूल शक्ति।

(ख) हीरक-ज्योति भागवत चेतनाके हृदयसे निकलती है और जहां जाती है वहां भागवत चेतनाकी ओर उद्‌घाटन ले आती है।

(ग) श्रीमाताजीके हीरक-ज्योतिके साथ उतरनेका अर्थ है तुम्हारे अन्दर होनेवाली क्रियाको परात्परा शक्तिका अनुमोदन प्राप्त होना।

(घ) श्रीमांकी हीरक-ज्योति पूर्ण पवित्रता और शक्ति-सामर्थ्यकी ज्योति है।

(ङ) हीरक-ज्योति भगवान्‌की केन्द्रीय चेतना और शक्ति है।

* * *

हीरा श्रीमांकी ज्योति और क्रियाशक्तिका सूचक है—हीरेकी जैसी ज्योति अपने खूब घने रूपमें उनकी चेतनाकी ज्योति है।

१३-११-१९३६

श्रीमांके महाकाली-रूपकी सुनहली ज्योति

श्रीमांकी ज्योति सफेद होती है—विशेषकर हीरे-जैसी सफेद। महाकालीका रूप साधारणतया सुनहला होता है, खूब उज्ज्वल और तीव्र सुनहला।

१२-१०-१९३५

* * *

सुनहली ज्योति भागवत सत्यकी ज्योति है जो साधारण मनसे ऊपरके उच्चतर लोकोंमें दिखायी देती है—यह मूलतः अतिमानसिक ज्योति है। यह मनसे ऊपर दिखायी देनेवाली महाकालीकी भी ज्योति है। सफेद ज्योतिकी तरह

सुनहली ज्योति भी प्रायः ही माताजीसे निकलती हुई दिखायी देती है।

१७-६-१६३३

* * *

प्र०— मैंने सुना है कि कालीका रंग काला है और उनके चार हाथ हैं। परन्तु मैंने अपने अन्तर्दर्शनमें उनके केवल दो ही हाथ देखे और उनका रंग तेज सफेद था। मैंने उन्हें ऐसा क्यों देखा?

उ०— प्राणमय लोकमें होनेवाली महाकालीकी एक अभिव्यक्तिका रूप काला होता है—परन्तु अधिमानस-लोकमें स्वयं महाकाली सुनहली हैं। जिसे तुमने देखा था वह अपने ज्योतिर्मय शरीरमें महाकाली-शक्तिको लिये हुई स्वयं श्रीमाताजी थीं, वह ठीक महाकालीका रूप नहीं था।

२६-६-१६३३

* * *

यह पीले रंगकी आभापर निर्भर करता है। यदि वह सुनहरा सफेद है तो वह मनसे ऊपरके स्तरसे आता है और रंगोंका यह संयोग महेश्वरी-महाकालीकी शक्तिका सूचक है। उच्चतर मनका रंग फीका नीला है।

२१-३-१६३८

* * *

सुनहली ज्योतिकी रेखा उच्चतर भागवत सत्यकी ज्योतिकी रेखा है जो हृदयाकाशमें चारों ओर छा रही थी। हीरक-पुञ्ज श्रीमांकी ज्योति है जो उस आकाशमें बरस रही थी। अतएव यह इस बातका चिह्न है कि हृदय-केन्द्रमें (चैत्य और भावके केन्द्रमें) उन शक्तियोंकी क्रिया हो रही है।

१७-१२-१६३६

श्रीमांके कुछ सूक्ष्म दर्शन तथा अनुभव

प्र०— कल शामको जब श्रीमाताजी दर्शन देनेके लिये नीचे उतरीं

तब मैंने उनके चेहरेपर प्रातःकालके सूर्यकी तरह लाल रंगकी ज्योति-को चमकते हुए देखा। लाल रंगकी ज्योतिका क्या अर्थ है?

उ०— लाल रंग भौतिक वातावरणमें प्रेमकी अभिव्यक्तिको सूचित करता है।

५-६-१९३३

* * *

प्र०— आज प्रणाम-गृहमें श्रीमाताजीके आनेसे पहले ध्यान करते समय मैंने देखा कि श्रीमाताजी एक बहुत ऊंची जगहसे उतर रही हैं, वह गुलाबी रंगकी साड़ी पहने हैं और अपने बालोंमें 'भागवत प्रेम' नामक पुष्प लगाये हुए हैं। इसका क्या तात्पर्य है?

उ०— यह भागवत प्रेमके अवतरणको सूचित करता है।

५-६-१९३३

* * *

प्र०— दो दिन हुए मैंने स्वप्नमें देखा कि मैं एक कमरेमें बिछौनेपर लेटा हुआ हूं और वहां श्रीमाताजी गुलाबी रंगके एक घोड़ेके साथ प्रवेश कर रही हैं। घोड़ेको देखकर मैंने श्रीमांसे कहा कि यह मुझे काटेगा, पर श्रीमाताजीने उत्तर दिया कि नहीं, यह नहीं काटेगा। इस स्वप्नका क्या अर्थ है?

उ०— गुलाबी रंग चैत्य प्रेमका रंग है — घोड़ा सक्रिय शक्ति है। अतएव गुलाबी रंगके घोड़ेका अर्थ यह है कि श्रीमां अपने साथ प्रेमकी सक्रिय शक्ति ला रही थीं।

३-८-१९३३

* * *

प्र०— आज प्रणाम-गृहमें ध्यान करते समय मैंने देखा कि नीली ज्योतिसे भरपूर आकाशसे एक सुन्दर पक्की सड़क पृथ्वीपर

आ रही है और श्रीमाताजी धीरे-धीरे उस सड़कसे नीचे उतर रही हैं। श्रीमांका समूचा शरीर सफेद और सुनहली ज्योतिसे बना था और वह ज्योति चारों ओर फैल रही थी। जब श्रीमाताजी रास्ते के अन्तपर आ गयीं और पृथ्वीपर उत्तर आयीं तब उनका शरीर पृथ्वीके साथ मिलजुल गया। तब मैं सहसा ध्यानसे जग गया। क्या यह कोई सूक्ष्म दर्शन था? इसका क्या तात्पर्य है?

उ०– हां, यह मन (साधारण मन नहीं, बल्कि उच्चतर मन) के स्तरपर प्राप्त एक सूक्ष्म दर्शन है। यह इस बातको सूचित करता है कि श्रीमाताजी पवित्र और दिव्य सत्यकी (सफेद और सुनहली) ज्योतिके साथ जड़-तत्त्वमें उतर रही हैं।

५-८-१९३३

* * *

प्र०– दो दिन पहले मैंने स्वप्नमें देखा कि श्रीमां एक ऊंची जगहपर खड़ी हैं और उनके सामने एक स्तम्भ है जिसपर एक तुलसीका पौदा लगा है। इसका क्या मतलब है?

उ०– मेरी समझमें इसका अर्थ यह है कि श्रीमांने भक्तिको नीचे उतारा है और उसे रोप दिया है।

५-६-१९३३

* * *

सांप शक्तियां हैं—प्राण-जगत्के सांप साधारणतया अशुभ शक्तियां होते हैं और लोग प्रायः इन्हींको देखते हैं। परन्तु अनुकूल या दिव्य शक्तियां भी उस रूपमें प्रतिबिम्बित होती हैं, जैसे, कुंडलिनी-शक्ति सांपके रूपमें कल्पितकी गयी है। श्रीमाताजीके सिरके ऊपर और चारों ओर घूमने-फिरनेवाले सांप शायद शिवमूर्त्तिका स्मरण कराते हैं और उनका अर्थ है असंख्य शक्तियां जो सब अन्तमें उस एक अनन्त शक्तिके अन्दर एकत्र कर दी गयी हैं जिससे वे निकली

हैं।

२८-१०-१९३६

* * *

प्र०— मुझे एक स्वप्न आया था जिसमें मैंने देखा कि श्रीमाताजी मेरे समीप हैं। एक बार जब वे हंसीं तो मुझे ऐसा लगा मानों मैंने उनके मुँहके अन्दर सभी जगतोंको देखा, जैसे कि यशोदाने कृष्णके मुँहमें देखा था। ऐसा देखनेके बाद तुरन्त ही मैंने अनुभव किया कि मैं इस जगत्से ऊपर उठ गया हूँ और उसकी ओर एक मुक्त साक्षीकी तरह देख रहा हूँ। क्या यह एक सच्ची स्वप्नानुभूति थी और मैंने वास्तवमें श्रीमाताजीको ही देखा, अथवा यह कोई दूसरे प्रकारका प्रभाव था?

उ०— मैं नहीं समझता कि यह कोई दूसरा प्रभाव था। यह बहुत सच्ची अनुभूतिके जैसा ही प्रतीत होता है।

१९-६-१९३५

* * *

प्र०— जब श्रीमाताजी छतपर आयीं तब उनकी ओर देखते समय मैंने सहसा उनकी गोदमें एक बालक देखा जो मुझे ईसामसीह मालूम पड़ा, क्योंकि ईसामसीहके चेहरेसे वह मिलता-जुलता था। यह सूक्ष्म-दर्शन लगभग एक मिनटतक बना रहा और यह सब मैंने खुली आंखोंसे देखा। क्या यह सत्य हो सकता है?

उ०— हो सकता है — क्योंकि ईसा भगवती माताके पुत्र थे।

२५-११-१९३३

* * *

मालूम होता है कि तुम उच्चतर अध्यात्मभावापन्न मनके किसी लोकमें ऊपर उठ गये हो और साथ ही उसमें भागवत सत्यकी शक्तिको लिये हुए महेश्वरीका

अवतरण हुआ है। भौतिक चेतनामें इसका फल यह हुआ कि तुमने सभी वस्तु-ओंमें एक दिव्य चेतना और दिव्य जीवनको देखा और उच्चतर सत्यकी सुनहली ज्योतिसे शरीरके सभी कोष प्रकाशित हो उठे।

अक्टूबर, १९३३

* * *

प्र०– पिछली रात स्वप्नमें मैंने देखा कि श्रीमाताजीके शरीरसे मेरे शरीरमें ज्योति आ रही है और उसे रूपान्तरित कर रही है। दोनों ही शरीर स्थूल शरीरोंसे अधिक लम्बे थे और पत्थरकी तरह धुँधले रंगके थे। इसका क्या अर्थ है?

उ०– बहुत अच्छा, यह श्रीमाताजीकी ओर भौतिक चेतनाका उद्घाटन है। तुमने जिसे देखा वह सम्भवतः अवचेतन शरीर था—इससे धुँधले रंगका अर्थ स्पष्ट हो जाता है—पत्थर स्थूल प्रकृतिको सूचित करता है।

३०-९-१९३३

* * *

प्र०– हालमें मैं देख रहा हूँ कि शामको छतसे नीचे उतरनेके पहले श्रीमाताजी वहां बड़ी देरतक खड़ी रहती हैं। मैं अनुभव करता हूँ कि उस समय वे हमें विशेष रूपसे कुछ देती हैं, इसलिये मैं ग्रहण करने तथा वे जो कुछ देती हैं उसे अनुभव करनेके लिये एकाग्र होता हूँ। परन्तु आज शामको सहसा मैंने देखा (जब मैं उनकी ओर ताकता हुआ ध्यान कर रहा था) कि उनका भौतिक शरीर विलीन हो गया,—उनके शरीरका कोई चिह्न वहां नहीं था, मानों वे वहां थीं ही नहीं। फिर कुछ क्षणोंके बाद उनकी आकृति पुन प्रकट हो गयी। उस समय मुझे ऐसा लगा कि वे आकाशमें मिल गयी थीं और सभी वस्तुओंके साथ एकाकार हो गयी थीं। मैंने भला ऐसा क्यों देखा?

उ०– श्रीमाताजी आवाहन या अभीप्सा करती हैं और जबतक वह कार्य पूरा

नहीं हो जाता तबतक खड़ी रहती हैं। कल कुछ समयतक वह शरीरके बोध से परे चली गयी थीं और शायद इसी बातके कारण तुमने उन्हें उस रूपमें देखा।

२९-८-१९३२

* * *

प्र०– आज प्रणाम-गृहमें ध्यान करते समय मैंने सूक्ष्म रूपमें देखा कि श्रीमाताजी गभीर ध्यानमें डूब गयी हैं। मैंने उन्हें इस रूपमें क्यों देखा?

उ०– श्रीमाताजी अपनी आन्तर सत्तामें बराबर ही ध्यानावस्थित चेतनामें रहती हैं –– इसलिये यह बिलकुल स्वाभाविक है कि तुम उन्हें उस रूपमें देखो।

५-६-१९३३

* * *

प्र०– नींदमें या ध्यानमें ऐसा हुआ, मुझे याद नहीं पड़ता। मैं नाना प्रकारके फूलोंकी थाली लिये श्रीमांके पास जा रहा था। प्रणाम करनेसे पहले मैंने उन्हें "भगवत्प्रेम" के तीन फूल अर्पित किये। क्या इसका मेरी साधनासे कोई सम्बन्ध है?

उ०– इस प्रसंगमें इस ३ संख्याका क्या अर्थ है यह कुछ स्पष्ट नहीं। सम्भवत: यह सत्ताके तीन भागोंमें भगवान्‌के प्रेमके लिये अभीप्सा है।

१२-७-१९३६

* * *

प्र०– मैंने माताजीको "अनासक्ति"के पुष्पके-से रंगमें देखा। क्या इसका कोई अर्थ है?

उ०– इसका अर्थ अवश्य यही होगा कि माताजी तुम्हें यही शक्ति दे रही थीं

या फिर तुम्हें उनसे इसी शक्तिकी आवश्यकता थी।

१०-१-१९३४

* * *

प्र०— माताजी एक हिमाच्छादित पर्वतके शिखरपर बैठी हैं; एक सकरी पगडंडी उधर ले जा रही है और मैं क्रमशः उस ओर बढ़ रहा हूँ।

उ०— यह केवल उच्चतर चेतनाकी उस पवित्रता और नीरवताका प्रतीक है जिसतक साधनाके मार्गसे पहुँचना है। पर्वत कठिनाईका प्रतीक है क्योंकि व्यक्तिको एक या दूसरी ओर न फिसलकर सीधे जाना होगा।

* * *

प्र०— दोपहरकी झपकीके समय जो कुछ हुआ वह मैं आपको बता दूँ। मैं माताजीकी गोदमें था। उन्होंने अपना रूपान्तरकारी करतल मेरे सिरपर रखा हुआ था। अपने अंगूठेसे वे मेरे सिरके ब्रह्म-केन्द्रको दबा रही थीं या, यों कहना चाहिये कि, खोल रही थीं। मुझे लगने लगा मानों वहांसे कोई चीज प्राप्त हुई हो। सब एकाएक चेतना किसी और लोकमें जा पहुँची। शरीरके कोषोंमें भी अति-भौतिक प्रकाशका अनुभव हुआ, शरीर तो पहले ही प्रकाशसे परि-प्लावित हो चुका था। स्वयं भौतिक सत्ता भी ऊपर उठा ले जायी गई। क्या आप कृपा करके इस दृग्विषयकी व्याख्या करेंगे?

उ०— इसमें व्याख्या करनेकी कोई बात नहीं। यह ऐसा ही था जैसा तुमने इसका वर्णन किया है: एकदम ही चेतनाको उच्चतर भूमिकामें ऊंचा उठा ले जाना और साथ ही उस चेतनाका भौतिक सत्तामें उतरना।

५-९-१९३४

* * *

प्र०— अपने सिरके ऊपर मुझे अनन्त और शाश्वत शान्तिका स्तर

दिखाई देता है। श्रीमां इस स्तरकी सम्राज्ञी हैं। वहांसे मैं एक अनवरत ज्योतिर्धारा अपनी ओर आती अनुभव करता हूँ। पहले वह मेरी उच्चतर सत्ताका स्पर्श करती हुई बिना किसी प्रतिरोधके उसमेंसे गुजर जाती है। किन्तु फिर जब वह नीचेकी ओर जाती है तो मार्गमें उसका प्रवाह तंग होकर एक छोटीसी धाराका रूप ले लेता है जो ब्रह्मरन्ध्रमेंसे गुजरती है। यह वर्णन आपको कैसा लगता है?

उ०— यह बिलकुल ठीक है। किन्तु बहुतोंमें वह सारे सिरमेंसे एक पुञ्ज रूपमें उतरती है, न कि ब्रह्मरन्ध्रमेंसे एक धारा के रूपमें।

१३-२-१९३६

* * *

प्र०— माताजी अपने आसनपर विराजमान हैं। उनके पीछे अनेक फणोंवाला नाग उनके सिरपर छत्रच्छाया किये हुए है। उसका रंग चमकीला सुनहरा है; प्रत्येक फणके केन्द्रमें एक चमकीला लाल गोल धब्बा है।

उ०— नाग 'प्रकृति-शक्ति' का प्रतीक है; सुनहरा = उच्चतर 'सत्य-प्रकृति'; अनेक फण = अनेक शक्तियां। लाल बहुत सम्भवतः महाकाली-शक्तिका चिह्न है। अपने फणोंसे सिरपर छत्रच्छाया करता हुआ नाग राजाधिराजताका प्रतीक है।

२३-१-१९३७

* * *

प्र०— मुझे एक विषम चट्टान दिखाई देती है। उसपर सूर्यका प्रकाश पड़ता है और उसका आकार बदल जाता है; केन्द्रमें एक खोखला वृत्त बन जाता है और चट्टानें अपने-आपको उस वृत्तके चारों ओर व्यवस्थित कर लेती है। वृत्तके केन्द्रमें लगभग दो-फीट ऊंची शिवकी प्रस्तर-मूर्ति प्रकट होती है; उसके बाद शिवकी इस मूर्तिसे माताजीका आविर्भाव होता है। वे ध्यानस्थ हैं। सूर्यका

प्रकाश माताजीकी देहके ठीक पीछे पड़ता है। इसका क्या अर्थ है?

उ०– चट्टानें = भौतिक (अत्यन्त जड़ सत्ता।

जड़ सत्ताका उद्घाटित होना जो वहां आध्यात्मिक चेतनाके निर्माणके लिये स्थान बना देता है।

शिवकी प्रस्तर-मूर्ति = वहां नीरव आत्मा या ब्रह्मका (अनन्तकी शान्ति, नीरवता एवं विशालताका, साक्षी पुरुषकी पवित्रताका) साक्षात्कार।

इस नीरवतामेंसे आविर्भूत होती है भगवती शक्ति जो जड़के रूपान्तरके लिये घनीभूत है।

सूर्यका प्रकाश = सत्यकी ज्योति।

१२-१०-१९३६

* * *

प्र०– परले दिन आपने मुझे समाधिमें सचेतन रहनेके लिये कहा था; मैंने इसके लिये जी-तोड़ यत्न किया और उसका परिणाम यह है: मैंने एक परमपावन देवीको एक स्थानमें प्रवेश करते देखा जहां कुछ साधक उनके दर्शनके लिये एकत्रित थे। वे एक बन्द कमरेमें गईं जहां हमें एक-एककरके जाना था। मैंने देखा कि हर एकको एक-दो मिनट दिये जा रहे थे जैसा हमारे दर्शन-दिनोंमें होता है। मेरी बारी अन्तमें आई।

कमरेके बीचों-बीच वे देवी सादे कपड़े पहने विराजमान थीं। उनके मुँहकी ओर देखे बिना मैंने अपना सिर उनकी गोदमें रख दिया। उन्होंने अपने हाथ मेरे सिरपर रखकर मुझे हलके-से पुचकारा, इस बीच वे धीरे-धीरे कुछ ऐसा-सा गुनगुना रही थीं "उसे... प्राप्त हो जाय"; वाक्यका दूसरा शब्द मैं उस समय बिलकुल साफ-साफ पकड़ पाया था, पर अब याद नहीं कर पा रहा। वह किसी आध्यात्मिक शक्तिका नाम था। ज्यों ही उन्होंने यह वाक्य पूरा किया, मैंने उस शक्तिको एकाएक प्रबल धाराके रूपमें मेरे सिरमें प्रवेश करते अनुभव किया। कुछ क्षण बाद उन्होंने एक और शक्तिका नाम उच्चारित किया। इस शक्तिने प्रचण्ड बलके साथ मेरा द्वार खटखटाया — इसकी तीव्रता चूर-चूर कर देने-वाली थी।

कुछ देर बाद मैंने सिर उठाकर उन देवीकी ओर पहली बार दृष्टिपात किया। उनकी आकृति श्रीमां-जैसी दिखाई देती थी। तब मैंने उनसे कहा, "क्या मैं आपसे एक प्रश्न पूछ सकता हूँ?" ऐसा प्रतीत हुआ कि उन्हें यह प्रश्न अच्छा नहीं लगा, पर क्योंकि उन्होंने इनकार नहीं किया था, मैंने फिर यही प्रश्न पूछा। इस बार उन्होंने कहा, "मुझे प्रश्नोंका पूछे जाना पसन्द नहीं।" (उन्होंने मुझे दो विभिन्न शक्तियोंके जो उपहार दिये थे उन्हींके बारेमें मैं पूछना चाहता था।) उसके बाद, मुझे याद नहीं मैंने क्या कहा। बहुत देरके बाद हम दोनों बाह्य चेतनामें लौट आये, क्योंकि हम दोनों ही एक साथ समाधिमें चले गये थे। इसका पता हमें तभी चला जब हमने द्वारपालसे पूछा कि हमने कितना समय साथ-साथ बिताया। उसके बाद मैंने उनसे कहा, "अवश्य ही आप समाधिमें चली गई होंगी और बस मैं भी आपके पीछे-पीछे वहीं पहुँच गया।"

यह सारा ही दृग्विषय मेरी समझके परे है।

1. वे परमपावन देवी कौन थीं?

2. उन्होंने मुझे अपनी शक्तियोंका दान देनेका अनुग्रह क्यों किया?

3. समाधिके अन्दर समाधि! यह एक नयी ही वस्तु है!

उ०— स्पष्टत: ही, वे परम पावन देवी स्वयं माताजी ही थीं — अपने अति-भौतिक रूपमें। उन्हें प्रश्न पसन्द न हों यह स्वभाविक ही था — मानसिक प्रश्न माताजीको कभी भी कोई विशेष पसन्द नहीं और जब वे ध्यान करा रही होती हैं, जैसा कि वे इस अनुभवमें करा रही थीं, तब तो बहुत ही कम। यह सचमुचमें अजीब उच्चतर शक्तियां "क्यों" (तुम्हारा वही शाश्वत क्यों) —दी गईं यह पूछना सचमुच ही अजीब बात है। लोग शक्तिके उपहारोंके विषयमें किसी प्रकारकी शङ्का नहीं करते और जब वे उपहार प्रदान करती हैं तो उनसे उनके प्रदान करनेके कारणोंकी जिज्ञासा नहीं करते, वे बस उन्हें पाकर अतीव आनन्दित होते हैं। नि:सन्देह, समाधिके भीतर समाधि, क्योंकि तुम्हारी साधना समाधिमें, समाधिके तरीकोंके अनुसार ही चल रही थी। सचेतन निद्रामें भी यह इसी प्रकार चल सकती है।

* * *

प्र०– जब मैं तीसरे पहर झपकी ले रहा था तब मुझे एक अत्यन्त सुन्दर नारीके अन्तर्दर्शन हुए जो सूर्य-तले बैठी थी। सूर्यकी किरणें या तो उसे घेरे थीं या उसीके शरीरसे छिटक रही थीं — मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि वह कौन थी। उसकी आकृति और वेष-भूषा पूर्वीय की अपेक्षा कहीं अधिक यूरोपीय प्रतीत होती थी।

उ०– यह कोई नारी नहीं। नारीके शरीरसे किरणें नहीं फूटतीं, न वह किरणोंसे घिरी ही होती है। बहुत सम्भवतः वह थी 'सूर्य-देवी' या अन्तर्ज्योतिकी शक्ति, श्रीमांकी शक्तियोंमेंसे एक।

२०-१२-१९३५

* * *

प्र०– आज हमें 'क्ष' ने बताया कि श्रीमां पूजाके दिन दुर्गाके विग्रह को उतारनेका यत्न कर रही थीं।

उ०– कोई यत्न नहीं किया गया — दुर्गाका विग्रह उतरा।

प्र०– जब मैं प्रणामके लिये पहुँचा, माताजीकी आकृति देखकर मुझे अनुभूति हुई कि वे स्वयं दुर्गा ही हैं। मैं नहीं जानता कि ऐसी अनुभूति उस दिनके पूजाके साथ सम्बद्ध होनेके कारण उत्पन्न हुई, या उससे बिलकुल स्वतन्त्र रूपमें।

उ०– यह सब उस भौतिक मनकी मूर्खता है जो आन्तरिक अनुभूति या आन्तरिक प्रत्यक्षको शब्दजालसे उड़ा देनेमें अपनेको अति चतुर समझता है।

प्र०– ये अनुभूतियां इतनी अनिश्चित और क्षणिक होती हैं, और फिर इनके साथ कोई ठोस अन्तर्दर्शन भी नहीं होता।

उ०– इन प्रथम स्पर्शोंसे तुम और क्या आशा करते हो!

प्र०– इसका एक उदाहरण आपको देता हूँ: मुझे यों सुनाई पड़ा मानों देवी भगवती मुझे कह रही हो, "मैं आ रही हूँ" तथा ऐसी

और बहुत-सी बातें जो मुझे अब याद नहीं।

उ०— ये वस्तुएं कम-से-कम इस बातका प्रमाण हैं कि आन्तरिक मन और प्राण अतिभौतिक वस्तुओंकी ओर खुलनेका यत्न कर रहे हैं। परन्तु ज्यों ही यह चीज शुरू हो, यदि तुम इसे तुरन्त ही तुच्छ समझो तो यह भला कभी विकसित ही कैसे हो सकती है!

प्र०— अब मैंने हृदयमें एकाग्रता करना शुरू कर दिया है। गत रविवारको मैं ध्यान कर रहा था मुझे आपके मुखमंडलका अन्तर्दर्शन हुआ, वह कोई एक घण्टा भर मेरे सामने तैरता-सा रहा, उसके साथ ही हुआ गहरे हर्षोल्लासका अनुभव। मैं पूर्णरूपसे सचेतन था; पर शरीर बिलकुल सुन्न पड़ गया था। क्या मेरे अन्दर कोई चीज़ खुल गई है? क्या यह सब देवी भगवतीके दिये हुए वचन का पूरा होना है?

उ०— यह ऐसा ही लगता है। कुछ भी हो, स्पष्टतः ही हृदय-केन्द्रमें उद्घाटन हुआ है, नहीं तो तुममें यह परिवर्तन न होता और न शरीरमें भौतिक चेतनाके निश्चल होनेके साथ-साथ यह अन्तर्दर्शन ही होता।

साक्षात्कार और श्रीमांका अन्तर्दर्शन

प्र०— क्या श्रीमांके अन्तर्दर्शनको अथवा स्वप्न या जागरित अवस्था में उन्हें देखनेको साक्षात्कार कहा जा सकता है?

उ०— वह साक्षात्कार न होकर अनुभव होगा। साक्षात्कार होगा अपने अन्दर माताजीकी उपस्थितिको देखना, उनकी शक्तिको कार्य करते अनुभव करना —अथवा सर्वत्र शान्ति या निश्चल-नीरवताका, वैश्व प्रेम, वैश्व सौन्दर्य या आनन्द आदि-आदिका साक्षात्कार करना। अन्तर्दर्शन अनुभवोंकी श्रेणीमें आते हैं, जबतक वे अपनेको स्थिर रूपसे प्रतिष्ठित न कर लें और उनके साथ एक ऐसा साक्षात्कार न हो जिसे वे मानों सहारा देते हैं—उदाहरणार्थ, हृदयमें या सिरके ऊपर सदा माताजीका सूक्ष्मदर्शन इत्यादि।

१२-३-१९३४

अन्तर्दर्शनकी क्षमता और आध्यात्मिक उन्नति

प्र०– कुछ लोगोंको माताजीके चारों ओर ज्योति आदिके दर्शन होते हैं पर मुझे नहीं होते। मेरे अन्दर क्या रुकावट है?

उ०— यह कोई रुकावट नहीं — यह केवल आन्तरिक इन्द्रियोंके विकासका प्रश्न है। इसका आध्यात्मिक उन्नतिके साथ कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं। कुछ लोग पथपर बहुत आगे बढ़ चुके हैं पर उन्हें इस प्रकारका अन्तर्दृशन यदि होता भी है तो बहुत ही कम — दूसरी ओर, कभी-कभी यह निरे आरम्भक साधकोंमें, जिन्हें अभी केवल अत्यन्त प्राथमिक आध्यात्मिक अनुभव ही हुए होते हैं, बहुत बड़ी मात्रामें विकसित हो जाता है।

१-१२-१९३३

* * *

प्र०– 'क्ष' ने मुझे बताया, "पांडिचेरीमें पैर रखनेसे चिरकाल पूर्व मुझे भगवती माताके साथ सतत संपर्क प्राप्त हो चुका था। मैं उन्हें केवल ध्यान या अन्तर्दर्शनमें ही नहीं देखती थी अपितु अपनी पूरी उघड़ी आंखोंके सामने भी ठोस रूपमें देखा करती थी। मैं प्रायः ही उनसे बातचीत किया करती थी, विशेषकर अपनी कठिन घड़ियोंमें जब वे आकर मुझे बताया करती थीं कि मुझे क्या करना चाहिये । इतनी बात अवश्य है कि जबतक मैंने इस स्थानके दर्शन नहीं किये तबतक मुझे यह मालूम नहीं था कि भगवती माता आश्रमकी श्रीमांसे भिन्न और कोई नहीं, और उन्होंने ही अपनेको इस भौतिक सांचेमें ढाल रखा है।" हां तो, मैं इतना अधिक व्यवहारवादी हूँ कि ऐसी सब बातोंपर विश्वास नहीं कर सकता, विशेषकर, नंगी आंखोंसे श्रीमांके दर्शन करनेके उसके दावेपर, जिसका अर्थ होगा — साधनामें आगे बढ़े होना।

उ०– पर इसमें असम्भाव्य कुछ भी नहीं। इसका अर्थ केवल यही है कि उसने अपने आन्तर दिव्यदर्शन और अनुभवको बाह्य रूप दिया जिससे वह स्थूल आंखोंसे भी देख सके, पर देखती थी आन्तर दृष्टि ही और सुनती भी आन्तर श्रवणशक्ति ही थी, न कि भौतिक दृष्टि या श्रवणशक्ति। यह काफी सामान्य बात है। यह "आगे बढ़ी हुई" साधनाकी सूचक नहीं,—"आगे बढ़ी हुई"

इन शव्दोंका अर्थ कुछ भी क्यों न हो,—वरन् यह केवल विशेष क्षमताकी सूचक है।

२-७-१९३६

* * *

ये वस्तुएं (अपने आराध्य देवताके दर्शन करना और उनसे बातचीत करना) योगाभ्यासियोंमें सर्वत्र ही अतीव सामान्य रूपसे देखनेमें आती हैं। इस आश्रममें साधक इतने अधिक बुद्धिप्रधान, सन्देहवादी और यथातथ्यवादी है कि इस प्रकारका अनुभव अधिक नहीं प्राप्त कर सकते। यहांतक कि जो लोग इसे विकसित कर सकते हैं वे भी वायुमण्डलमें प्रबलता-से-छाई-हुई बहिर्मुख और भौतिकताग्रस्त मनोवृत्तिके कारण वञ्चित हो जाते हैं।

२-७-१९३६

* * *

यह वात साधनाकी एक विशेष अवस्थामें उन लोगोंके लिये बिलकुल सामान्य है जिनमें अपने आराध्य देवताके दर्शन करने या उनकी वाणी सुनने और कार्य या साधनाके सम्बन्धमें उस इष्टदेव या इष्टदेवीसे सतत आदेश-निर्देश ग्रहण करनेकी क्षमता होती है। त्रुटियां और कठिनाइयां बनी रह सकती हैं, पर यह वात सीधे मार्गदर्शन की सत्यतामें बाधक नहीं हो सकती। ऐसे दृष्टान्तोंमें गुरुकी आवश्यकता यह देखनेके लिये होती है कि वह अनुभव, वाणी या अन्तर्दर्शन यथार्थ है या नहीं — क्योंकि झूठे मार्गदर्शनका प्राप्त होना भी सम्भव है, जैसा 'क्ष' और 'य' को प्राप्त हुआ।

८-७-१९३६

स्वप्नमें माताजीको देखना

प्र०— कल रात स्वप्नमें मुझे माताजीका रूप दिखाई दिया। क्या वह वास्तविक था या उसमें केवल कल्पना ही कार्य कर रही थी?

उ०— वास्तविकसे तुम्हारा क्या मतलब है? वह स्वप्नानुभवमें माताजीका

रूप था। कल्पना केवल जाग्रत् मनसे सम्बन्ध रखती है।

३-७-१९३३

* * *

प्र०– पर क्या मिथ्या शक्तियां माताजीका रूप नहीं धार सकतीं?

उ०– यदि मिथ्या शक्तियां माताजीका रूप धारें तो वह किसी बुरे उद्देश्यसे होगा। यदि कोई आक्रमण नहीं हुआ या गलत सुझाव नहीं दिया गया तो तुम्हें यह कल्पना करनेकी ज़रूरत नहीं कि झूठी शक्तियोंने ही यह रूप धारा है।

नि:सन्देह यह सदैव सम्भव है कि तुम्हारी अपनी चेतनाकी कोई वस्तु माताजीके विषयमें स्वप्न रच ले या उनका आकार वहां ला खड़ा करे जब कि वे वहां स्वयं उपस्थित न हों। ऐसा तब होता है जब वह किसी और स्तरका अनुभव न होकर एक निरा स्वप्न हो, अर्थात् मनके वहुतसे विचार और स्मृतियां आदि एकत्र कर दिये गये हों।

५-७-१९३३

* * *

अवश्य ही, माताजी अपने भौतिक रूपके अतिरिक्त अन्य अनेक रूपोंमें प्रकट हो सकती हैं, और यद्यपि मैं उनसे कहीं कम अनेक-रूपधारी हूँ तथापि मैं भी रूप धार सकता हूँ। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि तुम किसी भी महाशयको मैं और किसी भी महिलाको माताजी समझ सकते हो। तुम्हारे स्वप्नगत आत्माको एक प्रकारका विवेक विकसित करना होगा। वह विवेक अपना कार्य चिह्नों और रूपोंके आधारपर नहीं कर सकता, क्योंकि प्राणलोकके भिक्षुक लगभग हर एक वस्तुका अनुकरण कर सकते हैं—अतः उसे (विवेकको) अन्तर्ज्ञानमय होना चाहिये।

२३-५-१९३५

प्र०– आपकी पुस्तक "Bases of Yoga" (बेसिज़ ऑफ योग, "योग-

के आधार") में एक स्थानपर यह आता है, "तुम माताजीके साथ ही बातचीत करते हो जो सदा तुम्हारे साथ और तुम्हारे अन्दर हैं।" क्या आप कृपा करके मुझे समझा सकते हैं कि व्यक्ति माताजी के साथ कैसे बातचीत करता है?

उ०— व्यक्ति वाणी या विचारको उसके अन्दर बोलते हुए सुनता है और वह उत्तर भी अन्दर-ही-अन्दर देता है। इतना ज़रूर है कि यदि साधकमें अहम्भाव, कामना, मिथ्याभिमान, महत्त्वाकांक्षाके रूपमें किसी प्रकारकी असत्यहृदयता हो तो इस प्रकारकी बातचीत उसके लिये सदा निरापद नहीं होती — क्योंकि तब वह अपने मनमें स्वयं एक वाणी या विचार रचकर उसे माताजीपर आरोपित कर सकता है और वह वाणी या विचार उससे ऐसी प्रिय और खुशामद-भरी बातें कहेगा जो उसे पथभ्रान्त कर देंगी। या फिर यह भी हो सकता है कि वह किसी अन्य 'वाणी'को माताजीकी समझ बैठे।

२-७-१९३६

* * *

प्र०— क्या मनुष्य केवल अन्दरसे आनेवाली वाणीपर निर्भर कर सकता है और इस प्रकार माताजीके द्वारा परिचालित हो सकता है?

उ०— यदि वह माताजीकी वाणी हो; पर तुम्हें इसका पक्का निश्चय होना चाहिये।

७-७-१९३३

* * *

प्र०— क्या यह तथ्य नहीं कि अन्तरमें माताजीकी वाणी सुनना और उसे उनकी करके पहचान पाना आसान है?

उ०— नहीं, अपने अन्दर माताजीकी वाणीको सुनना और पहचान पाना सुगम नहीं।

८-७-१९३३

* * *

प्र०— कब व्यक्तिको अन्दरसे माताजीकी वाणी सुननेके लिये तैयार कहा जाता है?

उ०— जब उसमें समता, विवेक और पर्याप्त यौगिक अनुभव हो — अन्यथा किसी भी वाणी को माताजीकी समझ बैठनेकी सम्भावना रहती है।

७-७-१९३३

* * *

प्र०— प्रणामके समय माताजीकी गोदमें अपना सिर रखते हुए मुझे एक वाणी सुनाई दी। वह माताजीकी लगी। क्या सचमुचमें उन्होंने मुझे अन्दरसे कुछ कहा था या यह निरा मेरा भ्रम था?

उ०— हो सकता है कि माताजीने तुमसे कोई बात कही हो। पर इस समय उन्हें ऐसा याद नहीं पड़ता।

२७-४-१९३३

IV

श्रीमाताजीकी उपस्थिति

श्रीमाताजीकी उपस्थिति

सतत उपस्थिति

हमेशा इस तरह रहो मानो तुम परात्पर प्रभु और भगवती माताकी आंखोंके एकदम नीचे हो। कोई ऐसा काम मत करो, कुछ भी ऐसा सोचने और अनुभव करनेकी चेष्टा मत करो जो भागवत उपस्थितिके लिये अनुपयुक्त हो।

माताजीकी व्यक्तिगत और विश्वगत उपस्थिति

प्र०— आपने लिखा है : "हमेशा इस तरह आचरण करो मानो माताजी तुम्हारी ओर ताक रही हों; क्योंकि वास्तवमें वे हमेशा उपस्थित रहती हैं।" आपने मुझे समझाया था कि इसका अर्थ यह नहीं है कि वे भौतिक रूपमें सर्वत्र उपस्थित रहती हैं, क्योंकि यह सम्भव नहीं है। परन्तु मैंने जब इस विषयमें माताजीसे पूछा तो उन्होंने कहा कि वे सब स्थानोंपर व्यक्तिगत रूपसे उपस्थित रहती हैं। भला इन विरोधी वक्तव्योंमें सामंजस्य कैसे बैठाया जाय ?

उ०— अगर 'भौतिक रूपसे' का मतलब तुम 'शरीरसे'— उनके दृश्य ठोस जड़ शरीरसे — समझते हो तो यह स्पष्ट है कि ऐसा नहीं हो सकता। जब तुमने माताजीसे वह प्रश्न पूछा था तब उन्होंने तुम्हारा यह मतलब नहीं समझा था — उन्होंने कहा कि वे सर्वत्र उपस्थित रह सकती हैं, और निश्चय ही उनका मतलब अपनी चेतनामें उपस्थित रहनेसे था। एक चेतना ही — शरीर नहीं — हमारे भीतर 'पुरुष', 'व्यक्ति' है, शरीर तो केवल चेतनाके कार्यके लिये एक आधार और यन्त्र है। अपनी चेतनामें माताजी व्यक्तिगत रूपसे उपस्थित रह सकती हैं। विश्वगत रूपकी उपस्थिति, निस्सन्देह, हमेशा रहती है और विश्वगत तथा व्यक्तिगत एक ही सत्ताके दो स्वरूप हैं।

२५-८-१९३६

माताजीका लोगोंके विचारों और कार्योंको जानना

प्र०— आपने कहा है, "हमेशा इस प्रकार व्यवहार करो मानो

श्रीमां तुम्हारी ओर ताक रही हों; क्योंकि वह, सचमुच, हमेशा उपस्थित रहती हैं।" क्या इसका अर्थ यह है कि श्रीमाताजी हमारे सभी मामूली विचारोंको सदा ही जानती हैं अथवा जब वह एकाग्र होती हैं केवल तभी जानती हैं?

उ०– यह कहा गया है कि माताजी हमेशा उपस्थित रहती हैं और तुम्हारी ओर ताक रही हैं। इसका मतलब यह नहीं कि अपने भौतिक मनमें वे हमेशा तुम्हारी ही बात सोचती रहती हैं और तुम्हारे विचारोंको देखती रहती हैं। इसकी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे सर्वत्र हैं और अपने विश्वव्यापी ज्ञानके द्वारा सर्वत्र कार्य करती हैं।

१२-८-१९३३

* * *

प्र०– किस अर्थमें माताजी सर्वत्र हैं — क्या भौतिक स्तरपर होनेवाली सभी घटनाओंको वे जानती हैं?

उ०– इस बाततकको कि आज लायड जार्जने क्या जलपान किया अथवा रूजवेल्टने नौकरोंके विषयमें अपनी धर्मपत्नीसे क्या कहा? भला क्यों माताजीको भौतिक स्तरपर होनेवाली सभी घटनाओंको मनुष्यके ढंगसे "जानना" ही चाहिये? शरीर धारण करनेपर उनका कार्य होता है विश्वशक्तियोंकी क्रियाओंको जानना और अपने कार्यके लिये उनका उपयोग करना; बाकी चीजोंके सम्बन्धमें, जिन चीजोंको जाननेकी उन्हें जरूरत होती है उन्हें वे जानती हैं — कभी तो अपनी आन्तरिक सत्ताके द्वारा और कभी अपने भौतिक मनके द्वारा। अपने विश्वव्यापी आत्माके अन्दर उन्हें समस्त ज्ञान प्राप्त है, पर वे केवल उसीको आगे ले आती हैं जिसे आगे ले आनेकी आवश्यकता होती है, जिससे कि कार्य किया जा सके।

१३-८-१९३३

* * *

प्र०– किसी आदमीका कहना है कि माताजी हमारी सभी भौतिक क्रियाओंको देखती हैं। यह भला कैसे होता है? क्या हमारे सभी

भौतिक कार्य उनके मनपर प्रतिबिम्बित होते हैं और छायाचित्रकी तरह वे उन्हें देखती हैं अथवा जब हम लोग उन्हें करते हैं तब उसी समय वे उनकी चेतनामें भी घटित होते हैं? पर क्या यह बात उन्हें बहुत घबड़ा देनेवाली और कष्ट देनेवाली नहीं होगी? और यह क्या अत्यन्त स्थूल प्रकारकी कोई "टेलीपैथी" नहीं होगी?

उ०— इसका कुछ मूल्य नहीं है। लोग जो कुछ करते हैं उसे माताजी देख सकती हैं; उनके छायाचित्र माताजी सूक्ष्म स्थितिमें, जो नींद या ध्यानसे मिलती-जुलती है, ग्रहण करती हैं अथवा साधारण स्थितिमें उनके छायाचित्र या सूचनाएं प्राप्त करती हैं; परन्तु इस तरह अपने-आप जो कुछ आता है उसका बहुत-सा अंश अनावश्यक ही होता है और प्रत्येक चीजको हमेशा ग्रहण करना असह्य दुःख देनेवाला ही होगा, क्योंकि वह लाखो तुच्छ चीजोंमें चेतना को लगाये रखेगा; अतएव वैसा नहीं होता। अधिक महत्त्वकी बात है उनकी आन्तरिक अवस्थाको जानना और मुख्यतः यही उनके पास आती है।
२९-६-१९३७

* * *

प्र०— (हालमें घटी एक घटनाके विषयमें) मेरी ऐसी धारणा थी कि माताजीको ऐसी बातोंका तुरन्त ज्ञान हो सकता है। कुछ लोग तो यहांतक कहते हैं कि वे सब कुछ जानती हैं — भौतिक या आध्यात्मिक जो कुछ भी है वह सब-का-सब। दूसरे यह मानते हैं कि वे केवल उन्हीं विषयोंको जानती हैं जिनमें चेतनाका उलझाव होता है, जैसे, कामुक चेष्टाएं इत्यादि, पर भौतिक वस्तुओंके विषयमें वे उतना नहीं जानती।

उ०— हे भगवान्! तुम यह आशा नहीं करते कि उनका मन सभी स्तरोंपर तथा सभी लोकोंमें घटित हो रही सभी घटनाओंका तथ्य-निरूपक विश्वकोष हो? अथवा इस भूतलपर ही उदाहरणार्थ, लायड जार्जने कल रात क्या खाना खाया था?

निःसन्देह, चेतनाके विषयोंको तो वे सदैव अपने बाह्यतम स्थूल मनमें

भी जानती हैं। स्थूल भौतिक तथ्य वे जान अवश्य सकती हैं पर ऐसा करनेके लिये वे बाध्य नहीं। यह कहना ठीक होगा कि यदि वे किसी विषयपर एकाग्रता करें या उसकी ओर उनका ध्यान खींचा जाय और वे उसे जाननेका निश्चय कर लें तो वे उसे जान सकती हैं। किसीके द्वारा किसी घटनाकी सूचना उन्हें मिलनेसे पहले ही मुझे बहुधा उनसे पता चल जाता है कि क्या घटना घटी है। पर सामान्यतया वे ऐसा करनेकी परवा नहीं करतीं।

१६-७-१९३५

* * *

प्र०— माताजीके ज्ञानके विषयमें यह प्रश्न आज मेरे लिये और भी रोचक हो उठा। उन्होंने मुझे एक फूल दिया जिसका अर्थ है "अनुशासन"। मुझे आश्चर्य होने लगा कि क्यों यह विशेष फूल दिया गया है; अन्तमें मुझे याद आया कि कल 'क्ष' और 'य' के साथ भोजन करनेके मामलेमें मैंने ठीक अनुशासनका पालन नहीं किया था।

उ०— इस विषयमें माताजी अपने सहजबोधोंसे परिचालित होती हैं जो उन्हें यह बताते हैं कि किसी विशेष क्षण किस फूलकी आवश्यकता है या कौन-सा फूल सहायक होगा। कभी तो उस सहजबोधके साथ चेतनाकी विशेष अवस्थाका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, कभी भौतिक तथ्यका प्रत्यक्ष बोध; पर केवल कोरा तथ्य ही, उदाहरणार्थ, साधारणतया, वह ऐसा विवरण नहीं देगा कि "अमुक विशेष कार्य" किया गया अथवा 'क्ष' या 'य' बीचमें कैसे आये। यह नहीं कि ऐसा विवरण प्राप्त होना असम्भव है, पर यह अनावश्यक है और जबतक आवश्यकता न हो तबतक ऐसा नहीं होता।

१६-७-१९३५

* * *

प्र०— माताजी हमारे विचार जान सकती हैं, पर क्या वे उन विचारों के ठीक-ठीक शब्द भी जान सकती हैं?

उ०— हां, यदि व्यक्तिका मन बहुत स्पष्ट हो तो; अन्यथा जो कुछ आता है

वह केवल सार, या विचारका एक भाग या कोई सामान्य भाव ही हो सकता है।

१६-५-१६३३

* * *

'अ' के विषयमें जो कुछ तुमने लिखा है वह ठीक है...। वह यह नहीं समझती कि दूसरे उपायोंसे माताजी इन सब बातोंको जानती हैं और कोई भी खबर जो उन्हें मिलती है वह केवल उनकी पहलेसे जानी हुई बातमें ही विशेष भौतिक यथार्थता जोड़ देती है।

जब वह माताजीके विरुद्ध ऐसे-ऐसे विचार रखती है तब वह भला कैसे खुल सकती है? ये विचार अनिवार्य रूपमें उसे माताजीके प्रभावकी ओरसे बन्द कर ही देंगे।

माताजीने उसे लिखा है कि 'य'ने कुछ नहीं कहा था और उन्होंने बिना कोई खबर पाये स्वयं 'अ'की आन्तर सत्तासे ही उसके विषयमें सारी बातें जान ली थीं; उसकी आन्तर सत्ता निरन्तर उनके पास आती है और उनसे कहती है अथवा जो कुछ उसकी प्रकृतिमें है उसे उन्हें दिखा देती है।

इसके अतिरिक्त माताजी सूक्ष्म दर्शनके अन्दर चीजोंको देखती हैं और प्रणाम या अन्य समयोंपर साधकोंके विचारोंको ग्रहण करती हैं...। परन्तु माताजी इन अतिभौतिक सूचनाओंके आधारपर कभी कार्य नहीं करतीं, तबतक नहीं करतीं जबतक कि कोई भौतिक प्रमाण नहीं मिल जाता, जैसे कि इस प्रसंगमें स्वयं पत्रसे मिला। कारण, कोई भी आदमी उनके कार्यको नहीं समझेगा —भौतिक मनमें रहनेवाले साधक उनके कार्य को निराधार बतलायेंगे, और जिनपर इसका असर पड़ेगा वे अपने गुप्त विचारों, भावनाओं और क्रियाओंको जोरोंसे अस्वीकार करेंगे, जैसा कि पहले बहुतसे लोगोंने किया है। यह सब मैं खानगी तौरसे तुम्हें बता रहा हूँ जिसमें तुम यह समझ सको कि 'अ' के नाम लिखे माताजीके पत्रोंका सच्चा आधार क्या है।

१०-६-१६३६

माताजीकी अंशविभूतियां

प्र०— आपके इस कथनका ठीक-ठीक अभिप्राय क्या है: "सदा इस प्रकार आचरण करो मानों माताजी तुम्हारी ओर ताक रही

हों; क्योंकि वे सचमुच में सदा उपस्थित रहती हैं" ?

उ०– माताजीकी एक अंशविभूति प्रत्येक साधकके साथ हर समय विद्यमान रहती है। पुराने दिनोंकी बात है जब वे सारी रात समाधिमें बिताया करती थीं और आश्रममें कार्य नहीं करती थीं, वे अपने साथ उस सबका ज्ञान लेकर लौटा करती थीं जो कुछ भी किसी भी व्यक्तिके साथ होता था। आजकल वैसा करनेके लिये उनके पास समय नहीं।

१६-७-१९३५

* * *

प्र०– यह सब अत्यन्त मनोरञ्जक है; और मैं समझता हूँ स्वयं आपकी भी इतनी अंशविभूतियां हैं। अवश्य ही उनका उद्देश्य होगा हमें संरक्षण प्रदान करना।

उ०– अपनी किन्हीं भी अंशविभूतियोंके बारेमें मुझे कुछ पता नहीं। जहांतक माताजीकी अंशविभूतियोंका सम्बन्ध है, वे वहां संरक्षण देनेके लिये नहीं बल्कि व्यक्तिके साथ वैयक्तिक सम्बन्ध या संपर्कको सहारा देनेके लिये उपस्थित हैं और जहांतक वह उन्हें क्रिया करने दे वहांतक क्रिया करनेके लिये भी।

१६-७-१९३५

* * *

प्र०– कृपया हमें अंशविभूतियोंके विषयमें समझानेके लिये इनपर कुछ अधिक प्रकाश डालिये। कैसे वे वैयक्तिक सम्बन्धको सहारा देती हैं? मैं समझता था कि सभी वैयक्तिक सम्बन्ध सीधे माताजीके साथ होते हैं: किसी सहकारीके द्वारा नहीं! जब 'क्ष' कहता है कि उसे माताजीका भौतिक स्पर्श अनुभूत होता है, तो उसका सम्पर्क किसके साथ होता है — माताजी या अंशविभूति? और फिर, माताजीके जो विभिन्न रूप हम स्वप्नोंमें देखते हैं वे भी क्या उनकी अंशविभूतियां होते हैं?

उ०– इन वस्तुओंके सम्बन्धमें लिखना नितान्त ही कठिन है, क्योंकि तुम सब

इनके विषयमें महामूढ़ हो और पग-पगपर समझनेमें गलती करते हो। अंश-विभूति माताजीका कोई सहकारी नहीं, स्वयं माताजी ही होती हैं। वे अपने शरीरसे बंधी नहीं, बल्कि अपनेको जिस रूपमें चाहें बाहर प्रकट कर सकती हैं (अपनी अंशविभूतिके रूपमें बाहर जा सकती हैं)। जो अंश बाहर जाता है वह अपनेको उस व्यक्तिगत सम्बन्धके स्वरूपके अनुकूल बना लेता है जो माताजीका किसी साधक-विशेषके साथ होता है और वह सम्बन्ध प्रत्येक साधकके साथ अलग-अलग होता है, पर ऐसा करनेसे उस अंशविभूतिके स्वयं माताजी ही बने रहनेमें कोई बाधा नहीं पड़ती। उस अंशका साधकके समीप उपस्थित रहना उसके विषयमें साधककी सचेतनतापर निर्भर नहीं करता। यदि प्रत्येक वस्तु साधककी उपरितलीय चेतनापर ही निर्भर करे तो कहीं भी दिव्य क्रियाके होनेकी सम्भावना नहीं रहेगी; मानव-कीट नित्य-शाश्वत कालके लिये मानव-कीट ही रहेगा और मानव-गर्दभ मानव-गर्दभ। कारण, यदि भगवान् पर्देके पीछे न रह सकते हों तो कैसे इनमेंसे कोई युग-युगतक भी अपने कीटपने और गर्दभपनेके सिवा किसी और चीजसे कभी भी सचेतन हो सकेगा?

(जब 'क्ष' कहता है कि उसे माताजीका भौतिक स्पर्श अनुभूत होता है तो उसका सम्पर्क किसके साथ होता है...?" इस प्रश्नके सामने हाशियेमें श्रीअर-विन्दने लिखा, "माताजीके साथ — अंशविभूति उसमें सहायता करती है — उसका काम ही यही है।")

१६-७-१६३५

***

माताजी जब अतिभौतिक स्तरपर कार्य करती हैं तो वे बाहर भिन्न-भिन्न प्रकार-की अंशविभूतिके रूपमें प्रत्येक साधकके पास जाती हैं।

११-१२-१६३३

***

प्र०— स्वप्नावस्थामें होनेवाले अनुभवमें हमें कभी-कभी माताजीके दर्शन होते हैं। क्या वह रूप उनकी अंशविभूति होता है या स्वयं उनका शरीर ही?

उ०— एक अंशविभूति। उनका भौतिक शरीर स्वप्नानुभवमें भला कैसे दिखाई

दे सकता है ?

७-७-१९३३

* * *

प्र०— ऐसा लगता है कि तीसरे पहरकी नींदके समय मुझे बहुधा माताजीका सम्पर्क प्राप्त होता है। क्या तब माताजी ही अपनी अंशविभूति भेजती हैं ?

उ०— हां, या वास्तवमें उनका कोई अंश सदा ही तुम्हारे साथ रहता है।

१४-१२-१९३३

माताजीकी उपस्थिति और भागवत चेतना

प्र०— क्या माताजीकी उपस्थिति और भागवत चेतनामें कोई भेद है ?

उ०— भागवत चेतनाको मनुष्य निर्व्यक्तिक तौरपर, केवल एक नयी चेतनाके रूपमें ही, अनुभव कर सकता है। माताजीकी उपस्थिति इससे अधिक कुछ है — मनुष्य साक्षात् उन्हींको अपने अन्दर या ऊपर उपस्थित या उसे चारों ओरसे घेरे हुए अनुभव करता है या ये सभी चीजें एक साथ।

८-७-१९३५

अन्तरमें श्रीमाताजीकी उपस्थिति

उसे अपने भीतर जाना होगा और अन्तरमें भगवती माताकी और हृदयके पीछे चैत्य पुरुषकी उपस्थितिको ढूंढ़ निकालना होगा और फिर वहींसे ज्ञान आयेगा और आन्तरिक बाधाओंको विलीन कर देनेकी समस्त शक्ति आयेगी।

* * *

श्रीमाताजीकी उपस्थिति

माताजीकी सतत उपस्थिति अभ्यासके द्वारा आती है; साधनामें सफलता पानेके लिये भागवत कृपा अत्यन्त आवश्यक है, पर अभ्यास ही वह चीज है जो कृपा-शक्तिके अवतरणके लिये तैयारी करती है।

तुम्हें भीतरकी ओर जाना सीखना होगा, केवल बाहरी चीजोंमें ही रहना बन्द करना होगा, मनको स्थिर करना होगा और अपने अन्दर होनेवाली माताजी की क्रियाके विषयमें सचेतन होनेकी अभीप्सा करनी होगी।

* * *

प्र०— हमारा विश्वास है कि माताजी हम सबके अन्दर साधना कर रही हैं, विशेषकर हृदयके द्वारा; पर यह कैसी बात है कि हम इसे विरले ही अनुभव करते हैं? अवश्य ही हमारे अन्दर कोई पर्दा है।

उ०— यह एक ऐसा पर्दा है जो तब हट जाता है जब माताजीकी क्रिया और उनकी उपस्थिति सब समय सचेतन रूपसे अनुभूत होती है।

७-१-१९३५

* * *

प्र०— माताजीकी ठोस उपस्थितिको मनुष्य सब समय कैसे और कब अनुभव कर सकता है?

उ०— यह प्रथम तो चैत्यकी सतत क्रियाका विषय है और दूसरे भौतिक सत्ताके परिवर्तनका तथा आन्तरिक अतिभौतिक अनुभवकी ओर उसके खुलावका। प्राण और उसके उपद्रवोंके अतिरिक्त भौतिक सत्ता यौगिक चेतना और अनुभव की अविच्छिन्न धाराको स्थापित करनेमें प्रधान बाधा है। यदि भौतिक सत्ता पूर्णतया रूपान्तरित —उन्मुक्त और सचेतन— हो जाय तो स्थिरता और अविच्छिन्नता सुलभ हो जाती हैं।

१६-१०-१९३३

* * *

साधनामें यह बात बिलकुल ठीक है और ठीक चेतनाका ही अंग है कि तुम हृदयमें माताजीकी ओर आकर्षण अनुभव करो और उनकी उपस्थितिके सूक्ष्म दर्शन एवं साक्षात्कारके लिये अभीप्सा करो। किन्तु इस अनुभूतिके साथ किसी प्रकारकी बेचैनी नहीं जुड़ी होनी चाहिये। वह अनुभूति शान्त रूपसे तीव्र होनी चाहिये। तब यह अधिक आसान हो जायगा कि तुम्हें उपस्थितिका संवेदन हो और वह तुम्हारे अन्दर बढ़ता जाय।

उपस्थिति और प्रतिमूर्ति

प्र०– क्या यह सच है कि जब उपस्थिति (प्रतिमूर्ति) हृदयमें दिखाई देती है तो निम्न प्रकृतिकी सभी आदतें और क्रियाएं विलुप्त हो जाती हैं ?

उ०– प्रतिमूर्ति और उपस्थिति एक ही वस्तु नहीं। मनुष्य प्रतिमूर्तिको देखे विना भी उपस्थितिको अनुभव कर सकता है। परन्तु तुमने जिन परिणामोंका उल्लेख किया है उन्हें उत्पन्न करनेके लिये हृदयमें 'उपस्थिति' ही. पर्याप्त नहीं, उसके लिये यह आवश्यक है कि 'उपस्थिति' सम्पूर्ण चेतनामें हो और माताजी-की शक्ति प्रकृतिकी समस्त क्रियाओंपर शासन करे।

सामने माताजीकी उपस्थिति

प्र०– शामके ध्यानमें हृदयसे समर्पणकी तीव्र क्रिया हो रही थी। तुरत मुझे अपने सामने माताजीकी उपस्थितिका बोध हुआ और पैरोंके नीचेसे, पैरोंसे, मूलाधार-चक्रसे अभीप्सा उठने लगी; हृदयसे, समस्त सत्तासे एक स्वेच्छाकृत और प्रेमपूर्ण समर्पणका भाव मानों संसिद्ध होनेके लिये निकल रहा था। मैं समझता हूँ कि चैत्य पुरुष सामने आ गया था। पर मैंने माताजीकी उपस्थिति-को अपने सामने क्यों अनुभव किया, अपने भीतर क्यों नहीं ?

उ०– उस समय तुम्हें चैत्य-पुरुषोचित अवस्था प्राप्त हुई थी और उसका मतलब है कि चैत्य पुरुषका प्रभाव सामने आ रहा है। जब पूर्ण चैत्य उद्घाटन हो जाता है तभी उपस्थिति अन्दर आती है। उपस्थितिके सामने होनेका यह अर्थ है कि

वह तुम्हारे साथ है, पर अभी भीतर प्रवेश करना उसके लिये बाकी है।

१३-७-१९३७

हृदयकी धड़कनमें उपस्थितिका अनुभव

पर मैं कोई कारण नहीं देखता कि क्यों मैं उस अनुभवको भावुकता कहूँ और यह समझूँ कि हृदयकी धड़कनों आदिमें माताजीकी उपस्थितिका तुम्हारा बोध झूठा था। तुम्हारे चैत्य पुरुषने ही तुम्हें यह सुझाव दिया था और उसका प्रत्युत्तर यह सूचित करता है कि चेतना तैयार थी। माताजीने अनुभव किया था कि कुछ तुम्हारे अन्दर घटित हो रहा है और यह अनुभव किया कि यह किसी उपलब्धिका आरम्भ है— वे उसे प्रोत्साहित कर रही थीं; उन्होंने उसे निरुत्साहित नहीं किया। अगर वह कोई गलत या प्राणिक क्रिया होती, तो उन्होंने उस तरह अनुभव न किया होता।

१३-८-१९३४

दिनके समय उपस्थितिका अनुभव

अगर तुम दिनके अधिकतर भागमें माताजीकी उपस्थितिको अनुभव करते हो तो इसका अर्थ यह है कि वास्तवमें तुम्हारा चैत्य पुरुष क्रियाशील हो रहा है और वही इस तरह अनुभव कर रहा है। क्योंकि चैत्य पुरुषकी क्रियाके बिना यह सम्भव नहीं होता। अतएव तुम्हारा चैत्य पुरुष मौजूद है और वह बिलकुल दूर नहीं है।

१४-३-१९३५

नींदमें उपस्थितिका अनुभव

यह (नींदमें माताजीकी उपस्थितिका अनुभव) स्वभावतः जागृत अवस्थामें उपस्थितिके बोधके बाद आता है, पर इसमें थोड़ा समय लगता है।

११-१-१९३५

प्र०— क्या व्यक्ति निद्रामें भी माताजीकी उपस्थितिके प्रति पूर्णतया जाग्रत् हो सकता है?

उ०— ऐसा होता अवश्य है, पर साधारणत: केवल तभी जब अन्तरात्माकी क्रिया अपने पूरे जोरपर हो।

काममें उपस्थितिका अनुभव

अधिकांश लोगोंके लिये कामके साथ-साथ माताजीकी उपस्थितिको अनुभव करना आसान नहीं है—वे अनुभव करते हैं मानों वे काम कर रहे हों, मन काममें व्यस्त होता जाता है और समुचित निष्क्रियता या स्थिरता नहीं रख पाता।

माताजीकी उपस्थिति और एकताका बोध

यह कोई आवश्यक नियम नहीं है कि सबसे पहले मनुष्यको उपस्थितिका अनुभव प्राप्त करना चाहिये और फिर उसके बाद ही वह यह अनुभव कर सकता है कि वह माताजीका है। बल्कि अधिकतर यह होता है कि इस (उनका होनेके) अनुभवके बढ़नेसे ही वह उपस्थिति आती है। क्योंकि यह अनुभव आता है चैत्य चेतनासे और उस चैत्य चेतनाके बढ़ जानेसे ही अन्तमें सतत उपस्थितिका बना रहना सम्भव होता है। यह अनुभव चैत्य पुरुषसे आता है और आन्तर सत्ताका जहांतक सम्बन्ध है यह सत्य है—इसका अभीतक सम्पूर्ण सत्तामें सिद्ध न हो पाना इसे 'कल्पना' नहीं बना देता—बल्कि इसके विपरीत, जितना ही अधिक यह बढ़ता है उतनी ही अधिक समस्त सत्ताके इस सत्यको चरितार्थ करनेकी संभावना भी बढ़ जाती है। आंतर भाव बाहरी चेतनाके ऊपर अपना अधिकाधिक अधिकार जमाता जाता है और उसे इस तरह फिरसे गढ़ता है कि वह वहां भी एक सत्य बन जाय। यही है यौगिक रूपान्तरके अन्दर कर्मका अटल सिद्धान्त—जो कुछ सत्य है वह बाहर आ जाता है, मन, हृदय तथा संकल्पशक्तिपर अपना अधिकार जमा लेता है और उनके द्वारा बाह्य अंगोंके अज्ञानके ऊपर विजयी होता तथा वहां भी आन्तर सत्यको प्रकट करता है।

१६-६-१९३६

* * *

प्र०— मैंने माताजीको फ्रेंचमें एक प्रार्थना लिखी। उन्होंने उसका यह उत्तर दिया: (Ouvre ton coeur et tu me trouveras déjà là.)

("अपना हृदय खोलो और वहां तुम मुझे पहलेसे ही उपस्थित पाओगे") इसका ठीक-ठीक अभिप्राय क्या है ?

उ०— माताजीका अभिप्राय यह था कि जब हृदयका कुछ उन्मीलन हो जाता है तो तुम देखते हो कि शाश्वत एकत्व वहां सदासे ही था (वही एकत्व जिसे तुम ऊर्ध्वस्थ 'आत्मा'में सदैव अनुभव करते हो)।

२-७-१९३५

* * *

प्र०— कुछ साधक कहते हैं कि उन्हें माताजीके साथ एकत्व प्राप्त है। मुझे सन्देह है कि यह माताजीके साथ समीपताकी उस अनुभूतिसे अधिक कुछ है जो उन्हें कभी-कभी प्राप्त होती है।

उ०— मैं समझता हूँ वें माताजीकी उपस्थितिको अनुभव करनेका यत्न कर रहे हैं, इसलिये यदि उन्हें समीपताकी किसी प्रकारकी अनुभूति प्राप्त होती है तो वे उसे एकत्व कहते हैं। पर निःसन्देह वह एकत्वकी ओर एक पगमात्र है। एकत्व उससे कहीं अधिक कुछ है।

५-३-१९३४

* * *

प्र०— कल आपने लिखा था, "उन्मीलन केवल अन्तर्दर्शनोंसे नहीं मापा जाता।" बिलकुल ठीक। पर शरीरके चारों ओर सूर्य और चन्द्रकी किरणोंके घुल-मिलकर एक हो जानेकी अनुभूति, अवतरणकी और अपने अन्दर, पीछे तथा ऊपर माताजीकी उपस्थितिकी अनुभूति क्या एक असाधारण दिव्यदर्शन औंर अनुभव नहीं ? क्या यह माताजीके प्रति पर्याप्त उद्घाटन हुए बिना प्राप्त हो सकता है ?

उ०— हर ओर सूर्य और चांदको देखना या चारों ओर सर्वत्र माताजीकी उपस्थिति अनुभव करना असाधारण क्यों होना चाहिये ? ऐसे अनेकों साधक हैं जिन्हें यही या ऐसे अनुभव हुए हैं। सदा-सर्वदा इसी प्रकार माताजीकी उपस्थिति अनुभव करना असाधारण हो सकता है। परन्तु समय-समयपर इस प्रकार-

के अनुभव तो बहुतोंको हो चुके हैं।

१५-६-१६३६

* * *

प्र०— ध्यानके समय मुझे माताजीकी चेतनाके साथ एक प्रकारकी एकताका अनुभव होता है; पर इन दिनों ध्यानमें गहरे जाना मेरे लिये जरा भी सम्भव नहीं होता। क्या ध्यान किये बिना एकत्वकी यह अनुभूति प्राप्त करना सम्भव नहीं ?

उ०— सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है चेतनाका वह परिवर्तन जिसका एक अंग है एकत्वकी यह अनुभूति। ध्यानमें गहरे जाना तो एक साधनमात्र है और यदि महान् अनुभव इसके बिना ही आसानीसे आ जायं तो यह सदा आवश्यक नहीं होता।

८-४-१६३४

माताजीको पत्र लिखना और उनकी उपस्थितिका अनुभव करना

माताजीकी उपस्थिति या निकटताका अनुभव करना इस बातपर निर्भर नहीं करता कि तुम उन्हें पत्र लिखते हो या नहीं। बहुतसे लोग, जो बार-बार लिखते हैं, उसे अनुभव नहीं करते, कुछ लोग, जो प्रायः नहीं लिखते, उन्हें सर्वदा समीप अनुभव करते हैं।

११-६-१६३६

माताजीकी उपस्थितिका आच्छादित हो जाना

माताजीकी उपस्थिति हमेशा रहती ही है; पर तुम यदि स्वयं अपने ही ढंगसे —अपनी निजी भावना, वस्तुओंके विषयमें अपनी निजी धारणा, वस्तुओंके प्रति अपनी निजी इच्छा और मांगके अनुसार कार्य करनेका निश्चय करो तो यह बिलकुल सम्भव है कि उनकी उपस्थिति आच्छादित हो जाय; वास्तवमें स्वयं वे तुम्हारे पाससे अलग नहीं हट जातीं, बल्कि तुम्हीं उनके पाससे पीछे चले जाते हो। पर तुम्हारा मन और प्राण इसे स्वीकार नहीं करना चाहते, क्योंकि अपनी ही गतियोंका समर्थन करना बराबर ही उनका अपना पेशा रहा है।

अगर चैत्य पुरुषको उसका पूर्ण अधिकार दे दिया गया होता तो ऐसा न होता; उसने आच्छादनको अनुभव किया होता, बल्कि उसने तुरत यह कहा होता, "अवश्य मेरे अन्दर ही कोई भूल रही होगी, मेरे अन्दर कुहासा उत्पन्न हो गया है," और उसने कारणको खोजा और पा लिया होता।

२५-३-१९३२

* * *

जिस उपस्थितिके चले जानेके कारण तुम्हें दुःख हुआ है वह तभी अनुभूत हो सकती है जब कि आन्तर सत्ता समर्पित रहना जारी रखे और बाहरी प्रकृतिको आन्तर आत्माके साथ समस्वर बनाये रखा जाय अथवा कम-से-कम उसके स्पर्शके अधीन रखा जाय।

परन्तु तुम यदि ऐसे कार्य करो जिन्हें तुम्हारी आन्तर सत्ता पसन्द न करे तो अन्तमें यह अवस्था धीमी हो जायगी और प्रत्येक बार उपस्थितिको अनुभव करनेकी सम्भावना कम होती जायगी। अगर माताजीकी कृपा को बनाये रखना है और उसे फलोत्पादक होना है तो तुम्हें शुद्धिके लिये एक सबल संकल्प रखना चाहिये और एक ऐसी अभीप्सा रखनी चाहिये जो न कभी ढीली पड़े और न बन्द हो।

V

श्रीमाताजीके प्रति उद्घाटन और समर्पण

श्रीमाताजीके प्रति उद्घाटन और समर्पण

साधनाका केन्द्रीय रहस्य

चैत्य सत्ताके श्रीमाताजीके प्रति खुले रहनेसे कार्य या साधनाके लिये जो कुछ आवश्यक होता है वह सब धीरे-धीरे विकसित होता रहता है, यह एक रहस्य है, साधनाका केन्द्रीय रहस्य है।

१३-२-१९३३

* * *

परन्तु उपदेशके द्वारा न तो यह साधना सिखायी जाती है और न आगे चलायी जाती है। जो लोग अभीप्सा और श्रीमांका ध्यान करके अपने भीतर उनके कार्य और क्रियावलीकी ओर खुलने और उसे ग्रहण करनेमें समर्थ होते हैं केवल वे ही इस योगमें सफल हो सकते हैं।

२१-६-१९३७

* * *

इन सब बातोंके विषयमें मनको परेशान करना और साधारण मनके द्वारा इन्हें व्यवस्थित करनेकी चेष्टा करना भूल है। जब तुम्हारी चेतना तैयार होगी तब श्रीमाताजीपर भरोसा रखनेसे ही आवश्यक उद्घाटन हो जायगा। तुम्हारे वर्तमान कार्यको इस प्रकार व्यवस्थित करनेमें कोई हर्ज नहीं है जिसमें थोड़ा ध्यान करनेके लिये समय और शक्ति बच जाय, पर केवल ध्यानके द्वारा ही आवश्यक चीज नहीं आयेगी। वह श्रद्धा और श्रीमांके प्रति खुले रहनेसे ही आ सकती है।

९-१०-१९३४

* * *

अपने आपको माताजीकी ओर खोले रखो और उनके साथ पूर्ण एकता बनाये रहो। अपनेको उनके स्पर्शके प्रति पूर्णरूपसे नमनीय बना दो और उन्हें तुमको

पूर्णताकी ओर वेगपूर्वक गढ़ने दो।

९-३-१९३४

* * *

बस तुम्हारा काम है अभीप्सा करना, अपने-आपको श्रीमांकी ओर खुला रखना, जो भी चीजें उनकी इच्छाके विरुद्ध हैं उन सबका त्याग करना तथा अपने अन्दर उन्हें कार्य करने देना — साथ ही अपने सभी कर्मोंको उनके लिये ही करना और इस विश्वासके साथ करना कि केवल उनकी शक्तिके द्वारा ही तुम उन्हें कर सकते हो। इस तरह खुले रहो तो फिर यथासमय ज्ञान और उपलब्धि तुम्हें प्राप्त हो जायेंगी।

* * *

योगसाधना करनेका मतलब ही है सब प्रकारकी आसक्तियोंको जीतने और एकमात्र भगवान्‌की ओर मुड़ जानेका संकल्प करना। योगकी सबसे प्रधान बात है पग-पगपर भागवत कृपापर विश्वास रखना, निरन्तर अपने विचार भगवान्‌की ओर मोड़ते रहना और जबतक अपनी सत्ता उद्घाटित न हो जाय और आधारके अन्दर कार्य करती हुई श्रीमांकी शक्तिका अनुभव न हो सके तबतक अपने-आपको समर्पित करते रहना।

* * *

सभी चीजें भगवान् हैं क्योंकि भगवान् उनके अन्दर है, पर है छुपा हुआ, प्रकट नहीं; जब मन बाहर वस्तुओंकी ओर जाता है तो वह इस अनुभूति और भावके साथ नहीं जाता कि उनमें भगवान् है, बल्कि उन बाह्यरूपोंके लिये ही जाता है जो भगवान्‌को छुपाये हुए हैं। अतएव साधकके रूपमें तुम्हारे लिये यह आवश्यक है कि तुम पूर्ण रूपसे माताजीकी ओर मुड़ो, जिनमें भगवान् प्रकट रूपमें विद्यमान हैं, तथा उन बाह्यरूपों एवं प्रतीतियोंके पीछे मत दौड़ो जिनकी कामना या जिनमें रुचि भगवान्‌के साथ तुम्हारे मिलनमें बाधा पहुँचाती है। जब एक बार सत्ता समर्पित हो जाती है, तब वह सर्वत्र भगवान्‌को देख सकती है — और फिर वह बिना किसी पृथक् रुचि या कामनाके सभी वस्तुओंको एक ही चेतनामें समाविष्ट कर सकती है।

खुलनेका ठीक तरीका

प्र०— खुलनेका क्या अर्थ है ?

उ०— उसका अर्थ है श्रीमाताजीकी उपस्थिति और उनकी शक्तियोंको ग्रहण करना।

* * *

प्र०— इस उद्घाटनको पानेका ठीक-ठीक और पूरा तरीका क्या है ?

उ०— अभीप्सा, स्थिरता, ग्रहण करनेके लिये अपनेको फैलाना, उन सब चीजोंका त्याग करना जो तुम्हें भगवान्‌की ओरसे बन्द कर देनेकी कोशिश करती हों।

* * *

प्र०— यह कैसे जाना जा सकता है कि मैं श्रीमाताजीकी ओर खुल रहा हूँ, अन्य किसी शक्तिकी ओर नहीं ?

उ०— तुम्हें जाग्रत् रहना होगा और यह देखना होगा कि तुम्हारे अन्दर विक्षोभ, कामना, अहंकार आदिकी कोई क्रिया न हो।

* * *

प्र०— श्रीमाताजीके प्रति सच्चे उद्घाटनके चिह्न क्या-क्या हैं ?

उ०— वह स्वयं अपने-आपको तुरत दिखा देता है—जब तुम दिव्य शान्ति, समता, विशालता, ज्योति, आनन्द, ज्ञान, शक्तिका अनुभव करते हो, जब तुम श्रीमाताजीके सान्निध्य या उपस्थिति या उनकी शक्तिकी क्रिया आदिके विषयमें सचेतन होते हो। अगर इनमेंसे किसी भी चीजका अनुभव हो तो इसका अर्थ है कि उद्घाटन है—अगर अधिक चीजोंका अनुभव हो तो समझना होगा कि उद्घाटन अधिक पूर्ण है।

अप्रैल, १९३३

प्र०— खुलना — इसका अर्थ क्या है? क्या यह कि "माताजीसे कुछ भी छिपाकर न रखना"?

उ०— यह खुलनेकी ओर पहला कदम है।

१७-६-१९३३

* * *

प्र०— भगवती माताकी ओर कैसे खुला जाय?

उ०— शान्त मनमें श्रद्धा और समर्पणके द्वारा।

१८-६-१९३३

श्रीमांके प्रति उद्‌घाटन

खुले रहनेका अर्थ है श्रीमांकी ओर महज इस तरह मुड़े रहना कि उनकी शक्ति तुम्हारे अन्दर कार्य कर सके और कोई भी चीज उसके कार्यको अस्वीकार न करे अथवा बाधा न पहुँचावे। अगर मन अपने निजी विचारोंमें ही बन्द रहे और उसे अपने अन्दर ज्योति और सत्य न लाने दे, अगर प्राण अपनी वासनाओंसे चिपका रहे और जिस सच्चे प्रारम्भ और जिन सब सत्य प्रवृत्तियों-को श्रीमांकी शक्ति ले आती है उन्हें न आने दे, अगर शरीर अपनी कामनाओं, आदतों और तामसिकतासे अवरुद्ध हो, और ज्योति और शक्तिको अपने अन्दर घुसने और कार्य करने न दे तो इसका अर्थ है कि व्यक्ति खुला नहीं है। एकदम आरम्भसे ही अपनी समस्त गतिविधियोंमें पूर्ण रूपसे उद्‌घाटित हो सकना सम्भव नहीं है, पर प्रत्येक भागमें एक केंद्रीय उद्‌घाटन और प्रत्येक अंगमें (केवल मनमें ही नहीं) एकमात्र श्रीमांकी 'क्रिया' को ही होने देनेकी प्रबल अभीप्सा या संकल्प अवश्य होना चाहिये, तब बाकी चीजें धीरे-धीरे पूरी कर दी जायंगी।

२८-१०-१९३४

* * *

श्रीमांकी ओर खुले रहनेका तात्पर्य है बराबर शान्त-स्थिर और प्रसन्न बने

रहना तथा दृढ़ विश्वास बनाये रखना — न कि चंचल होना, दुःख करना या हताश होना, अपने अन्दर उनकी शक्तिको कार्य करने देना जो तुम्हारा पथ-प्रदर्शन कर सके, ज्ञान, शान्ति और आनन्द दे सके। अगर तुम अपनेको खुला न रख सको तो फिर उसके लिये निरन्तर पर खूब शान्तिसे यह अभीप्सा करो कि तुम उनकी ओर खुल सको।

* * *

प्र०— कुछ असन्तोष पैदा होकर माताजीकी ओर खुल रहे हृदयपर आक्रमण करते हैं।

उ०— इन असन्तोषोंसे पिण्ड छुड़ाओ, ये स्थायी चैत्य उन्मीलनमें रुकावट डालते हैं।

* * *

प्र०— क्योंकि चैत्य अभी-अभी खुलना शुरू कर रहा है, शायद इसीलिये वह इन असन्तोषोंके प्रभावके अधीन हो जाता है?

उ०— चैत्य सदा यही अनुभव करता है कि "माताजी जो करती हैं वह अधिक-से-अधिक भलेके लिये होता है", और वह सब कुछ प्रसन्नतासे स्वीकार करता है। हृदयका प्राणिक भाग ही सुझावोंसे सहजमें प्रभावित हो जाता है।

अन्तःसत्ताका उन्मीलन

प्र०— क्या अन्तःसत्ता माताजीकी ओर आप-से-आप खुल जाती है?

उ०— अन्तःसत्ता साधनाके बिना या फिर जीवनमें कोई चैत्य स्पर्श पाये बिना नहीं खुलती।

३०-११-१९३३

* * *

प्र०– यह कौन-सा भाग है जो लिखनेके द्वारा माताजीकी ओर खुलनेकी चाह-सी अनुभव करता है, तब भी जब कि वही-की-वही चीज दुहरायी जाती रहती है?

उ०– वह आन्तरिक मन हो सकता है, वह चैत्य हो सकता है।

२८-११-१९३३

श्रीमांकी कृपा ग्रहण करना

प्र०– क्या माताजीकी कृपा केवल साधारण होती है?

उ०– साधारण और विशेष दोनों प्रकारकी होती है।

८-२-१९३४

प्र०– जो कुछ वे साधारण रूपमें देती हैं उसे कैसे ग्रहण किया जा सकता है?

उ०– तुम्हें सिर्फ अपने-आपको खोले रखना होगा और फिर जो कुछ तुम्हारे लिये आवश्यक होगा और जो उस समय तुम ग्रहण कर सकोगे वह अपने-आप आयेगा।

१०-२-१९३४

* * *

प्र०– क्या 'पुरुष' ही समस्त सत्तामें होनेवाले माताजीकी करुणाके कार्यको अनुमति देता है?

उ०– हां।

प्र०– अगर 'पुरुष' अनुमति न दे तो क्या इसका मतलब यह है है कि अन्य सत्ताएं भी साधकको माताजीकी कृपा ग्रहण करनेके योग्य बनानेके लिये सामने नहीं आ सकतीं?

उ०– नहीं। पुरुष प्रायः ही पीछे रुक जाता है और अन्य सत्ताओंको अपने स्थानमें अनुमति देने या त्याग देनेका मौका देता है।

प्र०– जब माताजीकी कृपा नीचे साधकके ऊपर उतरती है तो क्या वह 'पुरुष' की अनुमतिसे ही आती है?

उ०– 'अनुमतिसे' कहनेका तुम्हारा तात्पर्य क्या है? माताजीकी कृपा माताजीकी इच्छासे नीचे उतरती है। 'पुरुष' कृपाको स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है।

अप्रैल, १९३३

उन्नतिकी शर्त्त

प्र०– यदि कोई साधक अपनी प्रकृतिकी बाधाओंके कारण बहुत दिनोंके बाद भी अपनेको माताजीकी ओर पूर्ण रूपसे न खोल सके, तो क्या इसका अर्थ यह है कि वह माताजी द्वारा स्वीकृत नहीं होगा?

उ०– ऐसे प्रश्नका कोई अर्थ नहीं है। जो लोग यहां योगकी साधना करते हैं वे माताजी द्वारा स्वीकृत हैं—क्योंकि 'स्वीकृत' का अर्थ है "योगमें गृहीत, शिष्य-रूपमें स्वीकृत।" परन्तु योगमें उन्नति करना और योगमें सिद्धि पाना इस बातपर निर्भर करता है कि कितनी मात्रामें साधक उद्घाटित हुआ है।

२४-६-१९३३

सच्चाई, उद्घाटन और रूपान्तर

प्र०– 'क्ष' कहता है कि श्रीमाताजीने उससे कहा कि अगर सच्चाई पूर्ण रूपसे हो तो रूपान्तर एक ही दिनमें हो जायगा। मैं नहीं समझता कि यह कैसे सम्भव हो सकता है—परिवर्तन और रूपांतर-की एक लम्बी प्रक्रिया महज एक दिनके अन्दर कैसे पूरी हो सकती है!

उ०– सच्चाईसे माताजीका मतलब था एकमात्र भगवान्‌के प्रभावके सिवा अन्य किसी प्रभावकी ओर न खुलना। अब अगर समूची सत्ता — शरीरका प्रत्येक कोषतक — इस अर्थमें सच्ची हो तो अत्यन्त तीव्र रूपान्तरको कौनसी चीज रोक सकती है? अज्ञानकी प्रकृतिके कारण, जिसमेंसे कि साधारण प्रकृति तैयार हुई है, लोग ऐसे नहीं हो सकते, भले ही उनका आलोकित अंग चाहे जितना भी ऐसा होना क्यों न चाहे — इसी कारण एक लम्बी और कष्ट-साध्य क्रियाकी आवश्यकता होती है।

२६-७-१९३४

उद्‌घाटनकी क्रमशः वृद्धि

सर्वदा आरम्भसे ही उद्‌घाटन पूर्ण नहीं होता — सत्ताका एक अंग खुलता है, चेतनाके दूसरे अंग तब भी बन्द पड़े रहते हैं या केवल अधखुले होते हैं — तब-तक अभीप्सा करते रहना चाहिये जबतक सब अंग न खुल जायं। सबसे अच्छे और अत्यन्त शक्तिशाली साधकोंको भी पूर्ण उद्‌घाटनमें समय लगता है; और ऐसा कोई भी आदमी नहीं है जो बिना संघर्षके तुरत सभी चीजोंका त्याग करनेमें समर्थ हुआ हो। इसलिये ऐसा समझनेका कोई कारण नहीं कि अगर तुम पुकारो तो तुम्हारी पुकार नहीं सुनी जायगी — माताजी मानव-प्रकृतिकी कठिनाइयोंको जानती हैं और वे बराबर तुम्हारी सहायता करेंगी। सदा प्रयास करते रहो, सदा पुकारते रहो और तब प्रत्येक कठिनाईके बाद कुछ-न-कुछ प्रगति होगी।

२०-४-१९३५

आन्तर और उच्चतर उद्‌घाटन

नित्य-स्मरणके द्वारा हमारी सत्ता पूर्ण उद्‌घाटनके लिये तैयार होती है। हृदय-के खुल जानेपर श्रीमांकी उपस्थितिका अनुभव होना आरम्भ हो जाता है और, ऊपरकी उनकी शक्तिकी ओर उद्‌घाटित हो जानेपर उच्चतर चेतनाकी शक्ति नीचे शरीरमें उतर आती है और वहां समूची प्रकृतिको बदल देनेके लिये कार्य करती है।

७-८-१९३४

* * *

इस योगकी और कोई पद्धति नहीं है सिवा इसके कि चेतनाको,— अच्छा हो कि हृदयमें,—एकाग्र किया जाय और अपनी सत्ताको हाथमें लेनेके लिये श्रीमां-की उपस्थिति और शक्तिको पुकारा जाय और उनकी शक्तिकी क्रियाके द्वारा चेतनाको रूपान्तरित किया जाय; कोई चाहे तो सिरमें या भौंहोंके बीचमें भी चित्तको एकाग्र कर सकता है, पर बहुतोंके लिये इन स्थानोंमें उद्घाटित होना अत्यन्त कठिन है। जब मन स्थिर हो जाता है, एकाग्रता दृढ़ हो जाती और अभीप्सा तीव्र हो जाती है, तब अनुभूतिका आना आरम्भ होता है। श्रद्धा जितनी ही अधिक होगी उतना ही शीघ्र फल भी दिखायी देनेकी सम्भावना है। बाकी चीजोंके लिये साधकको केवल अपने ही प्रयासपर निर्भर नहीं करना चाहिये, बल्कि भगवान्‌के साथ संस्पर्श स्थापित करने और श्रीमांकी शक्ति और उपस्थितिको ग्रहण करनेकी क्षमता प्राप्त करनेमें सफल होना चाहिये।

* * *

सीधे चैत्य केन्द्रका खुलना केवल तभी आसान होता है जब अहं-केंद्रितता (अहंकार में केंद्रित रहना) बहुत अधिक कम हो जाय और उसके साथ ही श्रीमाताजीके प्रति खूब तीव्र भक्ति भी हो। आध्यात्मिक नम्रता, भगवान्‌के प्रति अधीनता और निर्भरताका बोध आवश्यक है।

१६-७-१९३६

* * *

हां, मनको स्थिर कर देनेपर ही तुम श्रीमांको पुकारने तथा उनकी ओर खुलनेमें समर्थ होगे। शान्तिदायी प्रभाव चैत्य पुरुषका स्पर्श था — वह उन स्पर्शोंमेंसे एक स्पर्श था जो चैत्य उद्घाटनकी तैयारी करते हैं — उस उद्घाटनकी जो अपने साथ आन्तर शान्ति, प्रेम और आनन्दका उपहार लाता है।

१७-९-१९३४

* * *

श्रीमांकी शान्ति तुम्हारे ऊपर विद्यमान है — अभीप्सा तथा शान्त-स्थिर आत्मोद्घाटनके द्वारा वह नीचे उतरती है। जब वह प्राण और शरीरके ऊपर अपना अधिकार जमा लेती है तब समताका आना आसान हो जाता है और

अन्तमें वह स्वाभाविक बन जाती है।

२८-८-१९३३

श्रीमांकी शक्तिकी ओर उद्घाटन और अन्य शक्तियोंसे बचना

श्रीमांकी शक्तिकी ओर अपनेको खुला रखो, पर सब प्रकारकी शक्तियोंपर विश्वास न करो। जब तुम आगे बढ़ते जाओगे और साथ ही सीधे रास्तेपर बने रहोगे तो, एक ऐसा समय आयेगा जब चैत्य पुरुष अधिक प्रमुखताके साथ क्रियाशील हो उठेगा और ऊपरसे आनेवाली दिव्य ज्योति अधिक शुद्धता तथा प्रबलताके साथ कार्य करने लगेगी जिससे कि मानसिक कल्पनाओं तथा प्राणिक रचनाओंके सच्ची अनुभूतिके साथ मिलजुल जानेकी सम्भावना कम हो जायेगी। जैसा कि मैंने तुमसे कहा है, ये न तो अतिमानसिक शक्तियां हैं न हो ही सकती हैं; यह तो तैयारीका एक कार्य है जो एक भावी योगसिद्धिके लिये सारी चीजोंको तैयार कर रहा है।

१८-९-१९३२

* * *

अपने अन्दर माताजीकी शक्तिको काम करने दो, पर किसी मिलावट या उसका स्थान ग्रहण करनेवाली किसी दूसरी चीजसे — वह चाहे अहंकारकी कोई अतिरंजित क्रिया हो या दिव्य सत्यके रूपमें सामने आनेवाली कोई अज्ञानकी शक्ति — बचनेके लिये सावधान रहो। प्रकृतिके अन्दरसे सब प्रकारके अन्धकार और अचेतनाके दूर होनेके लिये विशेष रूपसे अभीप्सा करो।

श्रीमांके प्रति एकनिष्ठता और विश्वासपात्रता

अगर कोई विरोधी शक्ति आये तो हमें उसे स्वीकार नहीं करना चाहिये और न उसके सुझावोंका स्वागत ही करना चाहिये, बल्कि हमें श्रीमांकी ओर मुड़ जाना चाहिये और किसी हालतमें भी उनसे विमुख नहीं होना चाहिये। चाहे कोई अपनेको खोल सके या नहीं, उसे एकनिष्ठ और विश्वासपात्र जरूर बने रहना चाहिये। सच्चाई और विश्वासपात्रता ऐसे गुण नहीं हैं जिनके लिये मनुष्यको योग ही करना पड़े। वे बहुत सीधी-सादी चीजें हैं जिन्हें सत्यकी अभीप्सा करनेवाले किसी भी पुरुष या स्त्रीको प्राप्त करनेमें समर्थ होना चाहिये।

सफल होनेका एकमात्र पथ

तुम्हारी प्रकृतिके एक बहुत ही प्रधान अंगमें अहंपूर्ण व्यक्तित्वकी एक मजबूत रचना है जिसने तुम्हारी आध्यात्मिक अभीप्साके साथ अहन्ता और आध्यात्मिक महत्त्वाकांक्षाका एक हठी तत्त्व मिला दिया है। इस रचनाने अधिक सत्य और अधिक दिव्य किसी चीजको स्थान देनेके लिये कभी भी भंग होना स्वीकार नहीं किया है। अतएव, जब कभी श्रीमाताजीने तुम्हारे ऊपर अपनी शक्ति प्रयुक्त की अथवा जब-जब तुमने स्वयं अपने ऊपर शक्ति खींची तब-तब तुम्हारे अन्दरकी इस रचनाने उस शक्तिको अपने ढंगसे काम करनेसे रोक दिया। इसने स्वयं ही मनकी भावनाओं या अहंकारकी किसी मांगके अनुसार अपनेको गढ़ना आरम्भ कर दिया है और यह अपने 'निजी ढंग'से, अपनी निजी बल, अपनी निजी साधना और अपनी निजी तपस्यासे अपनी निजी सृष्टि करनेकी चेष्टा कर रही है। इस क्षेत्रमें कभी कोई सच्चा आत्मसमर्पण नहीं हुआ है, तुमने कभी भगवती माताके हाथोंमें खुले तौरपर और सहज भावसे अपने-आपको नहीं दिया है। लेकिन यही है अतिमानस योगमें सफलता पानेका एकमात्र रास्ता। योगी, संन्यासी या तपस्वी होना यहांका लक्ष्य नहीं है। यहांका लक्ष्य है रूपांतर और यह रूपान्तर केवल तुम्हारी अपनी शक्तिसे अनन्तगुनी बड़ी एक शक्तिके द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। यह केवल तभी सिद्ध हो सकता है जब तुम सचमुच भगवती माताके हाथोंमें एक बच्चेके समान बन जाओ।

* * *

जो कोई भी माताजीकी ओर मुड़ा हुआ है वह मेरा योग कर रहा है। यह समझना एक भारी भूल है कि व्यक्ति अपने निजी प्रयत्नसे पूर्णयोग "कर" सकता है अर्थात् इस योगके सभी पक्षोंका अनुसरण करके उन्हें पूर्णरूपसे चरितार्थ कर सकता है। कोई मानव प्राणी ऐसा नहीं कर सकता। व्यक्तिको इतना ही करना है कि वह अपनेको माताजीके हाथोंमें सौंप दे और सेवा, भक्ति एवं अभीप्साके द्वारा अपनेको उनकी ओर खोले; तब माताजी अपनी ज्योति और शक्तिके द्वारा उसके अन्दर कार्य करती हैं जिससे साधना संपादित होती है। एक बहुत बड़ा पूर्णयोगी या अतिमानसिक जीव बननेकी महत्त्वाकांक्षा रखना और अपने-आपसे यह पूछना कि कहांतक मैं उस ओर आगे बढ़ा हूं — यह भी एक भूल है। ठीक मनोवृत्ति यह है कि तुम अपने-आपको माताजीको दे दो और सौंप दो और वही बननेकी इच्छा करो जो वे चाहती हैं कि तुम बनो।

शेष सबका निर्णय करना और उसे तुम्हारे अन्दर क्रियान्वित करना माताजीका काम है।

अप्रैल १९३५

* * *

यदि बौद्धिक ज्ञान या मानसिक भावनाओं या किसी प्राणिक वासनाके प्रति आसक्ति होनेके कारण चैत्य नवजन्मको अस्वीकार किया जाय, श्रीमांका नव-जात शिशु बननेसे इन्कार किया जाय, तो फिर साधनामें असफलता ही प्राप्त होगी।

प्र०— अपनी साधनामें, कभी-कभी हम शान्ति, शक्ति, आनन्द इत्यादि-के विशाल अवतरण अनुभव करते हैं, जिन्हें हमारा तुच्छ मानव अहंकार हड़प जाता है और हमारे अन्दर यह भाव भर देता है कि हम माताजीके चुने हुए अतिमानवोंके दलके होंगे। क्या यह भूल नहीं है?

उ०— अतिमानव बननेकी इच्छा करना भूल है। यह इच्छा महज अहंकारको फुलाती है। हम अतिमानसिक रूपान्तर सिद्ध करनेके लिये भगवान्‌के सामने अभीप्सा कर सकते हैं, परन्तु उसे भी तबतक नहीं करना चाहिये जबतक माताजीकी शान्ति, शक्ति, ज्योति और पवित्रताके अवतरणके द्वारा हमारी सत्ता चैत्य और अध्यात्म-भावापन्न न हो जाय।

२२-२-१९३६

प्र०— अतिमानसिक अवतरणके लिये हमें कैसी मनःस्थिति या कैसा मनोभाव रखना चाहिये?

उ०— जहांतक मनःस्थिति या मनोभावका प्रश्न है—इस विषयमें तुम्हें परेशान होनेकी कोई आवश्यकता नहीं। आदिसे अन्ततक एकमात्र आवश्यक शर्त है श्रीमांके प्रति पूर्ण श्रद्धा, उद्घाटन और आत्मदान।

२३-९-१९३५

समर्पणके प्रति प्राणका प्रतिरोध

मैं कह चुका हूँ कि मानवी प्राण किसी दूसरेके द्वारा नियन्त्रित या शासित होना पसन्द नहीं करता और मैंने कहा था कि यह भी एक कारण है जिससे साधक माताजीके प्रति समर्पण करनेमें कठिनाई अनुभव करते हैं। क्योंकि प्राण अपने ही विचारों, आवेगों, कामनाओं और अभिरुचियोंको दृढ़तापूर्वक स्थापित करना चाहता है और जो कुछ उसे पसन्द है वही करना चाहता है, वह यह अनुभव नहीं करना चाहता कि उसके अपने स्वभावकी शक्तिसे भिन्न कोई शक्ति उसे राह दिखा रही या चला रही है; किन्तु माताजीके प्रति समर्पण-का अर्थ यह है कि उसे ये सब व्यक्तिगत वस्तुएं छोड़ देनी होंगी और माताजीकी शक्तिको इसके लिये अवसर देना होगा कि वह उच्चतर सत्य के तरीकोंसे, जो उसके अपने तरीके नहीं हैं, उसे मार्ग दिखाये और चलाये: इसीलिये वह प्रतिरोध करता है, सत्यके प्रकाश और माताजीकी शक्तिसे शासित नहीं होना चाहता, अपनी स्वतन्त्रताके लिये आग्रह और समर्पण करनेसे इनकार करता है। और फिर पस्त और परास्त होनेके तथा वैयक्तिक कुण्ठाके ये विचार भी गलत सुझाव हैं और अपने-आपसे असन्तोष भी लगभग उतना ही हानि-कारक है जितना माताजीसे असन्तोष होगा। वह उस विश्वास एवं साहसको बनाये रखनेमें बाधक होता है जो साधनाके पथपर चलनेके लिये आवश्यक है। इन सुझावोंको तुम्हें अपने अन्दरसे निकाल फेंकना होगा।

८-१०-१९३६

श्रीमांको आत्मसमर्पण करनेकी आवश्यकता

अगर तुम आत्म समर्पण न करो तो फिर माताजीकी ओर खुले रहनेका कोई विशेष आध्यात्मिक अर्थ नहीं है। आत्मदान या समर्पणकी मांग उन लोगोंसे की जाती है जो इस योगका अभ्यास करते हैं, क्योंकि सत्ताकी ओरसे बढ़ता हुआ समर्पण हुए बिना कहीं भी लक्ष्यके समीप पहुँचना एकदम असम्भव है। उनकी ओर खुले रहनेका अर्थ है अपने अन्दर कार्य करनेके लिये उनकी शक्तिका आवाहन करना, और अगर तुम उस शक्तिके प्रति समर्पण नहीं करते तो इसका तात्पर्य हो जाता है अपने अन्दर उस शक्तिको एकदम कार्य न करने देना अथवा केवल इस शर्त्तपर कार्य करने देना कि वह उसी तरह कार्य करे जिस तरह कि तुम चाहते हो, अपने निजी तरीकेसे, जो कि दिव्य सत्यका तरीका है, कार्य न करे। इस तरहका सुझाव साधारणतया किसी विरोधी शक्तिके यहांसे आता है अथवा मन या प्राणके किसी अहंकारपूर्ण अंशसे आता है जो भागवत कृपा

या शक्तिको चाहता तो है पर केवल इसलिये कि वह किसी अपने निजी उद्देश्यके लिये उसका उपयोग करे और यह अंश भागवत उद्देश्यके लिये जीवन यापन करनेके लिये इच्छुक नहीं होता,—जो कुछ वह ले सके वह सब भगवान्‌से ले लेनेके लिये तो वह उत्सुक होता है, पर स्वयं आपने-आपको भगवान्‌के हाथोंमें दे देनेके लिये नहीं। अन्तरात्मा, हमारा सच्चा स्वरूप, इसके विपरीत, भगवान्‌की ओर मुड़ता है और आत्मसमर्पण करनेके लिये केवल इच्छुक ही नहीं होता बल्कि उत्सुक होता है और उससे उसे प्रसन्नता होती है।

इस योगमें साधकसे प्रत्येक मानसिक आदर्शवादी संस्कृतिसे परे चले जानेकी आशा की जाती है। भावनाएं और आदर्श मनसे सम्बन्ध रखते हैं और वे केवल अर्द्ध-सत्य हैं, मन भी, वहुत बार, एक आदर्श बना लेनेसे ही सन्तुष्ट रहता है, आदर्शवादिताके सुखमें डूबा रहता है, और जीवन ज्यों-का-त्यों, अरूपान्तरित अवस्थामें पड़ा रहता है अथवा केवल थोड़ासा और वह भी ऊपरसे देखनेमें ही परिवर्तित होता है। अध्यात्मका साधक उपलब्धिकी चेष्टासे विरत होकर केवल आदर्श बनानेमें ही नहीं लग जाता; आदर्श बनाना नहीं, बल्कि दिव्य सत्यको उपलब्ध करना ही उसका लक्ष्य होता है, चाहे जीवनसे परे जाकर या जीवनमें ही रहते हुए, और इस अवस्थामें यह आवश्यक है कि मन और प्राणको रूपान्तरित किया जाय और यह रूपान्तर भागवती शक्ति, श्रीमांके कार्यके प्रति आत्मसमर्पण किये बिना नहीं हो सकता।

निर्वैयक्तिककी खोज करना उन लोगोंका पथ है जो जीवनसे अलग होना चाहते हैं, पर साधारणतया वे चेष्टा करते हैं अपने निजी प्रयासके बलपर, वे किसी श्रेष्ठतर शक्तिकी ओर अपने-आपको खोलकर या आत्मसमर्पणके पथसे नहीं चलते; क्योंकि, निराकार ऐसी चीज नहीं है जो पथ दिखाती या सहायता करती हो, बल्कि वह ऐसी चीज है जो प्राप्त की जाती है और वह प्रत्येक मनुष्यको अपनी प्रकृतिके पथ और क्षमताके अनुसार उसे प्राप्त करनेके लिये छोड़ देती है। दूसरी ओर, श्रीमांकी ओर अपनेको खोलकर और उन्हें आत्मसमर्पण करके मनुष्य निराकारको भी प्राप्त कर सकता है और सत्यके दूसरे सभी रूपोंको भी।

अवश्य ही आत्मसमर्पण क्रमोन्नतिशील होना चाहिये। कोई भी आदमी आरम्भसे ही पूर्ण आत्मसमर्पण नहीं कर सकता, इसलिये यह बिलकुल स्वाभाविक है कि जब मनुष्य अपने भीतर की ओर ताकता है तो उसका अभाव ही पाता है। पर यह कोई कारण नहीं कि आत्मसमर्पण का सिद्धान्त ही न स्वीकार किया जाय और धीर-स्थिर रूपसे एक-एक स्तर, एक-एक क्षेत्रमें, क्रमशः प्रकृति-

के सभी अंगोंमें उसे प्रयुक्त करते हुए, उसे जीवनमें न उतारा जाय।

* * *

तो यह आत्मसमर्पणका संकल्प है। पर आत्मसमर्पण श्रीमांके प्रति ही होना चाहिये — शक्तिके प्रति भी नहीं, स्वयं श्रीमांके प्रति।

४-१०-१९३६

* * *

यदि चैत्य पुरुष प्रकट हो तो वह तुमसे अपने प्रति नहीं, बल्कि माताजीके प्रति आत्मसमर्पण करनेको कहेगा।

* * *

सबसे उत्तम उपाय है चैत्य पुरुषमें निवास करना, क्योंकि वह सदा ही माताजीके प्रति समर्पित रहता है और दूसरों (अन्य भागों) को भी ठीक रास्तेसे ले जा सकता है। संयम करनेके लिये किसी स्थानमें एकाग्र होनेकी आवश्यकता होती है — कोई तो मनके अन्दर या मनके ऊपर एकाग्र होते हैं, दूसरे हृदयमें एकाग्रता लाते हैं और हृदयके द्वारा चैत्य केंद्रमें।

११-६-१९३३

सच्चा और पूर्ण समर्पण

अगर तुम अपनी साधनामें प्रगति करना चाहते हो तो यह आवश्यक है कि जिस नीति और समर्पणकी बात तुम करते हो उसे सरल, सच्चा और पूर्ण बनाओ। यह तबतक नहीं किया जा सकता जबतक कि तुम अपनी वासनाओंको अपनी आध्यात्मिक अभीप्साके साथ मिलाते हो। यह तबतक नहीं किया जा सकता जबतक कि तुम परिवार, सन्तान या अन्य किसी चीज या मनुष्यके प्रति अपनी प्राणगत आसक्तिका पोषण करते हो। अगर तुम्हें यह योग करना है तो तुम्हें बस एक ही कामना और अभीप्सा, आध्यात्मिक सत्यको ग्रहण करने और उसे अपने सभी विचारों, अनुभवों, क्रियाओं और प्रकृतिके अन्दर अभि-व्यक्त करनेकी कामना और अभीप्सा रखनी चाहिये। तुम्हें किसीके साथ किसी

प्रकारका सम्बन्ध बनानेके लिये लालायित नहीं होना चाहिये। दूसरोंके साथ साधकके सम्बन्ध उसके भीतरसे, जब वह सत्य चेतना प्राप्त कर लेता है और ज्योतिमें निवास करता है, तब उत्पन्न होने चाहिये। वे सम्बन्ध उसके भीतर भगवती माताकी शक्ति और इच्छाके द्वारा, दिव्य जीवन और दिव्य कर्मके लिये आवश्यक अतिमानसिक सत्यके अनुसार, निश्चित होंगे; वे कभी उसके मन और उसकी प्राणगत वासनाओंके द्वारा निश्चित नहीं होने चाहियें। इस बातको तुम्हें अवश्य याद रखना होगा। तुम्हारा चैत्य पुरुष श्रीमांके हाथोंमें अपने-आपको दे देनेकी और सत्यके अन्दर निवास करने और वर्द्धित होनेकी क्षमता रखता है; पर तुम्हारा निम्नतर प्राण-पुरुष आसक्तियों और संस्कारोंसे तथा कामनाकी अपवित्र गतिविधिसे बराबर भरा रहा है और तुम्हारा बाहरी भौतिक मन अपने अज्ञानपूर्ण विचारों और आदतोंको झाड़ फेंकने तथा सत्यकी ओर खुल जानेमें असमर्थ रहा है। यही कारण था कि तुम उन्नति करनेमें असमर्थ रहे, क्योंकि तुम बराबर ही एक ऐसी चीज और ऐसी गतियोंको बनाये रखते थे कि जिन्हें रखने नहीं दिया जा सकता था; कारण दिव्य जीवनमें जो कुछ स्थापित करनेकी आवश्यकता होती है ठीक उसके विपरीत ये सब चीजें थीं। एकमात्र श्रीमां ही तुम्हें इन सब चीजोंसे मुक्त कर सकती हैं, अगर तुम सचमुच ऐसा चाहो, केवल अपनी चैत्य सत्तामें ही नहीं, बल्कि अपने भौतिक मन और अपनी समस्त प्राणिक प्रकृतिमें भी। इस चाहका लक्षण यह होगा कि तुम अपनी व्यक्तिगत धारणाओं, आसक्तियों या कामनाओंको अब और पोसे नहीं रखोगे या उनपर जोर नहीं दोगे, और चाहे दूरी जितनी हो और तुम चाहे जो कुछ भी हो, तुम अपने-आपको खुला हुआ और श्रीमांकी शक्ति और उपस्थितिको अपने साथ और अपने अन्दर कार्य करते हुए अनुभव करोगे और सन्तुष्ट, धीर-स्थिर, विश्वाससे भरपूर बने रहोगे, अन्य किसी चीजका अभाव नहीं अनुभव करोगे और बराबर ही श्रीमांकी इच्छाकी प्रतीक्षा करोगे।

* * *

सब कुछ अपने हृदयमें विराजमान श्रीमांके सामने रख दो जिसमें उनकी ज्योति अच्छे-से-अच्छे परिणाम लानेके लिये क्रिया कर सके।

२१-४-३५

* * *

संसारका जीवन अपने स्वभावमें अशान्तिका क्षेत्र है — ठीक रास्तेसे उस जीवनको पार करनेके लिये जीवन और कर्म भगवान्को समर्पित करने चाहियें और अन्तरस्थ भगवान्की शान्ति पानेकी प्रार्थना करनी चाहिये। जब मन स्थिर हो जाता है तब मनुष्य अनुभव कर सकता है कि भगवती माता जीवनको सहारा दे रही हैं और वह उनके हाथोंमें प्रत्येक चीजको छोड़ सकता है।

१६-४-१९३३

आवश्यक प्रयास

साधनाके विषयमें तुमने जो कहा है वह ठीक है। साधना आवश्यक है और भागवत शक्ति शून्यमें अपना कार्य नहीं कर सकती, बल्कि अवश्य ही वह प्रत्येक व्यक्तिको उसकी प्रकृतिके अनुसार एक ऐसे बिन्दुतक ले जाती है जहां वह यह अनुभव कर सके कि माताजी उसके अन्दर क्रिया कर रही हैं तथा उसके लिये सभी कुछ कर रही हैं। तबतक साधककी अभीप्सा, आत्म-निवेदन, माताजीकी क्रियाओंको सहमति और सहारा देना, जो कुछ भी मार्गमें आड़े आये उस सबका परित्याग करना अत्यन्त आवश्यक है — अनिवार्य है।

२५-९-१९३६

साधकसे जो प्रयास करनेकी मांग की जाती है वह है अभीप्सा, त्याग और आत्मसमर्पण। अगर ये तीनों चीजें की जायं तो फिर बाकी चीजें श्रीमांकी कृपासे और तुम्हारे अन्दर उनकी शक्तिकी क्रियाके कारण अपने-आप ही आयेंगी। परन्तु इन तीनोंमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है आत्मसमर्पण और उसका प्रथम आवश्यक स्वरूप है कठिनाईके समय विश्वास, भरोसा और धैर्य। यह कोई नियम नहीं है कि विश्वास और भरोसा केवल तभी रह सकते हैं जब कि अभीप्सा भी हो। बल्कि उसके विपरीत, जब कि तामसिकताके दबावके कारण अभीप्सा नहीं होती तब भी विश्वास, भरोसा और धैर्य विद्यमान रह सकते हैं। यदि अभीप्साके प्रसुप्त रहनेपर विश्वास और धैर्य साथ छोड़ दें तब उसका मतलब यह होगा कि साधक एकमात्र अपने निजी प्रयासपर ही निर्भर करता है — उसका अर्थ होगा — "ओह, मेरी अभीप्सा असफल हो गयी है, इसलिये अब मेरे लिये कोई आशा नहीं। मेरी अभीप्सा असफल हो रही है, इसलिये भला माताजी भी क्या कर सकती हैं?" पर, इसके विपरीत, साधकका भाव यह होना चाहिये, "कोई बात नहीं, मेरी अभीप्सा फिरसे वापस आयेगी। इस बीच, मैं जानता हूं कि जब मैं श्रीमांको अनुभव नहीं करता तब भी वे

मेरे साथ हैं; वे मुझे अन्धकारमय घड़ियोंसे भी पार करेंगी।" यही पूर्णतः यथार्थ भाव है जिसे तुम्हें अवश्य बनाये रखना चाहिये। जिनमें यह भाव होता है, अवसाद उनका कुछ भी नहीं कर सकता; अगर अवसाद आता भी है तो उसे किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर वापस लौट जाना पड़ता है। यह चीज तामसिक आत्मसमर्पण नहीं है। तामसिक समर्पण तो उसे कहते हैं जब मनुष्य कहता है कि "मैं कुछ भी नहीं करूँगा; श्रीमां सब कुछ कर दें। अभीप्सा, त्याग और आत्मसमर्पण भी आवश्यक नहीं हैं। माताजी ही मेरे अन्दर यह सब कर दें।" इन दोनों भावोंमें बहुत बड़ा अन्तर है। एक भाव तो है उस पीछे हटनेवालेका जो कुछ भी नहीं करना चाहता और दूसरा है उस साधकका जो अपनी शक्ति भर प्रयास करता है, पर जब वह कुछ समयके लिये अकर्मण्यता-में जा गिरता है और चीजें विपरीत हो जाती हैं तब भी वह सब चीजोंके पीछे विद्यमान श्रीमांकी शक्ति और उपस्थितिमें अपना विश्वास बराबर बनाये रखता है और उस विश्वासके द्वारा विरोधी शक्तिको चकमेंमें डाल देता है और साधना-की क्रियाको फिर वापस ले आता है।

२६-१०-१९३६

माताजीकी गोदमें

प्र०— मुझे ठीक तरहसे ध्यान करनेमें बड़ी कठिनाई मालूम पड़ती है । जब कि मैं ठीक-ठीक ध्यान नहीं कर पाता तब क्या मेरे लिये सबसे उत्तम यह न होगा कि मैं यह कल्पना करूँ कि मैं चिरदिन माताजीकी गोदमें ही पड़ा हूँ ?

उ०— यही सबसे उत्तम प्रकारका ध्यान है।

१२-८-१९३५

VI

श्रीमाताजीकी शक्तिकी क्रिया

श्रीमाताजीकी शक्तिकी क्रिया

श्रीमांकी शक्ति

श्रीमाताजीकी शक्तिके बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता।

* * *

सब कुछ श्रीमांकी शक्तिकी क्रियाके द्वारा, जिसे तुम्हारी अभीप्सा, भक्ति और समर्पणकी सहायता प्राप्त हो, सिद्ध करना होगा।

३०-१०-१९३४

माताजीकी शक्ति क्या है?

प्र०— आप प्रायः ही "माताजीकी शक्ति" की बात कहते हैं। वह क्या है?

उ०— वह है भागवत शक्ति जो अज्ञानका निवारण करने और मानव प्रकृतिको दिव्य प्रकृतिमें परिवर्तित करनेके लिये कार्य करती है।

१८-६-१९३३

प्रकृतिकी शक्ति और श्रीमांकी शक्ति

जब मैं श्रीमांकी शक्तिकी बात कहता हूँ तब मैं प्रकृतिकी शक्तिकी बात नहीं कहता जिसके भीतर अज्ञानकी चीजें होती हैं, बल्कि भगवान्‌की उच्चतर शक्ति की बात कहता हूँ जो प्रकृतिका रूपान्तर करनेके लिये ऊपरसे अवतरित होती है।

नहीं, माताजीका कोई इरादा नहीं था। तुम स्वयं ही उनके पास आनेके कारण अपनी भूलके विषयमें सचेतन हो गये।

श्रीमांकी उच्चतर शक्तिका अवतरण और उसकी क्रिया

एक ऐसी शक्ति है जो नयी चेतनाके विकासके साथ आती है और तुरत उसके

साथ-साथ बढ़ती है तथा उसके घटित होने और परिपूर्ण बननेमें सहायता करती है। यह योगशक्ति है। यह हमारी आन्तर सत्ताके सभी केंद्रों (चक्रों) में कुंडलित होकर सोयी पड़ी है और सबसे नीचेके तलमें जो रूप है उसे तन्त्रोंमें कुंडलिनी शक्ति कहा गया है। परन्तु यह हमारे ऊपर, हमारे सिरके ऊपर दिव्य शक्तिके रूपमें भी विद्यमान है— वहां वह कुंडलित, निर्वतित, प्रसुप्त नहीं है, बल्कि जाग्रत्, चेतन, शक्तिपूर्ण, प्रसारित और विशाल है; यह वहां अभिव्यक्त होनेके लिये प्रतीक्षा कर रही है और इसी शक्तिकी ओर — श्रीमांकी शक्तिकी ओर — हमें अपने-आपको खोलना होगा। यह शक्ति मनके अन्दर एक दिव्य मानस-शक्ति या एक विराट् मानस-शक्तिके रूपमें प्रकट होती है और यह ऐसे प्रत्येक कार्यको कर सकती है जिसे व्यक्तिगत मन नहीं कर सकता; यह उस समय यौगिक मानस-शक्ति बन जाती है। जब यह उसी तरह प्राण या शरीरमें प्रकट होती और कार्य करती है तब यह वहां एक यौगिक प्राण-शक्ति या यौगिक शरीर-शक्तिके रूपमें दिखायी देती है। यह बाहर और ऊपरकी ओर फूटकर तथा नीचेकी ओरसे विशालतामें फैलकर इन सभी रूपोंमें जागृत हो सकती है अथवा यह अवतरित हो सकती है और वहां वस्तुओंके लिये एक सुनिश्चित शक्ति बन सकती है; यह नीचेकी ओर शरीरमें बरस सकती है, वहां कार्य करके, अपना राज्य स्थापित करके, ऊपरसे विशालताके अन्दर प्रसारित होकर हमारे अन्दरके सबसे नीचेके भागोंको हमारे ऊपरके उच्चतम भागोंके साथ जोड़ सकती है, व्यक्तिको एक विराट् विश्वभावमें या निरपेक्षता और परात्परतामें ले जाकर मुक्त कर सकती है।

निश्चय ही, एक अर्थमें उच्चतर शक्तियोंका अवतरण श्रीमांका ही निजी अवतरण है — क्योंकि वास्तवमें वही उन सबमें नीचे आती हैं।

जब शान्ति स्थापित हो जाती है तब यह उच्चतर या भागवत शक्ति ऊपरसे उतर सकती है और हमारे अन्दर कार्य कर सकती है। साधारणतया यह पहले सिरमें उतरती है और आन्तर मनके चक्रोंको मुक्त करती है, फिर हृदय-केंद्रमें आती है और चैत्य तथा भावमय पुरुषको पूर्ण रूपसे मुक्त करती है, फिर नाभिचक्रमें और दूसरे प्राण-चक्रोंमें आकर आन्तर प्राणको मुक्त करती है, उसके बाद मूलाधार और उससे नीचे उतरकर आन्तर भौतिक सत्ताको मुक्त करती हैं। यह एक साथ ही पूर्णता और मुक्तिके लिये कार्य करती है; यह समस्त प्रकृतिके एक-एक अंगको लेती है और उनपर कार्य करती है, जो कुछ त्याग करने लायक हो उसे त्याग देती है, जो कुछ उन्नत करने लायक हो उसे उन्नत करती है और जो कुछ उत्पन्न करना हो उसे उत्पन्न करती है। यह एकीभूत करती, सुसमंजस बनाती और प्रकृतिमें एक नया छन्द स्थापित करती

है। यह ऊंची और ऊंचीसे ऊंची शक्तिको तथा उच्चतर प्रकृतिके स्तरोंको, यदि वे साधनाका लक्ष्य हो तो, तब तक नीचे उतार सकती है जबतक अति-मानसिक शक्ति और जीवनको उतार लाना सम्भव न हो जाय। इन सब बातों-में हृदय-केंद्रमें अवस्थित चैत्य पुरुषके कार्यके द्वारा तैयारी होती, सहायता मिलती और कार्य अग्रसर होता है; चैत्य पुरुष जितना ही अधिक खुला हो, सामने और सक्रिय हो, शक्तिकी क्रिया उतनी ही अधिक क्षिप्र, सुरक्षित और सहज हो सकती है। हृदयमें जितना ही अधिक प्रेम, भक्ति और समर्पणका भाव बढ़ता है, साधनाका विकास उतना ही तेज और पूर्ण बन जाता है। क्योंकि अवतरण और रूपान्तरके साथ साथ भगवान्के संग सम्बन्ध और एकत्व भी बढ़ता ही रहता है।

यही है साधनाका मूल सिद्धान्त। इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि यहांपर सबसे प्रधान दो बातें हैं, हृदय और मनके पीछे और ऊपर जो कुछ है उस सबकी ओर हृदय-केन्द्र और मानस-केन्द्रोंका खुलना। कारण, हृदय चैत्य पुरुष-की ओर खुलता है और मानस-केन्द्र उच्चतर चेतनाकी ओर खुलते हैं तथा चैत्य पुरुष और उच्चतर चेतनाके बीचका चक्र ही सिद्धिका प्रधान साधन है। पहला उद्घाटन हृदयमें ध्यान करनेसे, अपने अन्दर अभिव्यक्त होनेके लिये तथा चैत्य पुरुषके द्वारा समस्त प्रकृतिको अधिगत करने और उसका पथ-प्रदर्शन करनेके लिये भगवान्का आवाहन करनेसे होता है। साधनाके इस अंशके प्रधान सहायक हैं अभीप्सा, प्रार्थना, भक्ति, प्रेम और आत्मसमर्पण — साथ ही उन सब चीजोंका त्याग भी करना जरूरी है जो हमारी अभीप्सित वस्तुके मार्गमें बाधक हों। दूसरा उद्घाटन होता है सिरमें (पीछे चलकर सिरके ऊपर) चेतनाको केन्द्रित करनेसे तथा सत्ताके अन्दर दिव्य शान्ति, ज्योति, ज्ञान और आनन्दके अवतरणके लिये — पहले शान्तिके लिये अथवा शान्ति और शक्ति एक साथ दोनोंके लिये — अभीप्सा करने, पुकारने और स्थायी संकल्प बनाये रखनेसे। अवश्य ही कुछ लोग पहले प्रकाश प्राप्त करते हैं या पहले आनन्द अथवा ज्ञानका सहसा नीचेकी ओर प्रवाह। कुछ लोगोंमें पहले एक ऐसा उद्घाटन होता है जो उनके सामने ऊपर की एक विशाल अनन्त नीरवता, शक्ति, ज्योति या आनन्दको प्रकट करता है और उसके बाद या तो वे उसमें आरोहण करते हैं या ये चीजें निम्नतर प्रकृतिमें अवतरित होना आरम्भ करती हैं। दूसरे लोगोंमें या तो अवतरण पहले सिरमें, फिर नीचे हृदय-स्थान-तक, फिर नाभि और उसके नीचेतक और समस्त शरीर भरमें होता है, अथवा शान्ति, प्रकाश, विशालता या शक्तिका अन्य कोई अवर्णनीय उद्घाटन — उद्घाटनके किसी बोधके बिना ही, — अथवा विश्व-चेतनाकी ओर ऊर्ध्वमुखी

उद्घाटन या एकाएक विस्तारित हो जानेवाले मनके भीतर ज्ञानका विस्फोट होता है। जो कुछ भी आवे उसका स्वागत करना चाहिये — क्योंकि सबके लिये कोई एक ही अखण्ड नियम नहीं है — परन्तु पहले यदि शान्ति न आयी हो तो खूब सावधानी रखनी चाहिये कि कहीं हम आह्लादसे फूल न उठें या अपनी समतोलता ही न खो बैठें। जो हो, सबसे प्रधान क्रिया वह है जब कि भागवती शक्ति, माताजीकी शक्ति नीचे आती है और अधिकार स्थापित करती है, क्योंकि तभी चेतनाका संगठन आरम्भ होता है और योगकी विशालतर नींव पड़ती है।

* * *

जो कुछ तुम नीचेकी ओर बहते हुए अनुभव करते हो वह अवश्य ही श्रीमांकी ऊर्ध्व शक्ति होगी। यह साधारणतया सिरके ऊपरसे प्रवाहित होती है और सबसे पहले मानस केन्द्रों (सिर और गर्दन) में कार्य करती है और उसके बाद छाती और हृदयमें उतरती है और फिर समस्त शरीरकी क्रियाके भीतर चली जाती है।

निश्चय ही इसी क्रियाका प्रभाव तुम अपने सिरके ऊपरसे कंधोंतक अनुभव करते होगे। ऊपरसे जो शक्ति उतरती है वह वह शक्ति है जो चेतनाको एक उच्चतर आध्यात्मिक सत्ताकी चेतनामें रूपान्तरित करनेके लिये कार्य करती है। उससे पहले श्रीमांकी शक्ति चैत्य, मनोमय, प्राणमय और स्वयं अन्नमय स्तरमें चेतनाका पोषण, पवित्रीकरण और चैत्य रूपान्तर करनेके लिये कार्य करती है।

जिस प्रवाहको तुम अपने सिरपर उतरते हुए तथा अपने अन्दर बरसते हुए अनुभव करते हो वह निःसन्देह माताजीकी शक्तिकी धारा है; उसका अनुभव प्रायः इसी प्रकार हुआ करता है; वह शरीरके अन्दर धाराओंके रूपमें प्रवाहित होता है और वहां चेतनाको मुक्त तथा परिवर्तित करनेके लिये कार्य करता है। जैसे-जैसे चेतना परिवर्तित और विकसित होगी वैसे-वैसे तुम स्वयं इन चीजोंका अर्थ और इनकी कार्य-पद्धतिको समझने लगोगे।

२१-८-१९३६

सिरके चारों ओर श्रीमांकी शक्तिका स्पंदन अनुभव करना मानसिक भावना अथवा मानसिक सिद्धिसे भी अधिक कुछ है, वह एक अनुभूति है। यह स्पंदन, निस्संदेह, श्रीमांकी शक्तिका कार्य है जिसका अनुभव पहले सिरके ऊपर या

उसके चारों ओर होता है, फिर बादमें सिरके भीतर होता है। दबावका अर्थ यह है कि मन और उसके चक्रोंको खोलनेके लिये वह कार्य कर रही है जिसमें वह उनमें प्रवेश कर सके। मानस-चक्र सिरमें हैं, एक तो उसके ऊपरी सिरेपर और उससे ऊपर है, दूसरा दोनों आंखोंके बीचमें और तीसरा गलेमें है। यही कारण है कि तुम स्पन्दनको सिरके चारों ओर और कभी-कभी गर्दनतक अनुभव करते हो, पर उससे नीचे नहीं। साधारणतः यह ऐसा ही होता है, क्योंकि केवल मनको घेर लेने और उसमें प्रवेश करनेके बाद ही वह नीचेकी ओर भावावेश और प्राणके क्षेत्रों (हृदय, नाभि आदि) में जाती है—यद्यपि कभी-कभी वह शरीरमें प्रवेश करनेसे पहले बहुत अधिक चारों ओरसे घेरे हुए होती है।

२४-३-१९३७

तुम्हारी अनुभूतियोंका अर्थ यह है—

(१) ऊपरसे भगवती माताकी शक्ति तुम्हारे ऊपर अवतरित हो रही है और अपने सिरके ऊपर तुम जो दबाव अनुभव करते हो और जिन क्रियाओंके विषयमें तुम सचेतन हुए हो, वे सब उन्हींकी हैं।

अपने-आपको पूर्ण रूपसे उनके हाथोंमें दे दो, पूरा भरोसा रखो, जो कुछ घटित हो उसे सावधानीके साथ और ठीक-ठीक देखो और उसे यहां लिख भेजो। विशेष रूपसे उपदेश देनेकी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि जो कुछ तुम्हारे लिये आवश्यक है वह किया जा रहा है।

(२) पहला दबाव तुम्हारे मनपर था। मनके केन्द्र हैं—(अ) सिर और उसके ऊपर, (ब) आंखोंके बीच ललाटका चक्र, (स) गलेका और प्राणगत-मनोमय (भावावेगका) और इंद्रियबोधात्मक मानस-चक्र छातीसे लेकर नीचेकी ओर हैं। यही पीछेवाली चीज है जो कि प्रथम प्राण है और जिसके विषयमें तुम सचेतन हुए हो। शक्तिका कार्य था तुम्हारे इन दो भागोंको विस्तारित करना और ऊपर उठाकर उन्हें तुम्हारे सिरके ऊपरकी उच्चतर चेतनाके निम्नतम केन्द्रकी ओर ले जाना, जिसमें इसके बाद वे दोनों ही वहांसे सचेतन रूपमें परिचालित हो सकें और ये दोनों ही एक ऐसी विशाल विश्वव्यापी चेतनामें संचरण करें जो शरीरसे सीमित न हो।

(३) दूसरा प्राण, चंचल प्राण, जिसके विषयमें तुम सचेतन हुए, वह है प्राणमय पुरुष, कामना-वासना और प्राणिक गतियोंवाला पुरुष। दिव्य शक्तिका कार्य चंचल गतियोंको शान्त करनेके लिये और मनकी तरह उसे चेतनामें विशाल बनानेके लिये प्रयुक्त किया गया है। जिस विशाल शरीरका तुम्हें

अनुभव हुआ वह प्राणमय शरीर था, स्थूल शरीर नहीं।

(४) तुम्हारी साधनाका आधार निश्चल-नीरवता और स्थिरता होना चाहिये।

तुम्हें स्वयं अपने अन्दर और अपने चारों ओर विद्यमान जगत्के प्रति अपने मनोभावमें भी अत्यन्त अचंचल और स्थिर बने रहना चाहिये और सर्वदा अधिकाधिक अचंचल और स्थिर बनते जाना चाहिये। अगर तुम ऐसा कर सको तो तुम्हारी साधना धीरे-धीरे प्रगति कर सकती है और कम-से-कम क्लेश और उपद्रवके साथ अपने-आपको विस्तारित कर सकती है।

जो दिव्य शक्ति तुम्हारे अन्दर कार्य कर रही है उसपर भरोसा रखते हुए चुपचाप आगे बढ़ते जाओ।

* * *

सिरके ऊपरका यह बोझ या दबाव सदा इस बातका चिह्न होता है कि माताजी की शक्तिका सम्बन्ध तुम्हारे साथ है और वह तुम्हारी सत्ताको घेरने, आधारमें प्रवेश करने तथा उसमें फैल जानेके लिये ऊपरसे दबाव डाल रही है;—साधारणतया यह चक्रोंके भीतरसे होकर क्रमशः नीचेकी ओर जाती है। कभी तो यह पहले शान्तिके रूपमें आती है, कभी शक्तिके रूपमें, कभी माताजीकी चेतना और उनकी उपस्थितिके रूपमें और कभी आनन्दके रूपमें।

पहले जब तुमने इसे खो दिया था तब या तो तुम्हारे अपने अन्दर प्राणगत अपूर्णताके ऊपर उठ आने या बाहरसे कोई आक्रमण होनेके कारण ही वैसा हुआ होगा। दबावके सदा ही बने रहनेकी आवश्यकता नहीं है; पर यदि गति स्वाभाविक रूपसे चलती रहे तो प्रायः वह दबाव बार-बार आता है अथवा तबतक उसका आना जारी रहता है जबतक आधार खुल नहीं जाता और फिर उच्चतर चेतनाके नीचे उतरनेमें कोई बाधा नहीं रह जाती।

१८-९-१९३३

* * *

यह ऊपरसे मेरुदंडके द्वारा माताजीकी शक्तिका अवतरण है; यह एक जानी हुई क्रिया है। अवतरण दो या तीन प्रकारके होते हैं। एक है मेरुदंडपर अवलंबित चक्रोंके आधारको इस प्रकार स्पर्श करना। दूसरा है सिरके भीतरसे होकर शरीरमें तबतक एक-एक स्तर उतरते जाना जबतक कि समूचा शरीर

न भर जाय और चेतनाके सभी चक्र न खुल जायं। तीसरा है वह अवतरण जो बाहरसे आधारको घेर लेता है।

१-२-१९३४

* * *

माताजीने जो कुछ किया वह था आग जला देना — अगर तुमने उसका अनुभव नहीं किया तो इसका कारण अवश्य ही यह होगा कि बाहरी आवरण ने अभी उसे बाहरी चेतनातक नहीं आने दिया होगा। परन्तु आन्तर सत्तामें किसी चीजने उसे अवश्य रखा होगा और अधिक खुले रूपमें अपनेको खोल रखा होगा — इसी बातको नींदके समयकी तुम्हारी अनुभूति सूचित करती है, क्योंकि वह स्पष्ट ही आन्तर सत्तामें होनेवाली श्रीमांकी एक क्रिया थी। मेरुदंडमें धाराका अवतरण सर्वदा माताजीकी शक्तिका अवतरण होता है जो चक्रोंको खोलनेके लिये उनके अन्दर कार्य करती है, और धारामें जो एक प्रबल शक्तिका तुमने अनुभव किया वह स्पष्ट ही इस बातका सबूत है कि वहां एक विशालतर उद्घाटन हुआ है। तुम्हें बस लगे रहना है और अग्नि तथा शक्ति दोनोंका प्रभाव ऊपरी चेतनामें प्रकट होगा — कारण, बराबर ही आन्तर सत्तामें पर्देके पीछे तैयारीका कार्य तबतक होता रहता है जबतक पर्दा पतला होते-होते दूर नहीं हो जाता और फिर बाहरी चेतनाके सहयोगके साथ समस्त क्रिया की जा सकती है।

२२-४-१९३७

* * *

कुछ चीज तुम्हारे अन्दर बढ़ रही है, पर यह एकदम भीतर है — फिर भी यदि दृढ़ आग्रह बना रहे तो यह बाहर आनेके लिये बाध्य होगी। उदाहरणके लिये धाराओंके साथ इस सफेद चमचमाती हुई ज्योतिको लें; यह इस बातका निश्चित चिह्न है कि शक्ति (माताजीकी) आधारमें प्रवेश कर रही है और कार्य कर रही है, परन्तु यह नींदमें तुम्हारे पास आयी — अर्थात् आन्तर सत्तामें, अभी पर्देके पीछे ही आयी। जिस क्षण यह बाहर आयेगी, यह सूखापन जाता रहेगा।

५-२-१९३७

* * *

प्र०— सायङ्कालसे शक्तिकी क्रिया आरम्भ हो गई है। माताजीके सायं-दर्शनके समय मेरी चेतनाने अपने-आपको पहलेके किसी भी अवसरकी अपेक्षा अधिक विस्तृत रूपमें उनकी ओर खोल दिया।

उ०— बहुत अच्छा। शक्ति साधारणतया इसी प्रकार, बीच-बीचमें रुक-रुककर, कार्य करती है और प्रत्येक वार अधिक प्रबल और पूर्ण बनकर लौटती है।
४-८-१९३४

श्रीमांकी विश्वगत चेतनाके साथ एकत्व

प्रत्येक व्यक्तिमें मन, प्राण और शरीरकी चेतना साधारणतया अपने-आपमें बन्द रहती है; वह संकीर्ण होती है, विशाल नहीं होती, अपने-आपको ही प्रत्येक चीजके केन्द्रके रूपमें देखती है, अपनी निजी धारणाओंके अनुसार ही चीजोंका मूल्यांकन करती है—वह वास्तवमें किसी चीजको उसके सच्चे स्वरूप में नहीं जानती। पर, योगसाधनाके द्वारा जब मनुष्य सच्ची चेतनाकी ओर उद्घाटित होना आरम्भ करता है तब यह बाधा भंग होना आरम्भ कर देती है। मनुष्य अनुभव करता है कि उसका मन विस्तारित हो रहा है, यहांतक कि अन्तमें भौतिक चेतना भी अधिकाधिक विस्तारित होने लगती है और उसके फलस्वरूप अन्तमें तुम सभी वस्तुओंको अपने अन्दर, सभी वस्तुओंके साथ अपनेको एक अनुभव करने लगते हो। उस समय तुम माताजीकी विश्वगत चेतनाके साथ एक हो जाते हो। यही कारण है कि तुम अपने मनको विशाल होते हुए अनुभव कर रहे हो। परन्तु मानव-मनके ऊपर और भी बहुत कुछ है और यही वह चीज है जिसे तुम अपने सिरके ऊपर एक जगत्के समान अनुभव करते हो। ये सभी हमारे योगकी साधारण अनुभूतियां हैं। यह महज आरम्भ है। परन्तु इस चीजके विकसित होते रहनेके लिये यह आवश्यक है कि तुम अधिकाधिक अचंचल होओ, जो कुछ आवे उसे अत्यन्त उत्सुक और उत्तेजित हुए बिना धारण करनेमें अधिकाधिक सक्षम होओ। पहली आवश्यक चीजें हैं शान्ति और स्थिरता और उनके साथ-साथ विशालता—जो कोई प्रेम या आनन्द आवे, जो कोई शक्ति, जो कोई ज्ञान आवे, शान्तिके अन्दर तुम उसे धारण कर सकते हो।

विश्वव्यापी और रूपान्तरकारी शक्ति

प्र०– जितना ही अधिक हम व्यक्तिगत रूपसे अपनेको माताजीकी ज्योति और शक्तिकी ओर खोलते हैं उतना ही अधिक उनकी शक्ति विश्वके अन्दर स्थापित होती है — क्या यह सच है ?

उ०– रूपान्तर करनेवाली शक्ति स्थापित होती है — विश्वगत शक्ति तो वहां सदा ही विद्यमान रहती है।

१३-८-१९३३

माताजीकी शक्ति और गुण

प्र०– जब कोई अनुभव करता है कि उसके द्वारा माताजीकी शक्ति कार्य कर रही है, उसकी अपनी शक्ति नहीं, तब क्या केवल माताजीकी शक्ति ही उसके कार्योंमें क्रियाशील होती है और (प्रकृतिके) गुण चुपचाप पड़े रहते हैं ?

उ०– नहीं, गुण विद्यमान होते हैं और सुषुप्त नहीं होते — क्योंकि वे मध्यवर्ती होते हैं (अर्थात् वे मध्यमें रहनेवाली चीजें हैं)। यदि शक्ति और आंतर चेतना बहुत प्रबल हों तो रजस्की प्रवृत्ति होती है कि तपस्के किसी निम्नतर रूपकी तरह बन जाये और तमस्की प्रवृत्ति होती है कि अधिकांशमें एक प्रकारके जड़ शमकी तरह बन जाये। इसी ढंगसे रूपान्तर आरम्भ होता है, पर साधारणतया इसकी प्रक्रिया बड़ी धीमी होती है।

२९-१-१९३६

जड़तत्त्वमें माताजीकी शक्ति

प्र०– यह कब कहा जा सकता है कि जड़तत्त्व भगवान्के लिये तैयार हो गया है ?

उ०– अगर जड़-चेतना खुल जाय, माताजीकी शक्तिको अपने अन्दर कार्य करते हुए अनुभव करे और उसका प्रत्युत्तर दे तो यह कहा जा सकता है कि

वह तैयार है।

११-६-१९३३

***

यह (माताजीकी चेतना) शरीरके सभी अणुओंमें रह सकती है, क्योंकि सब कुछ गुप्त रूपसे सचेतन है।

५-१०-१९३३

***

माताजीकी शक्ति शरीरमें पूर्ण रूपसे कार्य करे इसके लिये यह आवश्यक है कि केवल मनमें ही नहीं स्वयं शरीरमें भी श्रद्धा हो और वह अपने-आपको खोले।

९-१०-१९३३

***

प्र०— क्या माताजी आन्तरिक भागोंके तैयार कर लेनेके बाद ही भौतिक प्रकृतिपर कार्य करना आरम्भ करती हैं?

उ०— साधारण क्रम यही है, किन्तु आन्तरिक भागोंमें कुछ कार्य सर्वदा, सभी समयोंमें, चलता रहता है, क्योंकि वे (आन्तरिक भाग और भौतिक प्रकृति) परस्पराश्रित हैं।

अवचेतना और पारिपार्श्विक चेतनापर माताजीका प्रभाव

प्र०— प्रातःकालसे ही मेरे अन्दर माताजीकी चेतनामें खो जानेकी उत्कट अभीप्सा उठ रही थी। तब मुझे भान हुआ कि मेरी चेतना बारंबार ऊपर उठ रही है और वहीं अपना आसन जमा रही है। प्रणामसे पूर्व मुझे ऐसा लगा मानों नाभिके पासके और नीचेके भाग भी ऊपरकी ओर खिंचे चले जा रहे हों। प्रणामके बाद मैंने अपने चारों ओर कुछ समयतक एक भिन्न प्रकारका वातावरण

लगभग ठोस रूपमें अनुभव किया। अतएव मैंने अनुमान किया कि माताजीने मेरी अवचेतना और पारिपार्श्विक चेतनापर एक प्रबल आध्यात्मिक प्रभाव डाला होगा।

उ०— यह बहुत अच्छा है, अवचेतना और इर्दगिर्दकी चेतनाके विषयमें तुम्हारा कहना ठीक है; क्योंकि प्रभाव वहीं पर पड़ना चाहिये जिसमें कि चेतना ऊपर की ओर जाय और खुली शान्ति, ज्योति और आनन्दमें अपने-आपको दूर-दूरतक फैला दे तथा नीचे अवचेतनातकमें उन्हें उच्चतर चेतनाके साथ जोड़ दे। इसी अवस्थामें माताजीकी चेतनामें जानेपर अहंकारका लोप होना सम्भव होता है।

२५-६-१६३५

माताजीकी शक्तिको आत्मसात् करना

माताजीकी शक्तिको जब कोई ग्रहण करता है तब उसके लिये सबसे उत्तम तरीका यह है कि वह तबतक शांत-स्थिर बना रहे जबतक वह शक्ति उसके अंदर आत्मसात् न हो जाय। उसके बाद वह ठीक रहती है, बाहरी क्रिया या मिलने-जुलनेसे खो नहीं जाती।

* * *

अगर ध्यान समतोलता, शान्ति, एकाग्रताकी अवस्था या दबाव या प्रभाव भी ले आता है तो वह कर्ममें भी जारी रह सकता है, बशर्ते कि चेतनाको शिथिल करके या छितराकर साधक उसे दूर न फेंक दे। यही कारण था कि माताजी चाहती थीं कि लोग प्रणाम या ध्यानके समय न केवल एकाग्र रहें बल्कि निश्चल-नीरव बने रहें और बादमें अपने अन्दर ग्रहण करें या अपना अंश बना लें और ठीक इसीलिये कि माताजी उनके अन्दर जो कुछ दें उसका असर बना रहे और उसके द्वारा मनोभावमें परिवर्तन आये, उन्होंने इस बातपर भी जोर दिया कि ऐसी चीजोंसे बचा जाय जो व्यक्तिको ढीला-ढाला, अस्तव्यस्त या छिन्न-भिन्न कर देती हैं। पर मुझे भय है, अधिकतर साधकोंने न तो कभी समझा है और न इस तरह की किसी चीजका अभ्यास ही किया है—वे उनके उपदेशोंको न तो पकड़ पाये और न समझ ही सके।

* * *

उन्नति करनेके एक स्थिर और सुदृढ़ संकल्पको अपने अन्दर जम जाने दो; जो कुछ श्रीमाताजी तुम्हारे अन्दर डालती हैं उसे चुपचाप, लगातार और सम्पूर्ण रूपमें अपनानेका अभ्यास डालो। यही उन्नति करनेका पक्का रास्ता है।

मार्च, १९२८

माताजीकी शक्तियोंको खींचना

जब कोई खुला हो, अत्यन्त उत्सुक हो और शक्ति, अनुभूति आदिको चुपचाप उतरने देनेके वदले उन्हें नीचे खींच लानेकी चेष्टा करे तो उसीको हम 'खींचना' कहते हैं। वहुत-से लोग माताजीकी शक्तियोंको खींचते हैं—जो कुछ वे आसानी-से हजम कर सकते हैं उससे कहीं अधिक ग्रहण करनेकी चेष्टा करते हैं और क्रियामें गड़बड़ी उत्पन्न करते हैं।

अप्रैल, १९३५

* * *

प्र०— खींचनेका क्या अर्थ है? जब हम प्राणिक कामनाके साथ माताजीसे कोई चीज चाहते हैं तो क्या वह 'खींचना' होता है? उसका हमपर क्या प्रभाव होता है?

उ०— हां; वह एक प्रकारका खींचना है—उसका परिणाम होता है चेतनाको अन्ध और अस्तव्यस्त कर देना। परन्तु एक और प्रकारका खींचना भी होता है जो ठीक वस्तुओंके लिये होता है। वह अपने-आपमें बुरा नहीं और उसका प्रयोग बहुत-से लोग करते हैं—उदाहरणार्थ, ज्योति, शक्ति और आनन्दके लिये खींचना। परन्तु वह भगवान्‌के प्रति शान्त उन्मीलनकी अपेक्षा अधिक प्रतिक्रियाओंको उत्पन्न करता है।

१-६-१९३३

* * *

नहीं, लोगोंको सुधारने या पूर्ण बनानेके लिये उन्हें रोगी कर देना माताजीकी विधि नहीं। परन्तु कभी-कभी सिरदर्द-जैसी चीजें आया करती हैं और उसका

कारण यह होता है कि मस्तिष्कने या तो सीमासे अधिक श्रम किया होता है या फिर वह ग्रहण नहीं करना चाहता या कठिनाइयां पैदा करता है। परन्तु यौगिक सिरदर्द विशेष प्रकारके होते हैं और जब मस्तिष्क ग्रहण करने या उत्तर देनेका तरीका ढूँढ़ लेता है, उसके बाद वे बिलकुल नहीं आते।

२०-६-१९३५

* * *

प्र०— शरीरमें जो ताप अनुभूत होता है क्या वह ज्वरका है या माताजीकी शक्तिका जिसने मेरे आधारपर बड़ा भारी दबाव डाला है?

उ०— यह बात अभी देखनेकी है। बहुत सम्भवतः वह 'तपस्' की गर्मी है; प्रश्न यह है कि क्या वह शरीरमें कुछ अंशमें ही ज्वरके रूपमें परिणत होती है।

७-६-१९३६

माताजीकी शक्तिके प्रति चैत्य उद्घाटन

आवश्यकता इस बातकी है कि खोजसे लाभ उठाया जाय और बाधा-विघ्नसे छुटकारा पाया जाय। माताजीने केवल बाधाको ही सूचित नहीं किया था; उन्होंने बहुत स्पष्ट रूपमें तुम्हें यह भी दिखा दिया था कि उससे कैसे छुटकारा पाया जा सकता है और उस समय तुमने उनकी बात समझी थी, यद्यपि अब (मुझे अपनी चिट्ठी लिखनेके समय) वह ज्योति, जिसे तुमने देखा था, तुम्हारे अपने प्राणको अधिकाधिक उदासीनताके कड़ुए आमोद-प्रमोदमें संलग्न रखनेके कारण ढक गयी-सी प्रतीत होती है। यह बिलकुल स्वाभाविक ही था, क्योंकि उदासीका फल हमेशा यही होता है। यही कारण है कि मैं दुःख-शोकके उपदेशके प्रति तथा दुःख-शोकको (अभिमान, विद्रोह, विरह आदिकी तरह) अपना एक प्रधान तख्ता बनानेवाली किसी साधनाके प्रति आपत्ति करता हूँ। क्योंकि, दुःख-शोक, जैसा कि स्पिनोजाका कहना है, किसी महत्तर पूर्णताका मार्ग, सिद्धि का पथ नहीं है; वह हो नहीं सकता, क्योंकि वह मनको विभ्रान्त, दुर्बल और विक्षिप्त करता है, प्राण-शक्तियोंको अवसन्न बनाता है और आत्माको अन्धकारसे ढक देता है। प्रसन्नता, प्राणिक नमनीयता और आनन्दसे लौटकर

शोक, आत्म-अविश्वास, अवसन्नता और दुर्बलतामें जा गिरना एक बड़ी चेतनासे छोटी चेतनामें पीछे हट आना है,—इन अवस्थाओंका अभ्यास यह सूचित करता है कि प्राणका कोई अंश अधिक छोटी, धूमिल, अन्धकारपूर्ण और दुःख-पूर्ण क्रियासे चिपका हुआ है जिसमेंसे बाहर निकल आना ही योगका लक्ष्य है।

इसलिये यह कहना एकदम गलत है कि जिस गलत चाबीसे तुम परियोंका महल खोलनेकी चेष्टा कर रहे थे उसे तो माताजीने ले लिया और तुम्हारे पास कोई दूसरी चाबी नहीं रहने दी। क्योंकि उन्होंने तुम्हें सच्ची चाबी केवल दिखा ही नहीं दी वरन् वह तुम्हें दे भी दी। उन्होंने तुम्हें प्रसन्नताका अस्पष्ट-सा उपदेश ही नहीं दिया था, बल्कि उन्होंने ठीक तरहके ध्यानमें अनुभूत अवस्था-का ठीक-ठीक वर्णन भी किया था — आन्तरिक विश्रामकी अवस्थाका, न कि थकावटकी अवस्थाका, शान्त उद्‌घाटनकी अवस्थाका, न कि उत्सुक या जी-तोड़ खींच-तानकी अवस्थाका, एक ऐसी अवस्थाका जिसमें भागवती शक्तिकी क्रियाके लिये उसके हाथोंमें अपने-आपको सुसमंजस भावसे दे दिया जाय और फिर उसमें यह बोध बना रहे कि दिव्य शक्ति कार्य कर रही है, उसपर स्थिर विश्वास हो और बिना किसी चंचल हस्तक्षेपके उसे कार्य करने दिया जाय। और उन्होंने तुमसे पूछा आया तुमने कभी उस अवस्थाका अनुभव नहीं किया, और तुमने कहा था कि तुम्हें इसका अनुभव है और उसे तुम खूब अच्छी तरह जानते हो। वह अवस्था है चैत्य उद्‌घाटनकी यदि वह उद्‌घाटन तुम्हें प्राप्त हुआ था तो, तुम जानते ही हो कि चैत्य उद्‌घाटन क्या चीज है; निस्सन्देह, और भी बहुत कुछ है जो बादमें आता है, पर यही मौलिक स्थिति है जिसमें यह अत्यन्त आसानीसे आता है। तुम्हें माताजीने जो चाबी दी उसे तुम्हें अपनी चेतनामें बनाये रखना और उसका उपयोग करना चाहिये था — पीछे हटकर उदासी और पुरानी चीजके लिये रोने-धोनेके भावको अपने अन्दर बढ़ने नहीं देना चाहिये था। इस अवस्थामें, जिसे तुम समुचित या चैत्य भाव कहते हो, पुकार, प्रार्थना, अभीप्सा रह सकती है; तीव्रता, एकाग्रता अपने-आप आयेंगी, कठिन प्रयास करने या प्रकृतिपर तीव्र दबाव डालनेसे नहीं। अनुचित क्रियाओं-का त्याग, दोषोंको स्पष्ट रूपमें स्वीकार करना केवल इसके साथ मेल ही नहीं खाता, बल्कि इसके लिये सहायक भी है, फिर यह भाव त्याग करने और दोष स्वीकार करनेकी वृत्तिको सहज, स्वाभाविक, एकदम पूर्ण और सच्चा तथा फलप्रद बना देता है। यही उन सब लोगोंका अनुभव है जिन्होंने इस भावको ग्रहण करना स्वीकार किया है।

प्रसंगवशात् मैं यह भी कह दूँ कि चेतना और ग्रहणशीलता एक ही चीज नहीं है; कोई आदमी ग्रहणशील हो सकता है, फिर भी हो सकता है कि बाहरी

रूपमें वह इस विषयमें अनजान हो कि किस तरह ये सब चीजें हो रही हैं और क्या किया जा रहा है। दिव्य शक्ति, जैसा कि मैं बार-बार लिख चुका हूँ, पर्देके पीछे कार्य करती है। उसके परिणाम पीछेकी ओर जमा हुए रहते हैं और बादमें प्रकट होते हैं, बहुधा धीरे-धीरे, थोड़े-थोड़े, जबतक कि इतना अधिक दबाव न हो जाय कि किसी तरह वे फूट पड़ें और बाहरी प्रकृतिपर अधिकार जमा लें। मानसिक और प्राणिक श्रम और खींच-तान तथा सहज चैत्य उद्घाटनमें भेद है और यह कोई एकदम पहला ही अवसर नहीं है जब हमने इस भेदकी बात कही हो। श्रीमाताजी और मैंने अनगिनत बार इसके विषयमें लिखा और कहा है और हमने खींच-तान* और श्रमको मना किया है तथा चैत्य उद्घाटनके भावका समर्थन किया है। यह वास्तवमें सही या गलत चाबीका प्रश्न नहीं है, बल्कि तालेमें चाबीको सही या गलत तरीकेसे लगानेका प्रश्न है। या तो, किसी कठिनाईके कारण, तुम चाबीको जोरसे इधर-उधर घुमाकर तालेको जबर्दस्ती खोलनेकी कोशिश करते हो या विश्वास-पूर्वक और शान्तिके साथ चाबीको ठीक तरीकेसे घुमाते हो और दरवाजा खुल जाता है।

५-५-१९३२

सक्रिय मनकी बाधा

प्र०— मेरा मन माताजीके विचारोंसे सचेतन होने और उन्हें ग्रहण करनेका यत्न कर रहा था। क्या यह क्रिया ठीक है?

उ०— यह तरीका बिलकुल ही नहीं है — अगर मन सक्रिय हो तो माताजी जो कुछ ला रही होती हैं उसके विषयमें सचेतन होना अधिक कठिन होता है। वे विचारोंको नहीं लातीं, बल्कि उच्चतर ज्योति, शक्ति इत्यादि लाती हैं।

२२-३-१९३३

* * *

प्र०— आज मैंने अनुभव किया कि माताजी मेरे सिरको अपने प्रकाशसे

*शक्तिका दृढ़तापूर्वक आहरण करना संभव है और वह ठीक वह चीज नहीं है जिसे मैं 'खींच-तान' कहता हूँ — शक्तिका आहरण करना आम बात है और सहायक क्रिया है।

भर रही हैं। क्या मैं वस्तुओंकी कल्पना कर रहा था या उन्होंने सचमुचमें ऐसा किया ?

उ०– वे हर बार ऐसा करती हैं, अन्तर इतना ही है कि आज तुमने उसे केवल ग्रहण ही नहीं किया वरन् तुम सचेतन रूपसे ग्रहणशील थे।

८-५-१९३३

माताजीकी शक्तिकी क्रियाको समझना

प्र०– क्या यह समझना हमारे लिये सदा आवश्यक है कि माताजी-की शक्ति हमारे योगकी प्रगतिके लिये हमारे अन्दर क्या कर रही है ?

उ०– कितने ही ऐसे लोग हैं जो यह समझे बिना कि शक्ति क्या कर रही है वेगपूर्वक प्रगति करते हैं—वे बस निरीक्षण और वर्णन करते हैं और कहते हैं "मैं सब कुछ माताजीपर छोड़ता हूँ।" अन्ततोगत्वा ज्ञान और समझ भी आते ही हैं।

१७-७-१९३३

* * *

प्र०– माताजीके प्रसंगमें आपने एक बार कहा था, "उनकी शक्तिके प्रति सचेतन होनेके लिये विनती करो"। क्या इसका यह अभिप्राय है कि मुझे उनकी शक्तिके विषयमें जाननेके लिये अभीप्सा करनी चाहिये।

उ०– हां, केवल मनसे जाननेके लिये ही नहीं बल्कि उसका वेदन प्राप्त करने तथा आन्तरिक अनुभवसे उसका साक्षात्कार करनेके लिये।

१८-६-१९३३

* * *

प्र०– मान लीजिये मैं किसी उलझनमें हूँ और अपने ऊपर स्थित

माताजीकी शक्तिको नीचे उतार लानेके लिये पुकारता हूँ। अब, मुझे कैसे पता चले कि वह उतरी है या नहीं?

उ०— उसकी अनुभूति या उसके परिणामके द्वारा।

२६-६-१९३३

* * *

प्र०— मान लीजिये वह उतर आई है, और मैंने अपनी पढ़ाई-लिखाई शुरू कर दी है; क्या तब मैं उसे यह आदेश दे सकता हूँ कि वह बाह्य प्रभावोंसे मेरी रक्षा करे और इसके साथ ही, जब मेरा मन किसी और काममें लगा हो तब भी, माताजीके साथ मेरा पूर्ण सम्पर्क बनाये रखे?

उ०— तुम माताजीकी शक्तिको कोई काम करनेका आदेश नहीं दे सकते, माताज़ीकी शक्ति स्वयं माताजीकी ही अभिव्यक्ति है।

२६-६-१९३३

* * *

प्र०— मैं यह समझनेमें असमर्थ हूँ कि कैसे यह शक्ति कोई कार्य निपटा सकती है।

उ०— क्या तुम यह समझते हो कि माताजीकी शक्तिका कार्यसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं या वह इतनी दुर्बल है कि कुछ कर ही नहीं सकती? या फिर और क्या? शक्ति भला कार्य करनेके सिवा होती ही किस मतलबके लिये है?

२६-६-१९३३

माताजीकी शक्तिके साथ निम्नतर प्रकृतिका मिश्रण

प्र०— शक्तिके विषयमें आपने कहा था, "वह मनमें या अन्यत्र अपनी ही क्रियाओंका सर्जन करती है।" ऐसी दशामें तो मन या कोई अन्य भाग, जिस पर वह कार्य करती है, केवल उसी चीजको

व्यक्त करेगा जिसका सर्जन शक्तिने किया है।

उ०— यह एक आदर्श अवस्था है जो तब होती है जब शक्ति एकमात्र वास्तविक शक्ति ही होती है — किन्तु तुम्हारी प्रकृतिमें इतना अधिक मिश्रण है कि साधनाकी इस अवस्थामें वह चीज सम्भव नहीं हो सकती।

३-८-१९३४

* * *

प्र०— ऐसी दशामें, क्या इसका यह अर्थ नहीं कि मेरी चेतना जिसे 'शक्ति' के रूपमें अनुभव करती है वह माताजीकी वास्तविक शक्ति नहीं ?

उ०— मैं कह ही चुका हूँ कि वह तुम्हारे वर्तमान मन, प्राण और शरीरकी क्रियासे मिश्रित हो जाती है। यह अनिवार्य ही है क्योंकि उसे उनपर कार्य करना होता है। केवल रूपान्तरके बाद ही वह पूर्ण रूपसे माताजीकी एक ऐसी शक्ति हो सकती है जिसमें पृथक् व्यक्तित्वका जरा भी मिश्रण न हो। यदि आरम्भसे ही, अपनी समस्त, अविमिश्र पूर्णतासे सम्पन्न भागवत शक्तिको, वर्तमान प्रकृतिका कोई भी विचार किये बिना कार्य करना होता तो साधना नामकी कोई चीज ही न होती, होती केवल बिना किसी कारण या प्रक्रियाके मानवकी जगह भगवान्‌की चमत्कारपूर्ण प्रतिष्ठा।

४-८-१९३४

विवेककी आवश्यकता

तुम्हारे ऊपर "जो कुछ अवतरित होनेकी चेष्टा कर रहा है उसके विरुद्ध विवेक और बचावकी सब तरहकी बाधा खड़ी करनेकी बात" को छोड़ देनेका विचार करना खतरनाक है। क्या तुमने सोचा है कि जो कुछ अवतरित हो रहा है वह यदि दिव्य सत्यके साथ मेल खानेवाली कोई चीज न हो, सम्भवतः विरोधी भी हो तो फिर उसका मतलब क्या होगा? कोई विरोधी शक्ति साधकके ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिये इससे अच्छी अवस्थाकी मांग नहीं करेगी। वास्तवमें एकमात्र श्रीमाताजीकी शक्ति और दिव्य सत्यको ही बिना बाधाके आने देना चाहिये और उस अवस्थामें भी हमें विवेक-विचारकी शक्तिको अवश्य बनाये

रखना चाहिये जिसमें कोई भी मिथ्या चीज यदि श्रीमांकी शक्ति और दिव्य सत्यका रूप बनाकर आवे तो उसे हम पहचान जायें और त्यागकी शक्तिको भी बनाये रखना चाहिये जो सब प्रकारकी मिलावटको बाहर निकाल फेंके।

अपनी आध्यात्मिक भवितव्यतामें विश्वास रखो, भूल-भ्रान्तिसे पीछे हटो और चैत्य पुरुषको श्रीमांकी ज्योति और शक्तिके सीधे पथप्रदर्शनकी ओर और भी अधिक खोलो। अगर केन्द्रीय संकल्प सच्चा हो तो प्रत्येक भूलकी पहचान सत्यतर क्रिया और उच्चतर प्रगतिकी ओर जानेके लिये एक-एक मंजिल साबित हो सकती है।

* * *

> प्र०— यह कैसे पहचाना जाय कि कोई विशेष विचार, हृद्भाव या कार्यका आवेग स्वयं माताजीसे आया है न कि किसी वैश्व शक्तिसे? यदि वह प्रत्यक्षतः ही मिथ्यात्वसे उत्पन्न हुआ हो तो उसे इस रूपमें पहचाना जा सकता है, पर इससे भिन्न प्रकारके अन्य भी बहुत-से होते हैं और कभी-कभी मनुष्य यही सोचता रहता है कि वे भीतरसे माताजीके द्वारा प्रेरित हैं यद्यपि वे ऐसे होते नहीं।

उ०— यह केवल विवेक, सावधानता, सचाई, मनकी गतियोंपर सतत नियन्त्रण और एक प्रकारके चैत्य युक्ति-कौशलके विकासके द्वारा ही किया जा सकता है जो किसी भी मानसिक अनुकरणको या इस मिथ्या सुझावको ढूंढ़ निकालता है कि वह विचार आदि माताजीका है।

२७-४-१९३३

अवतरणके खतरोंसे बचनेका उपाय

ऊपरसे होनेवाले अवतरण तथा उसे क्रियान्वित करनेकी इस प्रक्रियामें सबसे प्रधान बात है स्वयं अपने ऊपर पूर्ण रूपसे निर्भर न करना, बल्कि गुरुके पथ-दर्शनपर निर्भर करना और जो कुछ घटित हो उसपर विचार करने, मत देने और निर्णय करनेके लिये उन्हें बतलाना। क्योंकि प्रायः ही ऐसा होता है कि अवतरणके कारण निम्नतर प्रकृतिकी शक्तियां जागृत और उत्तेजित हो जाती हैं और उसके साथ मिल जाना तथा उसे अपने लिये उपयोगी बनाना चाहती

है। प्रायः ही ऐसा होता है कि स्वभावतः अदिव्य कोई शक्ति या कई शक्तियां परमेश्वर या भागवती माताके रूपमें सामने प्रकट होती हैं और हमारी सत्तासे सेवा और समर्पणकी मांग करती हैं। अगर इन्हें स्वीकार किया जाय तो इसका अत्यन्त सर्वनाशी परिणाम होगा। अवश्य ही, यदि साधक केवल भागवत क्रिया की अवस्थातक ऊपर उठा हुआ हो और उसी पथप्रदर्शनके प्रति उसने आत्म-दान और समर्पण किया हो तो सब कार्य आसानीसे चल सकता है। साधकका यह आरोहण तथा समस्त अहंकारपूर्ण शक्तियों या अहंकारको अच्छी लगनेवाली शक्तियोंका त्याग पूरी साधनाके भीतर हमारी रक्षा करता है। परन्तु प्रकृतिके रास्ते जालोंसे भरे पड़े हैं, अहंकारके छद्मवेश असंख्य हैं, अन्धकारकी शक्तियों-की माया –– राक्षसी माया –– असाधारण चातुरीसे भरी है; हमारी बुद्धि अयोग्य पथप्रदर्शक है और प्रायः ही विश्वासघात करती है; प्राणगत कामना सदा हमारे साथ रहकर हमें किसी आकर्षक पुकारका अनुसरण करनेका लोभ देती रहती है। यही कारण है कि इस योगमें हम बराबर ही समर्पणपर इतना अधिक जोर देते हैं। अगर हृदय-केन्द्र पूरा खुला हो और चैत्य पुरुषका प्रभुत्व बराबर बना रहे तो फिर कोई प्रश्न ही नहीं; सब सुरक्षित ही होता है। परन्तु निम्नतर चीजोंके ऊपर उठ आनेसे चैत्य पुरुष किसी भी क्षण ढका जा सकता है। सिर्फ थोड़ेसे लोग ही इन खतरोंसे मुक्त होते हैं और निश्चित रूपसे वे ही लोग ऐसे होते हैं जिनके लिये समर्पण करना आसान् होता है। जो व्यक्ति तादात्म्यके द्वारा स्वयं भगवान् हो गया है या भगवान्का प्रतिनिधित्व करता है, उसका पथप्रदर्शन इस कठिन प्रयासके लिये अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य है।

* * *

अपने और श्रीमांकी शक्तिके बीच किसी चीज और किसी व्यक्तिको न आने दो। वास्तवमें तुम्हारे उस शक्तिको आने देने और उसे बनाये रखने तथा सच्ची अन्तःप्रेरणाका प्रत्युत्तर देनेपर ही सफलता निर्भर करती है, मनकी बनायी हुई किसी धारणापर नहीं। यहांतक कि वे धारणाएं और योजनाएं भी, जो अन्य प्रसंगोंमें उपयोगी हो सकती थीं, असफल हो जायंगी अगर उनके पीछे सच्चा भाव और सच्ची शक्ति तथा प्रभाव न हों।

* * *

अगर तुम अपने विश्वासको फिरसे पाना चाहते हो और उसे बनाये रखना चाहते हो तो तुम्हें सबसे पहले अपने मनको शान्त-स्थिर करना चाहिये और उसे माताजीकी शक्तिकी ओर खोल देना और उसका आज्ञाकारी बना देना चाहिये। अगर तुम्हारा मन उत्तेजित रहता हो और प्रत्येक प्रभाव और आवेगकी मर्जीपर चलता हो तो तुम परस्पर-संघर्षकारी और परस्पर विरुद्ध शक्तियोंका ही एक क्षेत्र बने रहोगे और उन्नति नहीं कर सकोगे। तुम फिर श्रीमांके ज्ञानके स्थानपर अपने निजी अज्ञानकी बातें सुनना आरम्भ कर दोगे और स्वभावतः ही तुम्हारा विश्वास उठ जायगा और तुम अनुचित स्थिति और अनुचित मनोभावके शिकार बन जाओगे।

मार्च, १९२८

परिवर्तनके लिये श्रीमांकी शक्तिकी

यह मान लेना होगा कि तुममें इस परिवर्तनकी क्षमता है, क्योंकि तुम यहां माताजीके सान्निध्य और संरक्षणमें हो। श्रीमांकी शक्तिका दबाव और उसकी सहायता बराबर ही मौजूद है। तुम्हारी प्रगतिकी तीव्रता निर्भर करती है उसकी ओर अपने-आपको खोल रखनेपर और अन्य शक्तियोंके समस्त सुझावों और आक्रमणोंका शान्तिके साथ, धीर-स्थिर भावसे और लगातार त्याग करते रहनेपर। विशेषकर प्राणमय सत्ताकी स्नायविक उत्तेजनाका त्याग करना ही होगा; स्नायु-सत्ता और शरीरमें एक शान्त और स्थिर शक्तिका होना ही एकमात्र सुदृढ़ आधार है। यह तुम्हारे ग्रहण करनेके लिये मौजूद है अगर तुम इसकी ओर सदा खुले रहो।

२७-८-१९३२

* * *

किसी कठिनाईके कारण बेचैन या निरुत्साहित मत होओ, बल्कि चुपचाप और सरल भावसे अपनेको माताजीकी शक्तिकी ओर खोले रखो और उसे अपने अन्दर परिवर्तन ले आने दो।

* * *

माताजीकी शक्ति केवल ऊपर, सत्ताके शिखरपर ही नहीं है। वह तुम्हारे साथ

और तुम्हारे पास भी है, जिस समय तुम्हारी प्रकृति उसे कार्य करने देगी उस समय कार्य करनेके लिये वह तैयार बैठी है। यहांके प्रत्येक आदमीके साथ वह इसी प्रकार विद्यमान है।

१५-११-१९३६

* * *

माताजीकी शक्ति प्रत्येक कार्य कर सकती है, पर हमें अपनी सत्ता और प्रकृतिके विषयमें और जो कुछ उसके नीचे है उसके विषयमें अधिकाधिक सचेतन होना चाहिये।

यह कोई मानसिक निर्णयका प्रश्न नहीं है — इन मामलोंमें वह बहुत थोड़ा ही उपयोगी होता है — बल्कि यह प्रश्न है चेतनाका, बोध करने और देखनेका।

सत्ताके निम्नतर स्तरोंमें अतिमानस सुसंगठित नहीं हुआ है जिस तरह कि अन्य चीजें हुई हैं। उसका केवल एक प्रच्छन्न प्रभाव ही पड़ता है। अन्यथा अतिमानसिक सिद्धि प्राप्त करना आसान होता।

२२-५-१९३४

* * *

तुम्हें अनन्य रूपसे किसी दूसरी चीजपर निर्भर नहीं करना चाहिये, चाहे वह कितनी ही सहायता पहुँचानेवाली क्यों न मालूम हो, बल्कि प्रधानतः प्रथमतः और मूलतः माताजीकी शक्तिपर निर्भर करना चाहिये। सूर्य और ज्योति सहायक हो सकते हैं और होंगे ही यदि वे सच्चे सूर्य और सच्ची ज्योति हों, पर वे श्रीमांकी शक्तिका स्थान नहीं ग्रहण कर सकते।

* * *

जिस दृढ़ताको तुमने प्राप्त किया है वह कोई व्यक्तिगत गुण नहीं है, बल्कि वह तुम्हारे माताजीके साथ संस्पर्श बनाये रखनेपर निर्भर करती है। कारण, उनकी ही शक्ति उसके पीछे और तुम जो कुछ उन्नति कर सकते हो उस सबके पीछे विद्यमान है। उसी शक्तिपर निर्भर करना, उसीकी ओर अधिक पूर्णताके साथ अपनेको खोले रखना और आध्यात्मिक उन्नतिको महज अपने लिये ही

नहीं पर भगवान्‌के लिये पानेका प्रयास करना सीखो, तब तुम अधिक आसानीसे अग्रसर होगे।

* * *

वे इन दो कारणोंसे उन्नति करनेमें असमर्थ हैं:

1. वे निराशा, उदासी और निर्बलताके भ्रमके अधीन हो जाते हैं; 2. वे केवल अपने ही बलपर प्रयास करते हैं और न इस बातकी परवा करते हैं या इसे जानते हैं कि किस प्रकार माताजीकी शक्तिकी क्रियाका आवाहन किया जाता है।

१०-६-१९३६

माताजीकी शक्तिका प्रतिरोध

तुम्हारी बीमारियां इस बातका चिह्न हैं कि तुम्हारी भौतिक चेतना भागवत शक्तिकी क्रियाका प्रतिरोध करती है।

अगर तुम साधनामें उन्नति नहीं कर पाते तो इसका कारण यह है कि तुम विभक्त हो और बिना कुछ बचाये अपने-आपको नहीं दे देते। तुम प्रत्येक चीज माताजीको समर्पित करनेकी बात कहते हो परन्तु तुमने वह एक चीज भी नहीं दी है जिसे माताजीने तुमसे मांगा था और जिसे देनेका वचन तुमने कई बार दिया था। यदि भागवत शक्तिकी क्रियाका आवाहन करनेके बाद तुम अन्य प्रभावोंको रहने दो तो भला तुम बाधा-विघ्न और कठिनाइयोंसे छुटकारा पानेकी आशा कैसे कर सकते हो?

२०-११-१९२८

माताजीका दबाव डालना

मैं केवल तुम्हारी बात कह रहा था — मेरा कहनेका मतलब यह नहीं था कि माताजी कभी दबाव डालतीं ही नहीं। परन्तु दबाव भी बहुत प्रकारका हो सकता है। जब दिव्य शक्ति मन, प्राण या शरीरमें प्रवेश करती है तब उसका एक दबाव पड़ता है — यह दबाव होता है अधिक तेज चलाने, निर्माण करने या रूप लेने या तोड़नेके लिये, तथा और भी बहुत-सी चीजोंके लिये। तुम्हारे अन्दर अगर कोई दबाव है तो वह है सहायता करने या अवलम्ब देने या आक्र-

मणको दूर करनेके लिये, परन्तु मुझे ऐसा नहीं लगता कि उसे ठीक-ठीक दबाव कहा जा सकता है।

प्रारम्भिक चेतनामें माताजीका कार्य

जो अनुभूतिया तुम्हें हुई हैं वे सिद्धिके लिये अच्छा प्रारम्भ हैं। उन्हें एक गंभीर-तर स्थितिकी ज्योतिके रूपमें विकसित होना होगा जिसमें पहुँचनेपर तुम्हारे अन्दर एक उच्चतर चेतनाका अवतरण होगा। अपनी जिस वर्तमान चेतनामें तुम इन चीजोंको अनुभव कर रहे हो वह अभी केवल प्रारम्भिक स्थितिकी एक चीज है — जिसमें श्रीमां तुम्हारी चेतनाकी स्थिति और तुम्हारे कर्मोंके अनुसार अपनी विश्वशक्तिके द्वारा तुम्हारे अन्दर कार्य कर रही हैं और उस क्रियामें सफलता और विफलता दोनों आ सकती हैं — मनुष्यको सफलताका प्रयास करते हुए दोनोंके प्रति सम-चित्त बने रहना चाहिये। इस प्रारम्भिक चेतनाके अन्दर भी निश्चित पथप्रदर्शन मिल सकता है अगर तुम एकमात्र श्रीमांकी ही ओर पूर्ण रूपसे मुड़े रहे और इस तरह मुड़े रहो कि तुम उनके सीधे पथप्रदर्शनको अनुभव कर सको, उसका अनुसरण कर सको और तुम्हारे ऊपर कार्य करनेके लिये उस समय दूसरा कोई प्रभाव या शक्ति हस्तक्षेप न करे। पर इस अवस्थाको प्राप्त करना या बनाये रखना आसान नहीं है — इसके लिये आवश्यकता होती है महान् अनन्यता और निरन्तर एकचित्त आत्मदानकी। जब उच्चतर चेतना अवतरित होगी तब अधिक घनिष्ठ एकत्व, भागवत उप-स्थितिकी अधिक गंभीर चेतना और अधिक ज्योतिर्मय संबोधिका आना सम्भव होगा।

१७-११-१९३४

दूरसे माताजीकी शक्ति ग्रहण करना

तुम्हारा दूसरा मित्र जो कुछ पूछता है उसके बारेमें यह कहना है कि यदि वह अपने हृदयमें माताजीके प्रति पूजाका भाव बनाये रखे और जोरसे पुकारता रहे तो जहां वह है वहीं, यहां आये बिना भी, उसके लिये ग्रहण करना बिलकुल सम्भव है।

२८-५-१९३५

* * *

प्र०— मेरे मित्र 'क्ष' के विषयमें आपने कहा था कि वह माताजीकी शक्ति ग्रहण कर रहा है। मैं थोड़ा भ्रममें पड़ गया हूँ क्योंकि मैं समझ ही नहीं पाता कि किस माताजीकी बात आपने लिखी है। क्या वह हम लोगोंकी माताजी हैं या कोई दूसरी जिन्हें लोग विश्व-जननी कहते हैं? मैं इस कारण भ्रममें पड़ गया हूँ कि वह माताजी-का आवाहन नहीं करता और फिर भी माताजीकी शक्तिको पाता है।

उ०— सम्भवत: मैंने जो लिखा था वह था: भागवत शक्तिके "संस्पर्शमें", जो माताजीकी शक्ति है। क्या तुमने, फोटो और उसके पत्रके द्वारा, उसके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं स्थापित कर दिया है? क्या वह इस दिशामें नहीं मुड़ा है? क्या उसने 'य' के साथ मुलाकात नहीं की है और उससे—संस्पर्शके तीसरे माध्यमसे—वह प्रभावित नहीं हुआ है? अगर उसमें श्रद्धा हो और यौगिक झुकाव हो तो संस्पर्श करनेमें उसे सहायता करनेके लिये यह बिलकुल पर्याप्त है।

१९३६

* * *

मैं नहीं जानता कि माताजी स्वीकृत अर्थमें शक्ति भेज रही हैं या नहीं; मैंने उनसे पूछा नहीं है। पर जो हो, जिस आदमीमें श्रद्धा और सच्चाई हो, जिसका चैत्य पुरुष जगना आरम्भ हो गया हो और जो अपनेको खोले रखता हो, वह शक्ति ग्रहण कर सकता है—चाहे वह जाने या नहीं कि वह ग्रहण करता है। अगर 'अ' कल्पना भी करता हो कि वह ग्रहण कर रहा है तो इससे सच्चे रूपमें ग्रहण करनेका रास्ता खुल सकता है—अगर वह इसे अनुभव करता हो तो उसके अनुभव पर सन्देह ही क्यों किया जाय? वह निश्चय ही परि-वर्तित होनेके लिये खूब अधिक चेष्टा कर रहा है और यही पहली आवश्यकता है; अगर कोई इसके लिये प्रयत्न करे तो यह सर्वदा, कम या अधिक समयमें, सिद्ध किया जा सकता है।

२८-६-१९४३

* * *

तुम्हारे लिये यह बिलकुल सम्भव है कि तुम घरपर और अपने कामके बीच रहकर साधना करते रहो — बहुतसे लोग ऐसा करते हैं। आरंभमें बस आवश्यकता यह है कि जितना अधिक सम्भव हो उतना माताजीको स्मरण करो, प्रत्येक दिन कुछ समय हृदयमें उनका ध्यान करो, अगर सम्भव हो तो भगवती माताके रूपमें उनका चिन्तन करो, अपने भीतर उनको अनुभव करनेकी अभीप्सा करो, अपने कर्मोंको उन्हें समर्पित करो और यह प्रार्थना करो कि वे भीतरसे तुम्हें दिखावें और तुम्हें सम्भाले रखें। यह आरम्भिक अवस्था है और बहुधा इसमें बहुत समय लग जाता है, पर कोई यदि सच्चाई और लगनके साथ इस अवस्थामें से गुजरता है तो मनोवृत्ति कुछ-कुछ बदलना आरम्भ कर देती है और साधक में एक नयी चेतना खुल जाती है जो अन्तरमें श्रीमांकी उपस्थितिके बारेमें, प्रकृतिमें और जीवनमें होनेवाली उनकी क्रियाके बारेमें अथवा सिद्धिका दरवाजा खोल देनेवाली किसी अन्य आध्यात्मिक अनुभूतिके बारेमें अधिकाधिक सचेतन होना आरम्भ करती है।

* * *

माताजीको स्मरण करो और, यद्यपि शरीरसे तुम उनसे बहुत दूर हो, उनको अपने साथ अनुभव करनेका प्रयास करो और तुम्हारी आन्तर सत्ता जिस चीजको उनकी इच्छा बतलावे उसीके अनुसार कार्य करो। तब तुम अच्छी तरह उनकी और मेरी उपस्थितिका अनुभव कर सकोगे और एक संरक्षणके रूपमें अपने चारों ओर हमारे वातावरणको लिये रहोगे तथा स्थिरता और ज्योतिका एक राज्य सर्वत्र तुम्हारे साथ बना रहेगा।

१२-१२-१९३६

माताजीके चित्रसे शक्ति ग्रहण करना

प्र०— जब मैं माताजीके चित्रोंके सामने ध्यान करने बैठता हूँ या उनके चरणोंका चित्र खींचता हूँ तब मैं शक्ति ग्रहण करता हूँ। क्या यह केवल काल्पनिक अनुभव है?

उ०— नहीं, यह सिर्फ काल्पनिक नहीं है। उनके (चित्रोंके) पास ध्यान करनेसे तुम उनके द्वारा माताजीके साथ संस्पर्श करनेमें समर्थ हुए हो और उनकी

शक्ति तथा उपस्थितिका कुछ अंश वहां मौजूद है।

१४-७-१९३४

नीरोग करनेवाली शक्तिका कार्य और माताजी

प्र०— नीरोग करनेवाली शक्तिके कार्यके विषयमें 'अ' के साथ मेरी गरमागरम लेकिन मित्रतापूर्ण बहस हो गयी थी। उसका मत था कि अब चूँकि उसे यहां उतार लाया गया है, संसारके अन्य भागोंमें भी उसके क्रिया करनेकी सम्भावना है और कोई भी राम, श्याम और यदु आध्यात्मिक दृष्टिसे अनुन्नत होनेपर भी इसका व्यवहार कर सकता है। क्या यह सच है?

उ०— वह क्रिया कर सकती है पर प्रत्येक 'र', 'श' और 'य'के द्वारा नहीं,— कम-से-कम आरम्भमें तो नहीं।

३-२-१९३६

* * *

प्र०— मैंने प्रतिवाद किया कि नीरोग करनेवाली शक्ति केवल माता-जीके द्वारा कार्य करेगी और दूसरे इसका उपयोग करनेमें भी तभी समर्थ होंगे जब कि वे किसी रूपमें उनके प्रति खुले होंगे या ज्ञानपूर्वक उनके साथ सम्बन्ध बनाये होंगे और उनके साथ भौतिक सम्पर्क रखते होंगे। इन शर्तोंको पूरा किये बिना कोई उसका व्यव-हार नहीं कर सकता। आपका क्या कहना है?

उ०— निश्चय ही आरम्भमें यही होगा, अगर वह सच्ची शक्ति हो, पर जब वह एक बार पृथ्वी-चेतनामें जमकर बैठ जायेगी तब रोग दूर करनेमें अतिभौतिक शक्तिका अधिक व्यापक व्यवहार करना सम्भव हो सकेगा।

और यह भी हमेशा जरूरी नहीं है कि जिस 'सम्बन्ध'की बात तुम कहते हो वह सचेतन ही हो। उदाहरणार्थ, बिना जाने ही कुए (Coué) का सम्बन्ध माताजीके साथ था। किसी भी आदमीके 'कुए' को जाननेसे बहुत पहले ही उन्होंने उसके कुछ शक्ति प्राप्त करने और उसके कार्यके प्रारम्भ होनेकी बात मुझसे कही थी (अवश्य ही वह उसका नाम नहीं जानती थीं, पर उन्होंने

उसका और उसके कार्य का वर्णन ऐसे ढंगसे दिया था कि वह स्पष्ट ही उसके साथ मिलता-जुलता था)।

३-२-१९३६

VII

श्रीमाताजीके साथ सच्चा सम्बन्ध

श्रीमाताजीके साथ सच्चा सम्बन्ध

माताजीके साथ विशेष सम्बन्ध

निश्चय ही यह ठीक है कि भगवान्‌में कोई पसन्दगी या नापसन्दगी नहीं है और वह सबके प्रति सम होते हैं, पर यह बात प्रत्येकके साथ एक विशिष्ट सम्बन्ध रखनेसे नहीं रोकती। फिर यह सम्बन्ध अधिक या कम तादात्म्य या एकत्वपर नहीं निर्भर करता। शुद्धतर आत्मा अधिक आसानीसे भगवान्‌के पास पहुँचता है। अधिक विकसित स्वभावके पास अधिक रास्ते होते ही हैं जिनके द्वारा वह उनसे मिलता है। तादात्म्य एक प्रकारका आध्यात्मिक एकत्व उत्पन्न करता है। परन्तु और दूसरे व्यक्तिगत सम्बन्ध भी हैं जो दूसरे कारणोंसे उत्पन्न होते हैं। सभी सम्बन्धोंके एक कारणसे ही निश्चित होनेकी बात अत्यन्त जटिल है।

हां, जिन योगियोंकी उन्नति माताजीके व्यक्तिगत हस्तक्षेपके ऊपर नहीं निर्भर करती उन्हें उनके साथ कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करनेकी आवश्यकता नहीं — उनके लिये केवल एक दूरका आध्यात्मिक संस्पर्श ही पर्याप्त है। कोई-कोई विशेष सम्बन्ध भी बनाये रख सकते हैं, पर अपनी साधनाके किसी विशिष्ट रूपके कारण ही वे ऐसा करते हैं। दूसरी ओर, कोई साधक साधनामें कोई प्रगति न करनेपर भी श्रीमाताजीके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध बनाये रख सकता है। इस विषयमें सभी प्रकारकी सम्भावनाएं विद्यमान हैं।

जो लोग यहां आये हुए हैं और जिनका चैत्य पुरुष एक सम्बन्ध स्थापित करने योग्य पर्याप्त रूपमें विकसित हो चुका है उन सभी लोगोंके साथ माताजीका एक ऐसा सम्बन्ध है। दूसरे लोगोंके लिये इस बातकी एक सम्भावना ही अधिक है, यह जीवनमें सिद्ध नहीं हुई है।

मोटे तौरपर कहें तो अभिव्यक्त सत्ताके तीन अंग हैं जो यहांपर कार्य करते हैं — 1. क्रमविकासमें आया हुआ चैत्य पुरुष जो अपने साथ पूर्वजीवनोंका प्राचीन अनुभव और पुराने व्यक्ति-स्वरूपोंका कुछ अंश ले आता है, उतना ही अंश ले आता है जो वर्तमान जीवनके लिये उपयोगी बनाया जा सके; 2. वर्तमान रूप जो इस जन्मके कारण मिला है और जो बहुत-सी जटिल चीजोंके मिलनेसे बना है; 3. भावी सत्ता, जिसका, हमारे अपने लिये, अर्थ होता है वर्तमान अभिव्यक्तिके ऊपरकी उच्चतर चेतनाकी महान् धाराएं जिनके साथ युक्त होनेपर रूपान्तर अधिक सम्भव होता है और जिस कार्यका प्रयास किया जा रहा है

वह पूरा हो सकता है।

चैत्य पुरुष ही वह चीज है जो पूर्वजीवनों या व्यक्ति स्वरूपोंके द्वारा उस चीजके द्वारा, जो उनके अन्दर आवश्यक और अभीतक क्रियाशील है और जिसे उसने रखा है, संस्पर्श स्थापित करती है।

परन्तु, इसके अलावा, कुछ ऐसे चैत्य पुरुष यहां आये हैं जो ऊर्ध्व चेतनाकी महत्तर धाराओंके साथ युक्त होनेके लिये तैयार हैं, बहुधा उच्चतर लोकोंकी सत्ताओंका प्रतिनिधित्व करते हैं और इसलिये जो महान् कार्य यहां किया जाने-वाला है उसमें माताजीके साथ घनिष्ठ रूपमें योग देनेके लिये विशेष रूपसे उपयुक्त हैं। इन सभी लोगोंका माताजीके साथ विशेष सम्बन्ध है जो उनके पुराने सम्बन्धके अतिरिक्त है।

वर्तमान रूपका जहांतक सम्बन्ध है, उसमें स्पष्ट ही ऐसे तत्त्व हो सकते हैं जो, माताजीके साथ सहयोग न देने या उनसे न मिलनेके कारण, अपनेको उनसे अपरिचित अनुभव करें। ऐसा ही तत्त्व यह अनुभव कर सकता है कि वह रास्तेमें खड़ा है; परन्तु यह एक बाहरी रचना है और कम-से-कम अपने वर्तमान स्वरूपमें यह न तो पुराने विकाससे सम्बन्ध रखता है और न भावी विकाससे। इसे या तो नष्ट हो जाना होगा या रूपान्तरित।

१०-६-१९३५

इस प्रसंगमें बहुत-ही अधिक मानसिक सूक्ष्मताओंमें उतर पड़ना कोई अधिक सहायक नहीं; यह एक ऐसा विषय है जो मानसिक विश्लेषणसे परे है और इसके बारेमें मनकी रचनाएं, अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तिवश, या तो बहुत ही कम अंशमें सच्ची होती हैं या फिर भ्रान्तिपूर्ण।

एक विश्वव्यापी भगवत्प्रेम है जो सबके लिये एक-सा है। एक चैत्य सम्बन्ध भी है जो व्यक्तिगत है; वह सार-रूपमें तो सबके लिये एकसमान है, पर उसमें प्रत्येकके साथ एक विशेष सम्बन्धके लिये भी स्थान है जो सबके लिये एक-सा नहीं बल्कि प्रत्येक व्यक्तिके दृष्टान्तमें भिन्न-भिन्न होता है। यह विशेष सम्बन्ध प्रत्येक दृष्टान्तमें पृथक्-पृथक् रहता है और इसका एक अपना ही स्वभाव होता है। जैसा कि कहा जाता है, यह अपने ही ढंगका होता है और अन्य सम्बन्धोंके साथ इसकी तुलना या बराबरी नहीं की जा सकती, न उनके पैमानेसे इसे मापा ही जा सकता है, क्योंकि इनमें से हर एक भी अपने ही ढंगका होता है। अतएव कम या अधिकका प्रश्न यहां सर्वथा असङ्गत है।

यह कहना बिलकुल गलत है कि माताजी सबसे अधिक उनसे प्रेम करती हैं जो शरीरसे उनके सर्वाधिक निकट हैं। यह बात मैं कितनी ही बार कह

चुका हूँ पर लोग इसपर विश्वास नहीं करना चाहते, क्योंकि वे मान लेते हैं कि माताजी साधारण मनुष्योंकी तरह प्राणिक भाव-भावनाओंकी गुलाम हैं और प्राणकी रुचि-अरुचियोंसे शासित होती हैं। "जिन्हें वे पसन्द करती हैं उन्हें अपने समीप रखती हैं, जिन्हें कम पसन्द करती हैं उन्हें कम समीप रखती हैं, जिन्हें वे पसन्द नहीं करतीं या जिनकी परवा नहीं करतीं उन्हें दूर रखती हैं", यह है उनका बचकाना तर्क। जो लोग अपने साथ सदा ही माताजी-की उपस्थिति और प्रेम अनुभव करते हैं उनमेंसे बहुतेरे छः महीनोंमें एक बार या फिर वर्षमें एक बारको छोड़कर कदाचित् ही उनके दर्शन करते हैं,—हां, प्रणाम और ध्यानके समयके दर्शन इससे अलग हैं। दूसरी ओर, यह हो सकता है कि शरीरसे उनके समीप रहनेवाला या उन्हें बारंबार देखनेवाला ऐसी चीज बिलकुल ही न अनुभव करे; वह शिकायत कर सकता है कि माताजी-की सहायता एवं प्रेम उसे बिलकुल ही प्राप्त नहीं या जितना वे इन्हें दूसरोंको देती हैं उसकी तुलनामें नहींके बराबर प्राप्त हैं। यदि ऊपर दिया गया बचकाने ढंगका सरल त्रैराशिक नियम सच्चा होता तो ऐसे भावोद्गार सम्भव ही न होते।

कोई माताजीके प्रेमको अनुभव करता है या नहीं यह इसपर निर्भर करता है कि वह उसकी ओर खुला है या नहीं। यह चीज शारीरिक समीपतापर निर्भर नहीं करती। खुलनेका अर्थ है उन सब चीजोंको दूर करना जो मनुष्य-को आन्तरिक सम्बन्धके प्रति अचेतन बना देती हैं—यह विचार कि इस सम्बन्धको अपनी सत्ताके भीतर अनुभव करनेके स्थानपर केवल किसी बाह्य अभिव्यक्तिके द्वारा ही मापना होगा, मनुष्यको आन्तरिक सम्बन्धके प्रति जितना अधिक अचेतन बनाता है उतना और कोई चीज नहीं बना सकती; यह व्यक्ति-को उन बाह्य अभिव्यक्तियोंके प्रति अन्धा या असंवेदनशील बना देता है जो वहां विद्यमान होती हैं। कोई शरीरसे दूर है या पास इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता। शरीरसे दूर होता हुआ या माताजीके दर्शन नहींके बराबर करता हुआ भी मनुष्य आन्तरिक सम्बन्ध अनुभव कर सकता है। दूसरी ओर, चाहे मनुष्य शरीरसे माताजीके पास हो या प्रायः ही उनके भौतिक सान्निध्य (उप-स्थिति) में रहे तो भी यह सम्भव है कि जब आन्तरिक सम्बन्ध विद्यमान हो तब वह उसे अनुभव न कर पाये।

११-६-१९३५

* * *

यदि साधक माताजीके प्रति कृतघ्न बन जाय तो इसका मतलब है कि वह साधना या माताजीको नहीं चाहता था, बल्कि अपनी कामनाओं और अपने अहंकारकी तुष्टि चाहता था। यह योग नहीं है।

माताजी किसीके साथ "घंटों" मुलाकात नहीं करतीं--यदि कोई घंटों उनके पास रहे तो वह बहुत थक जायंगी।

माताजी 'अ'के साथ औरोंकी अपेक्षा अधिक मुलाकात इसलिये नहीं करती थीं कि वह औरोंकी अपेक्षा उसे अधिक प्यार करती थीं; बल्कि इसलिये कि वे उसके द्वारा कार्यके लिये कुछ ऐसी चीज करा लेनेकी कोशिश करती थीं जो हो जानेपर सबके लिये एक महान् विजय होती। परन्तु ठीक इसी कारण कि उसने इसे गलत रूपमें लिया और इसे एक व्यक्तिगत भौतिक सम्बन्ध और अपनी अहंकारपूर्ण कामनाकी तृप्तिके रूपमें पकड़नेके लिये व्यग्र हो उठा, वह असफल हुआ और उसे चला जाना पड़ा। तुम्हारा "अंग" भी वही इन्द्रियाश्रित अहंकारकी मूर्खतापूर्ण और अज्ञानमय मांग पेश करता है और यदि माताजी इतनी मूर्ख हों कि उसे सन्तुष्ट करें तो इसका परिणाम 'अ' के जैसा ही होगा।

माताजीने इसलिये शरीर ग्रहण किया कि स्थूल ढंगका एक कार्य करना है (उसमें स्थूल जगत्‌का परिवर्तन भी शामिल है); वे लोगोंके साथ "स्थूल सम्बन्ध" स्थापित करनेके लिये नहीं आयी हैं। कुछ लोग कार्यमें हिस्सा बंटानेके लिये उनके साथ आये हैं; कुछ लोगोंको उन्होंने बुलाया है, दूसरे लोग ज्योति की खोज करने आये हैं। प्रत्येकके साथ उनका एक व्यक्तिगत सम्बन्ध है अथवा व्यक्तिगत सम्बन्ध होनेकी सम्भावना है, परन्तु प्रत्येक सम्बन्ध अपने-अपने ढंगका अलग है और कोई भी यह नहीं कह सकता कि उन्हें प्रत्येक व्यक्तिके साथ समान रूपसे एक ही बात करनी चाहिये-कोई भी आदमी अपने अधिकारके रूपमें यह दावा नहीं कर सकता कि उन्हें शरीरसे उसके निकट रहना होगा क्योंकि वह शरीरसे दूसरोंके निकट हैं। कुछ लोगोंने उनके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध बना रखा है, फिर भी वे उनसे बहुत कम मुलाकात करती हैं--कुछ लोगोंका व्यक्तिगत सम्बन्ध कम घनिष्ठ है और फिर भी किसी-न-किसी कारणवश वे उनके साथ अधिक बार और अधिक देरतक मुलाकात कर सकती हैं। इस प्रसंगमें स्थूल मनके मूर्खतापूर्ण गणित-जैसे नियमोंका व्यवहार करना निरर्थक है। तुम्हारा स्थूल मन यह नहीं समझ सकता कि माताजी क्या करती हैं; उसके मूल्य, मानदण्ड और भावनाएं माताजीकी नहीं हैं। और उन्हें क्या करना चाहिये इसकी माप-जोख अपने व्यक्तिगत प्राणकी मांग या कामनाके द्वारा करना तो और भी अधिक बुरा है। वही रास्ता आध्यात्मिक

सर्वनाशका है। माताजी प्रत्येक प्रसंगमें उस प्रसंगके अनुकूल विभिन्न कारणोंके अनुसार कार्य करती हैं।

माताजीके सच्चे बच्चे

वे ही माताजीके सबसे नजदीकी बच्चे हैं जो उनकी ओर खुले हुए हैं, उनकी आन्तर सत्तामें उनके निकट हैं, उनकी इच्छाके साथ 'एक' हो गये हैं—वे लोग नहीं जो शरीरसे उनके सबसे अधिक निकट हैं।

* * *

यदि किसीको निकट आन्तरिक सम्बन्ध प्राप्त हो तो वह माताजीको सदैव अपने पास और अन्दर तथा चारों ओर अनुभव करता है और उससे अधिक निकट भौतिक सम्बन्धको उस सम्बन्धकी खातिर ही प्राप्त करनेके लिये कतई आग्रह नहीं करता। जिन्हें यह प्राप्त नहीं उन्हें इसके लिये अभीप्सा करनी चाहिये और दूसरे प्रकारके सम्बन्धके लिये लालायित नहीं होना चाहिये। यदि उन्हें बाह्य समीपता प्राप्त हो जाय तो उन्हें पता चलेगा कि आन्तरिक एकता और समीपताके बिना उसका कुछ अर्थ नहीं। शरीरसे व्यक्ति माताजीके पास हो सकता है और फिर भी उनसे उतना दूर हो सकता है जितना सहरा-का मरुस्थल।

११-६-१९३४

माताजीके साथ आन्तरिक एकत्व और बाहरी सम्बन्ध

आध्यात्मिक एकत्व भीतरसे आरम्भ होना चाहिये और फिर वहांसे बाहरकी ओर फैलना चाहिये; वह किसी भी बाहरी चीजपर अवलम्बित नहीं हो सकता —क्योंकि, अगर इस तरह अवलम्बित हो तो, वह एकत्व आध्यात्मिक या सच्चा नहीं हो सकता। यही सबसे बड़ी भूल है जो यहां बहुतसे आदमी करते हैं; वे माताजीके साथ बाहरी प्राणगत या भौतिक सम्बन्धपर ही सारा जोर डाल देते हैं; प्राणगत आदान-प्रदान या भौतिक सम्पर्कके लिये आग्रह करते हैं और जब वे उसे सन्तोषप्रद मात्रामें नहीं पाते तब वे सब प्रकारके गोलमाल, विद्रोह, शंका-सन्देह और अवसादमें जा गिरते हैं। यह एकदम गलत दृष्टि है और इसने बहुत अधिक बाधा और उपद्रव ही खड़ा किया है। मन, प्राण

और शरीर एकत्वमें भाग ले सकते हैं और भाग लेना ही उनके लिये अभिप्रेत है, पर उसके लिये उन्हें चैत्य पुरुषकी अधीनता स्वीकार करनी होगी, स्वयं चैत्य-भावापन्न हो जाना होगा; एकत्वको मूलतः चैत्य और आध्यात्मिक एकत्व होना होगा और मन, प्राण और शरीरतकमें फैल जाना होगा। शरीरतकको इस योग्य हो जाना होगा कि वह सूक्ष्म रूपसे माताजीका सान्निध्य, उनकी ठोस उपस्थिति अनुभव कर सके — केवल तभी एकत्व वास्तवमें स्थापित हो सकता और पूर्ण बन सकता है एवं केवल तभी कोई भौतिक सामीप्य या संस्पर्श अपना सच्चा मूल्य प्राप्त कर सकता और अपने आध्यात्मिक उद्देश्यको सिद्ध कर सकता है। जबतक ऐसा नहीं होता तबतक कोई भी भौतिक संस्पर्श बस उतना ही मूल्य रखता है जितना कि वह आन्तरिक साधनामें सहायता पहुँचाता है; परन्तु कितना-सा दिया जा सकता है और कौन-सी चीज सहायक या बाधक होगी — इसका विचार एकमात्र माताजी ही कर सकती हैं, साधक इस विषयमें निर्णायक नहीं बन सकता — वह तो अपनी कामनाओं और निम्न-तर प्राणमय अहंकारके द्वारा पथभ्रष्ट हो जायगा जैसा कि वास्तवमें बहुत से लोग हो चुके हैं। जब प्राणगत मांग मौजूद होती है, प्राण दावा करता है, विद्रोह करता है और बाहरी सम्पर्क या सामीप्यकी कामनाको इन सब चीजों-का कारण या एक अवसर बना देता है तो ये सब चीजें आन्तरिक एकत्वके विकसित होनेमें बड़ी रुकावट डालती हैं, उसमें बिलकुल ही सहायक नहीं होतीं। अपने अज्ञानवश साधक बराबर ही यह कल्पना करते हैं कि जब श्रीमाताजी एक व्यक्तिके साथ दूसरेकी अपेक्षा अधिक मुलाकात करती हैं, तब इसका कारण यह है कि वे उसे अधिक पसन्द करती हैं और उस व्यक्तिको अधिक प्रेम तथा सहायता दे रही हैं। यह एकदम भूल है। शारीरिक सामीप्य और संस्पर्श वास्तवमें साधकके लिये एक कठोर अग्निपरीक्षा हो सकता है; वह प्राणगत मांग, दावा, ईर्ष्या आदिको बहुत ऊंचे शिखरतक ऊपर उठा सकता है; फिर दूसरी ओर, हो सकता है कि उसके कारण साधक बाहरी सम्बन्धसे ही सन्तुष्ट हो जाय और आन्तरिक एकत्वके लिये कोई सच्चा प्रयास न करे; अथवा वह, साधारण और परिचित होनेके कारण, एक यांत्रिक चीज बन जाय और किसी भी आन्तरिक उद्देश्यके लिये एकदम बेकार हो जाय — ये सब चीजें केवल सम्भव ही नहीं हैं बल्कि बहुत लोगोंमें घटित भी हुई हैं। श्रीमाताजी यह जानती हैं और इसलिये इस विषयमें उनकी व्यवस्थाका कारण लोग जो कुछ समझते हैं उससे एकदम भिन्न होता है।

एकमात्र सुरक्षित बात है सबसे पहले और पूर्ण रूपसे आन्तर एकत्वपर ध्यान जमाना, उसीको प्राप्त करने योग्य एकमात्र चीज बना लेना और बाहरी

किसी भी चीजके लिये सभी तरहकी मांगों और दावोंको अलग छोड़ देना, जो कुछ मां दें बस उसीसे सन्तुष्ट रहना और एकदम उन्हींके ज्ञान और देख-रेखपर निर्भर करना। यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जानी चाहिये कि जो कामना, विद्रोह, शंका-सन्देह, अवसाद, भीषण संघर्ष आदि उत्पन्न करती है वह कभी आध्यात्मिक क्रियाका सच्चा अंग नहीं हो सकती। अगर तुम्हारा मन कहे कि यह उचित है, तब निश्चय ही तुम्हें मनके सुझावोंपर अविश्वास करना चाहिये। बस उसी एक आवश्यक चीजपर पूर्ण रूपसे ध्यान एकाग्र करो, और. उन सभी सम्भावनाओं और शक्तियोंको, अगर वे आवें तो, अलग रख दो जो उस चीजमें गड़बड़ी उत्पन्न करना चाहें अथवा तुम्हें विपथगामी बनावें। इन सब चीजोंके लिये जो प्राणकी स्वीकृति होती है उसे जीतना होगा, पर उसके लिये सबसे पहली बात है सब प्रकारकी मानसिक स्वीकृति देना अस्वीकार कर देना; क्योंकि मानसिक अनुमोदन उन्हें इतनी अधिक शक्ति प्रदान करता है जितनी उन्हें अन्य किसी प्रकार नहीं प्राप्त होती। मन और गम्भीरतर भावमय सत्तामें समुचित भाव जमाओ — जब विपरीत शक्तियां उठ खड़ी हों तब उसीसे चिपके रहो और उसी दृढ़ चैत्य भावके द्वारा उन्हें दूर भगा दो।

१४-३-१९३७

बाहरी और भीतरी मां

यह ठीक है कि माताजी अनेक रूपोंवाली हैं, परन्तु बाहरी और भीतरी मांके बीच, बहुत कठोर विभेद नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे केवल 'एक' ही नहीं हैं, वरन् शरीररूपी मां अपने अन्दर अन्य सभी रूपोंको धारण करती हैं और उन्हींके अन्दर आन्तर और बाह्य सत्ताके बीच सम्बन्ध स्थापित होता है। परन्तु बाहरी माताजीको सचमुचमें जाननेके लिये हमें यह जानना होगा कि उनके भीतर क्या है और केवल बाहरी आकारकी ही ओर नहीं देखना होगा। ऐसा करना केवल तभी सम्भव होता है जब मनुष्य अपनी आन्तर सत्ताके द्वारा उनके साथ मिलता है और उनकी चेतनामें वर्द्धित होता है — जो लोग केवल बाहरी सम्बन्ध ही स्थापित करना चाहते हैं वे ऐसा नहीं कर सकते।

१०-८-१९३६

* * *

मैं नहीं जानता कि कैसे तुम अभिव्यक्त रूपके 'अन्दर निवास करने' जा रहे हो। यह तो सम्भव है कि व्यक्ति, यहांतक कि उसकी भौतिक सत्ता भी, माताजी-की चेतनामें निवास करे और माताजीका अभिव्यक्त रूप इस एकताका केन्द्र हो। शायद तुम्हारा यही मतलब है? पर यह तुम कैसे करोगे यदि अन्य भागोंको वैसे ही रहनेके लिये स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय जैसे वे हैं? वे तुम्हें निरन्तर सच्ची चेतनासे बाहर खींचते रहेंगे जैसा वे अब करते हैं। और उनका परिवर्तन भला कैसे होगा यदि उन्हें बदलनेके लिये उनके अन्दर माताजीकी शक्ति न हो?

१४-१-१९३६

माताजीके साथ सच्चा आन्तरिक सम्बन्ध

आन्तरिक (अन्तरात्माके) सम्बन्धका तात्पर्य यह है कि मनुष्य माताजीकी उपस्थितिका अनुभव करे, सर्वदा उनकी ओर मुड़ा रहे, यह जाने कि उनकी शक्ति ही उसे चला रही है, पथ दिखा रही है और सहायता कर रही है, उनके प्रति प्रेमसे भरपूर रहे और चाहे वह शरीरसे उनके पास हो या न हो, बराबर ही उनका महान् सामीप्य अनुभव करे। यह सम्बन्ध मन, प्राण और आन्तर शरीरको तबतक ऊपर उठाता जाता है जबतक कि मनुष्य अपने मनको माता-जीके मनके समीप, अपने प्राणको उनके प्राणके साथ सुसमंजस और अपनी शारीरिक चेतनातकको उनसे भरा-पूरा अनुभव नहीं करता। ये सभी आन्तरिक एकत्वसे, केवल आत्मा और आन्तर स्वरूपके अन्दरके नहीं प्रत्युत प्रकृतिके अन्दरके एकत्वसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें हैं।

मुझे याद नहीं आता कि मैंने क्या लिखा था, परन्तु यह एक घनिष्ठ आन्तर सम्बन्ध है और बाहरी सम्बन्धसे एकदम भिन्न है। बाहरी सम्बन्ध तो केवल इस बातपर निर्भर करता है कि मनुष्य किस प्रकार उनके साथ बाहरी भौतिक स्तरमें मिलता है। यह बिलकुल सम्भव और सच्ची बात है कि यदि कोई उनको शरीरसे केवल प्रणाम और ध्यानके समय तथा वर्षमें केवल एक बार, सम्भवतः जन्मदिनके अवसरपर ही देखे तो भी यह घनिष्ठ आन्तर सम्बन्ध पाया जा सकता है।

* * *

सम्पर्क तो बराबर ही रहता है, आत्मामें और चैत्य पुरुषमें; परन्तु मन, प्राण

और शरीरमें यदि बाधाएं हों तो फिर वह सम्पर्क प्रकट नहीं हो सकता, अथवा, यदि प्रकट हो भी तो, उसमें ऐसी चीजें मिली होती हैं जो उसे अपूर्ण और अनुपयुक्त बना देती हैं। सच्चा सम्पर्क तो चैत्य और आध्यात्मिक ही है; अन्य अंगोंका सम्बन्ध इसी चैत्य और आध्यात्मिक सम्बन्धके आधारपर बनाये रखना चाहिये और तभी यह स्थायी हो सकता है।

***

भगवान्‌के साथका सम्बन्ध, माताजीके साथका सम्बन्ध होना चाहिये प्रेम, श्रद्धा-भक्ति, विश्वास, निर्भरता और आत्मसमर्पणका सम्बन्ध; साधारण प्रकारका कोई भी दूसरा प्राणगत सम्बन्ध ऐसी प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करता है जो साधनाके विरुद्ध होती हैं—जैसे, कामना-वासना, अहंकारपूर्ण अभिमान, मांग, विद्रोह और अज्ञानमयी राजसिक प्रकृतिका सारा विक्षोभ जिससे दूर हटना ही साधनाका लक्ष्य है।

२६-४-१९३३

सतत चैत्य सामीप्य

प्र०— मैं अपने-आपको माताजीके बहुत नजदीक अनुभव करता हूं मानो हमारे बीच कोई पार्थक्य ही न हो। लेकिन यह कैसे सम्भव हो सकता है जब कि उनके और मेरे बीच इतनी बड़ी खाई है — वे तो हैं अतिमानसिक स्तरपर और मैं हूं मानसिक स्तरपर?

उ०— परन्तु माताजी केवल अतिमानसिक स्तरपर ही नहीं हैं बल्कि सभी स्तरों-पर हैं। और विशेषकर चैत्य भाग (आन्तर हृदय) में वह प्रत्येक व्यक्तिके समीप हैं, इसलिये जब चैत्य भाग खुलता है तब स्वभावतः ही सामीप्यका अनुभव होता है।

११-१२-१९३३

***

जो चीज आवश्यक है वह है तुम्हारे चैत्य पुरुषका आगे आना और मेरे तथा माताजीके प्रत्यक्ष, यथार्थ तथा सतत आन्तर संस्पर्शके प्रति तुम्हें खोल देना।

अबतक तुम्हारे अन्तरात्माने मनके द्वारा और उसके आदर्शों तथा पसंदगियोंके द्वारा अथवा प्राण और उसके उच्चतर सुखों और अभीप्साओंके द्वारा अपने-आपको अभिव्यक्त किया है; परन्तु भौतिक कठिनाइयोंको जीतने तथा जड़तत्त्व-को आलोकित करने और रूपान्तरित करनेके लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है। वास्तवमें स्वयं तुम्हारे अन्तरात्माको, तुम्हारे चैत्य पुरुषको सामने आना होगा, सम्पूर्ण रूपसे जागृत होना होगा और मूलगत परिवर्तन ले आना होगा। चैत्य पुरुषको बौद्धिक आदर्शोंके समर्थनकी या बाहरी चिह्नों और सहायताओंकी कोई आवश्यकता न होगी। केवल यही वह चीज है जो तुम्हें भगवान्‌की सीधी अनुभूति दे सकती है, सतत सान्निध्य, आन्तर अवलम्ब और साहाय्य दे सकती है। उस समय तुम माताजीको दूर नहीं अनुभव करोगे और न सिद्धिके विषयमें फिर कोई सन्देह ही करोगे; क्योंकि मन ही विचार करता है और प्राण लाला-यित होता है, पर अन्तरात्मा भगवान्‌को अनुभव करता और जानता है।

यहांपर जो कुछ तुमने लिखा है वह चैत्य पुरुष और माताजीके साथ उसके सम्बन्धका ठीक-ठीक वर्णन है। यही सच्चा सम्बन्ध है। अगर इस योगमें तुम सफल होना चाहते हो तो तुम्हें चैत्य सम्बन्धको अवश्य ही अपनाना चाहिये और अहंकारपूर्ण प्राणिक क्रियाका त्याग करना चाहिये। चैत्य पुरुषका सामने आना और वहां बने रहना ही योगकी निर्णायक क्रिया है। जब तुम पिछली बार श्रीमाताजीसे मिले तब यही हुआ था, तुम्हारा चैत्य पुरुष सामने आ गया था। परन्तु तुम्हें उसे सामने ही बनाये रखना होगा। किन्तु तुम यदि प्राणगत अहंकारकी बात और उसकी चिल्लाहटोंको सुनोगे तो तुम यह करनेमें समर्थ नहीं होगे। श्रद्धा-विश्वास, आत्मसमर्पण और शुद्ध आत्मदानका आनन्द — चैत्यपुरुषोचित भाव — ही वह चीज है जिसकी सहायतासे मनुष्य सत्यमें वर्द्धित और भगवान्‌के साथ युक्त होता है।

२६-२-१९३३

* * *

प्र०— जब मैं ठीक-ठीक एकाग्र नहीं हो सका तब मैंने ऊपरसे पवित्रता-का आवाहन किया। तुरत सारी सत्ता शान्ति और पवित्रतासे भर गयी और बिना किसी कठिनाईके मैंने हृदयमें माताजीकी उपस्थितिका अनुभव किया। हृदय से, नीचेसे, सच पूछा जाय तो सत्ताके प्रत्येक अंगसे तीव्र अभीप्सा उठने लगी। हृदय माताजीके प्रति पूजाके भावसे भर गया था; भक्ति, सच्चे समर्पण तथा माता-

जीके साथ एकत्वकी प्राप्तिसे मिलनेवाली महान् निश्चितताका भाव वर्तमान था। पवित्रताके लिये भी तीव्र अभीप्सा उठ रही थी। क्या यह चैत्य उद्घाटन था ?

उ०— हां, निःसन्देह यह चैत्य उद्घाटन था और जिस बातपर अधिक जोर था वह था उच्चतर पवित्रताके लिये उद्घाटन और वह बहुत आवश्यक है। वह चैत्य उद्घाटन तथा माताजीके साथ आन्तर सम्पर्क प्राप्त करनेके लिये एक अत्यन्त आवश्यक चीज है।

१४-७-१९३७

* * *

जो पुकारता है वह है तुम्हारा अपना ही चैत्य पुरुष जिसका स्थान है हृत्केंद्र के पीछे गभीर तलमें। बहुतसे आदमी समय-समयपर वहांसे माताजीके लिये उठती हुई पुकार अनुभव करते हैं। यह पुकार नींदमें अथवा अर्द्ध-जाग्रत् अवस्थामें अधिक आसानीसे उठती है, क्योंकि उस समय ऊपरी मन सक्रिय नहीं होता और इस कारण भीतर आन्तर सत्तामें जो कुछ होता है वह प्रकट हो सकता है।

२९-१०-१९३४

साधनाका सच्चा आधार

हां, यही सच्चा आधार है। पूर्ण समताके अन्दर माताजीके साथ सम्पूर्ण रूपसे युक्त हो जाना जिसमें उच्चतर चेतना जीवनमें उतर सके और प्रकृतिके अत्यन्त बाहरी भागोंमें भी लायी जा सके।

२२-५-१९३४

* * *

जितना ही अधिक माताजीके साथ एकत्व बढ़ता जाय साधनाके लिये वह उतना ही अच्छा है।

२-१०-१९३३

* * *

हां, यह बहुत उत्साहित करनेवाली प्रगति है। अगर तुम विशालता और स्थिरता को पहलेकी तरह बनाये रखो और साथ ही हृदयमें माताजीके लिये प्रेम भी बनाये रखो तो सब सुरक्षित रहेगा — क्योंकि इसका अर्थ होगा योगका द्विविध आधार — अपनी शान्ति, स्वतन्त्रता और आत्मप्रसादके साथ ऊपरसे उच्चतर चेतनाका अवतरण तथा चैत्य पुरुषका उद्घाटन जो समस्त प्रयास या समस्त स्वाभाविक क्रियाको सच्चे लक्ष्यकी ओर मोड़े रखता है।

१०-१०-१९३४

माताजीका प्रेम

तुम माताजीके बच्चे हो और अपने बच्चोंके लिये माताजीका प्रेम असीम है तथा वे उनके स्वभावके दोषोंको धैर्यके साथ सहन करती हैं। माताजीका सच्चा बच्चा होनेकी चेष्टा करो; वे तुम्हारे भीतर ही है, पर तुम्हारा बाहरी मन छोटी-छोटी निरर्थक बातोंमें लगा रहता है और बहुधा उनके विषयमें बहुत अधिक हो-हल्ला मचाया करता है। तुम्हें केवल स्वप्नमें ही माताजीको नहीं देखना चाहिये बल्कि सब समय उन्हें अपने साथ और अपने भीतर देखना और अनुभव करना सीखना चाहिये। तब तुम अपनेको संयत करना और परिवर्तित करना अधिक आसान पाओगे — क्योंकि वहां मौजूद होनेके कारण माताजी ही तुम्हारे लिये यह कर देनेमें समर्थ होंगी।

* * *

श्रीमाताजीके विषयमें ये भाव और साथ ही यह कि केवल क़ाम करनेके बदलेमें ही लोगोंको उनका प्रेम प्राप्त होता है अथवा उन्हीं लोगोंको प्राप्त होता है जो साधना अच्छी तरह कर सकते हैं, यह प्राणगत-भौतिक मनका अर्थहीन साधारण विचार है और इसका कोई मूल्य नहीं।

१७-१-१९३७

* * *

यदि ध्यानसे तुम्हें सिरदर्द हो जाता है तो तुम्हें ध्यान नहीं करना चाहिये। यह सोचना भूल है कि ध्यान साधनाके लिये अनिवार्य है। ऐसे कितने ही लोग हैं जो ध्यान नहीं करते, किन्तु वे माताजीके समीप हैं और उतनी अच्छी तरह

प्रगति करते हैं जितनी लम्बे ध्यान करनेवाले साधक।

एकमात्र आवश्यक वस्तु है माताजीकी ओर मुड़े होना और बस केवल इसीका प्रयोजन है। डरो मत और न उदास ही होओ, पर माताजीको तुम्हारे अन्दर और तुम्हारे द्वारा अपना कार्य शान्तिसे करने दो और तब सब कुछ ठीक हो जायगा।

१६-३-१९३५

* * *

निश्चय ही तुम्हारे लिये यह आवश्यक नहीं है कि तुम इसलिये 'अच्छा' बनो कि माताजी तुम्हें अपना प्रेम दे सकें। उनका प्रेम बराबर ही है और उस प्रेमके सामने मानव-प्रकृतिकी अपूर्णताओंका कोई मूल्य नहीं। एकमात्र आवश्यक बात यह है कि तुम वहांपर बराबर उसके विषयमें सचेतन बने रहो। उसके लिये यह जरूरी है कि चैत्य पुरुष सामने आ जाय—क्योंकि चैत्य पुरुष ही जानता है, जब कि मन, प्राण और शरीर केवल ऊपरी रूपोंको देखते और उनकी गलत व्याख्या करते हैं।

२४-६-१९३६

* * *

'क्ष' सम्भवतः दो भूलें कर रहा है—पहली, वह यह आशा करता है कि माताजी अपने प्रेमको बाह्य रूपोंमें प्रकट करेंगी; दूसरी, फलकी कोई मांग न कर अपने-आपको खोल रखने और समर्पित कर देनेकी ओर मन लगानेके बदले वह उन्नतिकी प्रतीक्षा कर रहा है। ये ही दो भूलें हैं जिन्हें साधक बराबर करते रहते हैं। अगर कोई अपने-आपको खोले, अगर कोई आत्मसमर्पण करे तो फिर जैसे ही प्रकृति तैयार होगी वैसे ही उन्नति भी अपने-आप होगी; परन्तु उन्नतिके लिये व्यक्तिगत रूपसे मनको एकाग्र करनेसे कठिनाइयां, बाधा-विरोध और निराशा ही उत्पन्न होती है, क्योंकि उस समय मन समुचित दृष्टि-से चीजोंको नहीं देखता। 'क्ष'के ऊपर माताजीकी विशेष कृपा है और प्रत्येक दिन प्रणामके समय वे उसे एक ऐसी शक्ति देनेकी चेष्टा करती हैं जो उसे सहारा दे। उसे अपने मन और प्राणमें खूब शान्त-स्थिर बने रहना सीखना चाहिये और अपने-आपको उत्सर्ग कर देना चाहिये जिससे वह सचेतन हो सके तथा साथ ही ग्रहण कर सके। मानव-प्रेमसे भिन्न, भागवत प्रेम गभीर, विशाल

और नीरव होता है; उसे पहचानने और उसका प्रत्युत्तर देनेके लिये साधकको भी अचंचल और उदार-विशाल होना चाहिये। उसे बस सर्मपित हो जाना ही अपना पूर्ण उद्देश्य बना लेना चाहिये जिसमें कि वह एक पात्र और यन्त्र बन जाय और अपने-आपको आवश्यक चीजोंसे भरनेके लिये भागवत ज्ञान और प्रेमके ऊपर छोड़ दे। उसके मनमें इस बातको भी जमकर बैठ जाने दो कि उसे इस बातका आग्रह नहीं करना चाहिये कि एक निश्चित समयके भीतर उसे उन्नति करनी ही होगी, विकास करना ही होगा, अनुभूतियां पानी ही होंगी — जितना भी समय इसमें लगे, उसे प्रतीक्षा करनेके लिये तैयार रहना चाहिये और प्रयासमें लगे रहना चाहिये तथा अपने समस्त जीवनको ही केवल एक चीज अर्थात् भगवान्को ही पानेकी अभीप्सा और उद्घाटनमें परिर्वातत कर देना चाहिये। अपने-आपको दे देना ही साधनाका रहस्य है, कोई चीज मांगना और प्राप्त करना नहीं। जितना ही अधिक कोई अपने-आपको देता है उतना ही अधिक उसमें ग्रहण करनेकी शक्ति बढ़ती है। परन्तु इसके लिये सब प्रकारकी अधीरता और विद्रोह अवश्य दूर हो जाना चाहिये। ऐसे सभी सुझावोंका त्याग करना चाहिये कि हम कुछ पा नहीं रहे हैं, हमें सहायता नहीं मिल रही है, प्रेम नहीं मिल रहा है, हमें चले जाना चाहिये, जीवन या आध्यात्मिक प्रयासको ही छोड़ देना चाहिये।

१-९-१९३६

* * *

स्पष्ट ही है कि लोग यदि माताजीसे साधारण ढंगका प्रेम पानेकी आशा करें तो वे अवश्य निराश होंगे — वह प्रेम जो प्राण और उसके ख्यालोंपर आधारित होता है। यह तो ठीक वही प्रेम है जिसे योगमें अतिक्रम करना अथवा अन्य किसी चीजमें रूपान्तरित करना होता है।

१४-३-१९३६

* * *

यह सब बिलकुल ठीक है। (माताजीके) मानवीय या चैत्य प्रेमको भी बहुतसे लोग अनुभव करने या समझनेमें असमर्थ होते हैं; क्योंकि वह ठीक साधारण मानवीय ढंगका नहीं होता।

५-५-१९३५

* * *

परन्तु तुम उनसे 'मानव' माताके रूपमें क्यों मिलना चाहते हो? अगर तुम भगवती माताको मानव-शरीरमें देख सको तो वह पर्याप्त होगा और वह कहीं अधिक लाभदायी मनोभाव होगा। जो लोग मानव माताके रूपमें उनके पास आते हैं वे प्रायः अपनी कल्पनाके कारण संकटमें पड़ जाते हैं और उनके निकट आनेमें सब तरहकी भूलें करते हैं।

२-५-१९३४

* * *

> प्र०— जब साधकको माताजीकी उपस्थितिका अनुभव नहीं होता तो वह अपनेको अकेला अनुभव करता और कष्ट पाता है। क्या देहमें अवतरित श्रीमां अपने बच्चेका अभाव उस प्रकार अनुभव करती हैं जिस प्रकार मानवी माता करती है? अथवा क्या वे मानवी मांसे अधिक दुःखी होती हैं क्योंकि वे अपना भाव उतने खुले रूपमें नहीं प्रकट कर सकतीं जितना मानवी मां?

उ०— यदि ऐसी बात होती तो माताजीको हर समय लाखों गुना गहरे दुःखकी अवस्थामें रहना पड़ता — क्योंकि वे केवल साधकोंके लिये ही दुःखी क्यों हों? ऐसी प्रत्येक आत्माके लिये जो अज्ञानमें भटक रही है दुःखी क्यों न हों? बच्चेको दुःखी होनेकी जरूरत ही नहीं, उसे तो बस जब श्रीमां पुकारें उनके पास वापिस लौट आना चाहिये।

२४-९-१९३४

* * *

तुम्हारा यह विचार कि माताजी सबकी अपने बच्चोंकी तरह देख-भाल करती हैं और तुम्हारी परवा नहीं करतीं, स्पष्ट ही एक सर्वथा निराधार विचार है और किसी ठोस आधारपर स्थित नहीं। तुम्हारे लिये अपने प्रेममें तथा तुम्हारी देख-भाल करनेमें और तुम्हारे प्रति... अपने ढंगमें वे उतनी ही वात्सल्यपूर्ण हैं जितनी किन्हीं दूसरोंके प्रति और बहुतोंकी अपेक्षा तो तुम्हारे प्रति अधिक वात्सल्यमय हैं। हमें दीख सकनेवाली ऐसी कोई ठोस या विशेष चीज नहीं जिसपर तुम्हारा विचार टिक सके। निश्चय ही, यह माताजीकी भाव-भावनाओंमें विद्यमान किसी वास्तविक तथ्यसे सम्बन्ध नहीं रखता।

पर मैंने देखा है कि इस प्रकारका विचार साधकों और साधिकाओं (विशेषकर साधिकाओं) के मनोंमें तब 'सदा ही' उठा करता है जब वे निराश हो जाते हैं या अपने बाहरसे आनेवाले सुझावोंपर ध्यान देते हैं। वे सदा वही बात कहते हैं जो तुमने कही है, "आप सबसे प्रेम करती और सबकी देखभाल करती हैं; केवल मुझसे आप प्रेम नहीं करतीं, न मेरी परवा ही करती हैं। स्पष्टतः ही मैं योगके अयोग्य हूँ, अन्यथा आप मुझे इस प्रकार अपनेसे दूर न रखतीं। मुझे कभी कुछ भी प्राप्ति नहीं होनेकी। केवल आपको कष्ट देनेके लिये यहां रहनेसे क्या लाभ? मैं यहां रहूँ ही क्यों?" परन्तु जब चैत्य पुरुष अच्छी तरह जाग जायगा, तब ये विचार, यह निराशा, ये अशुद्ध धारणाएं अवश्य ही दूर हट जायंगी। अतएव जो कुछ तुम अनुभव कर रहे हो वह है बस यही निराशा और इसके द्वारा लाये गये गलत सुझाव; यह माताजीकी भाव-भावनाओंमें या तुम्हारे प्रति उनके व्यवहारमें विद्यमान किसी वास्तविक तथ्यसे सम्बन्ध नहीं रखता। जैसे-जैसे तुम्हारा अन्तःपुरुष, तुम्हारी अन्तरात्मा अधिकाधिक आगे आती जायगी वैसे-वैसे और चीजोंके साथ यह निराशा भी हट जायगी — क्योंकि तुम्हारी अन्तरात्मा यह जानती है कि उसे माताजीसे प्रेम है और माताजी तुमसे प्रेम करती हैं; वह मन और प्राणिक प्रकृतिको धोखा देनेवाले सुझावोंसे अन्धी नहीं हो सकती।

अतएव इन विचारोंमें मत पड़े रहो जिनका कोई आधार ही नहीं, बल्कि जो केवल निराशाका भाव या बाहरसे आया सुझावमात्र है। अपने अन्दर स्थित चैत्य पुरुषको विकसित होने दो और माताजीकी शक्तिको कार्य करने दो। शिशु और भगवती मांका सम्बन्ध वहां तुम्हारी अन्तरात्मामें है ही; वह अपनेको तुम्हारे मन, प्राण और भौतिक चेतनामें तबतक अनुभव कराता रहेगा जबतक वह सम्पूर्ण चेतनाका एक ऐसा आधार नहीं बन जाता जिसपर सारी साधना दृढ़ और सुरक्षित हो सके।

२६-७-१९३५

* * *

माताजीका समस्त प्रेम और सहायता तुम्हारे साथ पहलेकी तरह रहेंगे, उनमें कोई परिवर्तन नहीं आयगा। सारी कठिनाई आती है प्राणकी गतिविधिसे जो माताजीके हृदय और आत्माके साथ तुम्हारे हृदय और आत्माके घनिष्ठ सम्बन्धमें पूरी तरहसे निवास करनेके स्थानपर, दूसरे साधकोंके साथ तुलना करके, गलत ढगसे माताजीके प्रेम और सहायताको पाना और उसपर अधिकार जमाना

चाहती है। 'क्ष' के साथ तुम्हारे सम्बन्धमें भी यही बात देखनेमें आती है। पर यह तो एक ऐसा दोष है जो मानव प्रकृतिमें सामान्य रूपसे पाया जाता है और यहां यह बहुतोंमें है। यह कोई ऐसी चीज नहीं जिसे अपनी प्रकृतिमेंसे दूर न किया जा सके। निःसन्देह, क्योंकि तुम्हारा हृदय और अन्तरात्मा इससे मुक्त होना चाहते हैं, यह हटे बिना रह नहीं सकता। अतएव जब यह पुराने अभ्यासके कारण लौट आये तो निरुत्साहित मत होओ। तुम्हारा हृदय और अन्तरात्मा जो कुछ चाहते हैं वह माताजीके प्रेम और उनकी सहायताके द्वारा अवश्य होकर रहेगा और तुम्हें तमसाच्छन्न करनेवाला अशुद्ध तत्त्व मिट जायगा।

२५-९-१९३५

* * *

प्र०– मुझे यह भान होता है कि इधर कुछ वर्षोंसे मेरा चैत्य-पुरुष मेरी सत्ताके अग्रभागमें सदा ही क्रियाशील रहता है। क्या यह भान ठीक है ?

उ०– यदि तुम्हारा चैत्य आगे आया हुआ है और क्रियाशील है, अर्थात् वह मन, प्राण और शरीरको परिवर्तित और नियन्त्रित करनेमें लगा हुआ है, तो यह कैसी बात है कि तुम्हारे साथ माताजीके व्यवहारोंसे तुम्हारी प्रकृतिमें उथल-पुथल मच गई है? यदि चैत्य अग्रभागमें स्थित और क्रियाशील हो तो वह प्रकृतिके किसी भी भागको, जो अस्त-व्यस्त होना चाहता है, तुरन्त यह कहेगा "माताजी जो भी क्रिया या निर्णय करें उसे समर्पण और प्रसन्नताके भावसे स्वीकार करना होगा। मनको यह नहीं मानना होगा कि वह माताजीसे अधिक अच्छी तरह जानता है कि क्या किया जाना चाहिये, प्राणको यह नहीं चाहना होगा कि माताजी उसकी मांगों और पसन्दगियोंके अनुसार कार्य करें। क्योंकि ऐसे विचार और कामनाएं पुरानी प्रकृतिकी चीजें हैं और चैत्य तथा आध्यात्मिक प्रकृतिमें उनका कोई स्थान नहीं। वे अहम्भावकी भूलें हैं।" और यदि चैत्यको प्रकृतिपर नियन्त्रण प्राप्त होता तो विक्षोभ तुरन्त समाप्त हो जाता या क्षीण पड़कर मिट जाता। वास्तवमें, यदि उसे पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त होता तो ऐसे विक्षोभ सम्भव ही न होते। अतएव यह मानना होगा कि सम्भवतः चैत्य पुरुष तुम्हारी सत्तापर कुछ प्रभाव डालता चला आ रहा है पर उसका नियन्त्रण पूर्ण होनेसे कहीं दूर है या फिर प्राण उठ खड़ा हुआ है और उसने चैत्यको ढककर उसका प्रभाव रोक दिया है। परन्तु यदि चैत्य पूरी तरहसे

सामने आया हुआ हो, ढका हुआ न हो या केवल अभी-अभी उभर ही न रहा हो, तो उसे बिलकुल ढक देना सम्भव ही नहीं होगा — तब तो केवल अधिक-से-अधिक ऊपरी सतहपर खलबली हो सकती है जब कि भीतर सब कुछ शान्त, सचेतन और अर्पित ही रहेगा।

२-७-१९३६

माताजीके लिये सच्चा प्रेम

जो प्रेम भगवान्‌की ओर मुड़ा होता है उसे कभी वह सामान्य प्राणगत भाव नहीं होना चाहिये जिसे साधारणतया लोग प्रेमके नामसे पुकारते हैं; क्योंकि वह प्रेम नहीं है, बल्कि वह तो केवल एक प्राणगत वासना है, आत्मसात् करनेकी सहजवृत्ति है, अधिकार करने और एकाधिकार जमानेकी प्रेरणा है। केवल यही नहीं कि यह दिव्य प्रेम नहीं है बल्कि इसे कम-से-कम मात्रामें भी योगके साथ नहीं मिलने देना चाहिये। भगवान्‌के लिये जो सच्चा प्रेम है वह है आत्मदान, उसमें कोई मांग नहीं होती, वह नति और समर्पणके भावसे भरपूर होता है। वह कोई दावा नहीं करता, कोई शर्त्त नहीं लादता, कोई मोल-तोल नहीं करता, ईर्ष्या या अभिमान या क्रोधके कारण किसी प्रकारका आक्रमण नहीं करता —क्योंकि ये सब चीजें उसकी बनावट में नहीं होतीं। बदलेमें स्वयं भगवती माता भी अपने-आपको देती हैं, पर देती हैं खुले तौरपर — और यह प्रकट होता है कि आन्तर आत्मदानके रूपमें — उनकी उपस्थिति तुम्हारे मनमें, तुम्हारे प्राणमें, तुम्हारी भौतिक चेतनामें विद्यमान रहती है, उनकी शक्ति दिव्य प्रकृतिके अन्दर तुम्हारा पुनः-सृजन करती है, तुम्हारी सत्ताकी सभी गतिविधियों-को अपने हाथमें लेती और उन्हें पूर्णता और सिद्धिकी ओर ले जाती है, उनका प्रेम तुम्हें घेर लेता है और अपनी गोदीमें उठाकर तुम्हें भगवान्‌की ओर ले जाता है। इसी बातको अपने समस्त अंगोंमें — एकदम स्थूल अंगतकमें अनुभव करने और प्राप्त करनेकी अभीप्सा तुम्हें करनी चाहिये और इस विषयमें न तो समयकी कोई सीमा है और न परिपूर्णताकी। अगर कोई वास्तवमें इस बातकी अभीप्सा करे और इसे पा ले तो फिर किसी दूसरी मांग अथवा किसी दूसरी अतृप्त कामनाके लिये कोई स्थान नहीं रह जाना चाहिये। और अगर कोई सचमुच अभीप्सा करे तो फिर वह, जैसे-जैसे उसकी पवित्रीकरणकी क्रिया आगे बढ़ती है और उसकी प्रकृतिमें आवश्यक परिवर्तन आता जाता है वैसे-वैसे, उसे निश्चित रूपसे पाता ही है।

समस्त स्वार्थपूर्ण मांगों और कामनाओंसे अपने प्रेमको शुद्ध रखो; तुम

देखोगे कि उसके प्रत्युत्तरमें तुम इतना अधिक प्रेम पा रहे हो जितना कि तुम सहन और आत्मसात् कर सकते हो।

फिर यह भी समझनेकी जरूरत है कि साक्षात्कारकी प्राप्ति ही सबसे मुख्य कार्य है; तुम्हें जो करना है वह यही है, न कि दावों और इच्छाओंकी पूर्ति। जब भागवत चेतना अपने अतिमानसिक प्रकाश और शक्तिके रूपमें उतर आवे और भौतिक सत्ताको रूपान्तरित कर दे, तभी अन्य वस्तुओंको प्रमुख स्थान दिया जा सकता है—और तब भी कामनाको तृप्त नहीं करना होगा, किन्तु भागवत सत्यको पूर्णतया चरितार्थ करना होगा—प्रत्येकमें तथा 'सर्व' में और उस नवीन जीवनमें जिसे इस सत्यकी अभिव्यक्ति करनी है। दिव्य जीवनमें सब कुछ भगवान्के लिये होता है न कि अहंके लिये।

भ्रान्तियां दूर करनेके लिये मुझे शायद दो-एक बातें और कह देनी चाहियें। प्रथम, भगवान्के प्रति जिस प्रेमकी मैं चर्चा कर रहा हूँ वह केवल आंतरात्मिक प्रेम ही नहीं है; वह प्रेम है व्यक्तिकी सारी सत्ताका, जिसमें प्राण और प्राणमय भौतिक सत्ता भी आ जाती है,—ये सभी आत्मोत्सर्गके लिये एकसमान योग्य हैं। दूसरे, यह मान लेना अशुद्ध होगा कि अगर प्राण प्रेम करे तो अवश्य ही वह ऐसा प्रेम होगा जो अपनी कामनातृप्तिकी मांग करेगा और उसे शर्तके रूपमें लादेगा: यह सोचना गलत होगा कि वह या तो अवश्य ऐसा ही होगा या प्राणके लिये आवश्यक है कि वह अपनी "आसक्ति" से बचनेकी खातिर अपने प्रेमके पात्रसे सर्वथा दूर हट जाय। प्राण अपने याचनारहित आत्मदानमें उतना ही निरपेक्ष हो सकता है जितना प्रकृतिका अन्य कोई भी भाग; जब यह प्रियतमके लिये स्व को भुला देता है तब कोई भी भाग इसकी अपेक्षा अधिक उदार नहीं हो सकता। प्राण और शरीर दोनोंको सच्चे तरीकेसे—सच्चे प्रेमके तरीकेसे, अहंकी इच्छाके तरीकेसे नहीं—अपना उत्सर्ग करना चाहिये।

१-८-१९३१

सच्चा प्रेम और अहंपरायणता

प्र०—हम सभी माताजीका प्रेम चाहते हैं, पर मुझे सन्देह है कि हममेंसे कितने लोग सचमुच माताजीसे प्रेम करते हैं। हममेंसे अधिकतर लोग अपनी निजी पसन्दगी और ना-पसन्दगी, सुख और दुःख, सन्तोष और निराशामें ही निवास करते हैं पर मुश्किलसे कोई आदमी वास्तवमें माताजीको प्यार करता है।

उ०— इसका यह मतलब नहीं है कि उनमें प्रेम नहीं है, पर वह प्रेम स्वार्थ-परता, मांग और प्राणिक क्रियाओंसे मिलाजुला और ढका हुआ है। कम-से-कम अधिकतर लोगोंकी यही अवस्था है। निःसन्देह, कुछ लोग ऐसे हैं जिनमें एकदम प्रेम नहीं है अथवा जो कुछ वे पाते हैं केवल उसीके लिये 'प्रेम' — अगर उसे यह नाम दिया जाय — करते हैं; एक या दो ऐसे हैं जो सचमुचमें प्रेम करते हैं, पर बहुतसे लोगोंमें चैत्य स्फुलिंग घने धुएंमें छिपा हुआ है। उस धुएंसे छुटकारा पाना ही होगा जिसमें कि स्फुलिंगको अग्निशिखाके रूपमें बढ़नेका अवसर प्राप्त हो।

९-११-१९३४

चैत्य, मानसिक और प्राणिक भक्ति

प्र०— माताजीके प्रति चैत्य भक्ति, मानसिक भक्ति और प्राणिक भक्तिमें क्या अन्तर है?

उ०— चैत्य भक्ति प्रेम और आत्मदानसे बनी होती है और उसमें कोई मांग नहीं होती; प्राणिक भक्ति माताजी द्वारा अधिकृत होने और उनकी सेवा करनेके संकल्पसे तथा मानसिक भक्ति श्रद्धा, और माताजी जो कुछ हैं, जो कुछ कहती और करती हैं उस सबको बिना किसी आपत्तिके स्वीकार कर लेनेके भावसे गठित होती है। अवश्य ही ये सब बाहरी चिह्न हैं — अपने आन्तर स्वरूपमें ये तीनों स्पष्ट पहचाने जा सकते हैं पर इनके भेदको शब्दोंमें नहीं रखा जा सकता।

२८-४-१९३३

* * *

प्र०— क्या इस योगमें मानसिक और प्राणिक भक्तिके लिये कोई स्थान नहीं है?

उ०— कौन कहता है कि नहीं है? सभी प्रकारकी भक्तिके लिये स्थान है बशर्ते कि वह सच्ची भक्ति हो।

२८-४-१९३३

* * *

यह है अपने अहम्भाव-सहित पुराना प्राण जो फिर-फिर उभड़ आता है। यह उच्चतर सत्ताका अनुसरण करने और उन सच्चे भक्तों-जैसा बननेसे इनकार करता है जो कुछ नहीं मांगते और उस सबसे ही सन्तुष्ट रहते हैं जो माताजी करती हैं या नहीं करतीं; कारण, जो कुछ भी वे करती हैं वह अवश्य ही भला होगा क्योंकि वे भगवती मां हैं। तुम्हें इस प्राणिक भागपर इस सत्यको बल-पूर्वक लागू करना होगा।

६-५-१९३५

* * *

प्र०— शुद्ध और पूर्ण भक्ति कैसे प्राप्त की जाय ?

उ०— पहले शान्त अवस्था प्राप्त करो — फिर उस शान्त भूमिकासे अभीप्सा करो और अपने-आपको शान्त भावसे तथा सचाईके साथ माताजीकी ओर खोल दो।

१५-११-१९३३

* * *

प्र०— मुझे भक्तिका एक छोटा-सा कण प्रदान कीजिए, हे मां, बस उसकी एक छोटी-सी कणिका भर। अन्यथा, न मालूम मुझे क्या हो जायगा, सचमुच मुझे यह भी पता नहीं कि मैं यहां कैसे रह सकता हूँ। और मैं आपके चरण-कमलोंका आश्रय छोड़ना भी नहीं चाहता।

उ०— ऐसा करो कि मानसिक आतुरता तुम्हें परेशान न करने पाए। माताजी-की शक्तिकी क्रियाकी प्रतीक्षा करो। वे तुम्हारे हृदय-कमलको खोल देंगी। ऊपरसे आनेवाली ज्योतिमें भक्ति तुम्हारे अन्दर प्रस्फुटित हो उठेगी।

२५-१०-१९३६

श्रद्धा और प्रेम

प्र०— क्या यह सच नहीं है कि जिन लोगोंको माताजीमें श्रद्धा-

विश्वास है, उनमें उनके लिये प्रेम भी है? क्या श्रद्धा-विश्वास और प्रेम साथ-साथ नहीं रहते?

उ०— सर्वदा नहीं। ऐसे बहुतसे लोग हैं जिन्हें प्रेमके बिना भी कुछ श्रद्धा-विश्वास होता है, यद्यपि उनमें एक प्रकारकी मानसिक भक्ति हो सकती है, और बहुतेरे ऐसे होते हैं जिनमें कुछ प्रेम तो होता है पर श्रद्धा-विश्वास नहीं होता। परन्तु यदि सच्चा चैत्य प्रेम हो तो श्रद्धा-विश्वास भी उसके साथ रहता है, और यदि पूर्ण श्रद्धा-विश्वास हो तो फिर चैत्य प्रेम शीघ्र जाग्रत् हो जाता है। तुम्हारा कहना तभी ठीक है यदि वह अन्तरात्माका विश्वास हो, अन्तरात्मा-का प्रेम हो—परन्तु कुछ लोगोंमें केवल प्राणिक भाव ही होता है और जब वह निराश होता है तब वह विद्रोह और क्रोध ले आता है और वे चले जाते हैं।

८-५-१९३३

माताजीके लिये चैत्य भाव

प्र०— वह किस प्रकारका भाव है जिसमें माताजीको केवल देखनेसे ही सन्तोष और आनन्द मिलता है?

उ०— वह चैत्य भाव है।

प्र०— वह किस प्रकारका भाव है जिसमें माताजीको केवल याद करनेमें ही सन्तोष और आनन्द मिलता है?

उ०— चैत्य।

प्र०— वह किस प्रकारका भाव है जिसमें माताजीके विरुद्ध कुछ सुननेपर हृदयमें चोट पहुँचती है?

उ०— चैत्य।

प्र०— वह किस प्रकारका भाव है जिसमें मनुष्य अपने हृदयमें माता-जीकी उपस्थितिके निकट अपनेको अनुभव करता है जब कि वे शरीरसे बहुत दूर होती हैं।

उ०– चैत्य।

प्र०– मैं यह कैसे पता लगाऊं कि मैं पूरे चैत्य प्रेमकी अवस्थामें हूँ?

उ०– अहंकारके अभाव, विशुद्ध भक्ति, भगवान्के प्रति नति और आत्म-समर्पणके द्वारा।

९-५-१९३३

***

प्र०– जब सारी-की-सारी प्रकृति "श्रीमां" शब्दके चारों ओर वेदन, चिन्तन और कर्म करनेमें निरत हो तो क्या चैत्य पुरुषकी उपलब्धि हो जायगी?

उ०– वह अपने-आपमें चैत्य अवस्था होगी।

***

प्र०– क्या चैत्यके पूरी तरहसे सामने आनेसे पहले उसके द्वारा माताजीके साथ सचेतन सम्पर्क स्थापित हो सकता है?

उ०– हां, चैत्य तो वहां सदा ही उपस्थित है।

***

प्र०– जब-जब भी मैं माताजीके दर्शन करता हूँ, हर बार ही मुझे प्रेम और आनन्दकी अनुभूति क्यों नहीं होती?

उ०– जहांतक प्रेम एवं आनन्दका प्रश्न है, वह चैत्यके ऊपरकी ओर उभर आनेपर निर्भर करता है।

२९-७-१९३४

***

प्र०— जब कभी माताजीके लिये आन्तरिक प्रेम फूट पड़ता है, आंसू भी उमड़ आते हैं।

उ०— ये भक्ति आदिके चैत्य आंसू हैं।

२५-८-१९३४

* * *

प्र०— एक दर्शक महिला आज आश्रमसे जानेवाली थीं। ज्यों ही माताजीने प्रणाम-समारोह समाप्त किया यह महिला रोने लगी। वास्तवमें, उसने अपनेको रोकनेका भरसक प्रयत्न किया क्योंकि हम सब अभी वहीं थे, पर लगता है यह उसके बसकी बात नहीं थी। क्या इसका कारण यह नहीं था कि उसका चैत्य उस समयके लिये सामने आ गया था ?

उ०— यह चैत्यके सामने आनेकी बात नहीं। उसका चैत्य पुरुष जागा हुआ है और आन्तरिक स्तरपर चिरकालसे उसके चैत्यका माताजीके साथ सम्बन्ध रहा है।

२८-८-१९३४

* * *

प्र०— ऊपरसे एक सिहरन आती है और मेरे शरीरमें गुजर जाती है, कुछ समयके लिये वह आधारको शान्त-निश्चल कर देती है। मैं उसके विषयमें कुछ विशेष नहीं समझ पाता। वह ठीक-ठीक क्या चीज है ?

उ०— निःसन्देह वह माताजीके स्पर्शकी सिहरन है जो ऊपरसे आती है और जिसे चैत्य और प्राण एक साथ अनुभव करते हैं।

२८-८-१९३४

* * *

प्र०— हम देखते हैं कि माताजीकी उपस्थितिमें या उनसे मिलकर हम विषादसे निकल आते हैं और हर्षोद्रिक अनुभव करते हैं। क्या ऐसा चैत्य मिलनके द्वारा होता है या आन्तर प्राणिक स्तरपर मिलन-के द्वारा?

उ०— यह इसपर निर्भर करता है कि क्या वह हर्षोल्लास माताजीसे प्राण-शक्तिका आहरण करनेसे आता है या केवल उन्हें देखनेकी खुशीसे या उनसे कुछ प्राप्त करनेके कारण। पिछली दो अवस्थाओंमें वह सामान्यतया चैत्य या चैत्य-प्राणिक होता है, पहली अवस्थामें प्राणिक।

* * *

प्र०— यदि किसी मनुष्यको यह वेदन होता है कि वह माताजीका सबसे सुखी बच्चा है तो क्या ऐसा अहम्भावके कारण होता है?

उ०— यह उस वेदनके मूलस्रोत पर निर्भर करता है। यदि सुख सच्चा हो तो वह अहम्भाव नहीं है। यदि उसका कारण हो अपने श्रेष्ठ होनेकी भावना तो वह अहम्भाव है।

* * *

प्र०— मेरा चैत्य कभी-कभी अपनेको उदास और अकेला अनुभव करता है क्योंकि उसे लगता है कि वह माताजीको ठीक तरहसे प्रेम नहीं कर सकता।

उ०— ऐसी बात है तो वह चैत्य हो ही नहीं सकता। चैत्यको कभी ऐसा नहीं लगता कि वह भगवान्से प्रेम नहीं कर सकता।

* * *

प्र०— माताजीके प्रति चैत्य प्रेम — नहीं तो मृत्यु: कभी-कभी व्यक्ति एक अन्तिम निश्चयके रूपमें ऐसा अनुभव करता है।

उ०— यह बिलकुल गलत मनोवृत्ति है। यह एक बार फिर प्राणका आ घुसना है —यह चैत्य मनोभाव नहीं। यदि चैत्य प्रेमकी मांग करते हुए तुम एक ऐसा मनोभाव अपनाते हो जो प्राणिक है, चैत्य नहीं, तो तुम चैत्यके आनेकी आशा ही कैसे करते हो?

२-३-१९३५

* * *

प्र०— केवल इस बातपर ध्यान एकाग्र करना कि मैं माताजीके हृदयके संग ही रहूँ और यह चाहना कि केवल उन्हींका होऊं और उन्हींके लिये जीऊं तथा और किसी अनुभवकी परवा न करना: इस मनोभावके विषयमें आपका क्या विचार है?

उ०— चैत्य सत्ता और सामान्यतया आन्तर सत्ताको जगानेके लिये यह भाव अच्छा है। परन्तु यदि उच्चतर अनुभव आये तो उसे रोकना नहीं चाहिये।

१२-३-१९३५

* * *

प्र०— उच्चतर या गभीरतर अनुभव भी कतई मूल्यवान् नहीं प्रतीत होते यदि व्यक्ति माताजीसे सच्चे हृदयके साथ प्रेम नहीं कर सकता।

उ०— ऐसा सोचना एक भूल है। अनुभव सत्ताके विभिन्न भागोंको ठीक ढंगसे प्रेम करनेके लिये तैयार करते हैं, जिससे ऐसा न हो कि केवल आत्मा ही प्रेम करे। जबतक वे अज्ञान और अहम्भावकी ओर खुले हैं तब तक वे प्रेमको ठीक तरहसे ग्रहण और धारण नहीं कर सकते।

२३-१०-१९३५

चैत्य और प्राणिक प्रेम

प्रेम और भक्ति चैत्य पुरुषके उद्घाटनपर निर्भर करती हैं और उनके लिये कामनाओंका नाश आवश्यक है। बहुतसे लोग जो माताजीके प्रति चैत्य प्रेमके बदले प्राणगत प्रेम प्रदर्शित करते हैं उससे अन्य चीजोंकी अपेक्षा गोलमालकी

ही सृष्टि अधिक होती हैं, क्योंकि उस प्रेमके साथ कामना जुड़ी होती है।

८-९-१९३६

* * *

प्राणगत प्रेम रखनेमें कोई हानि नहीं है बशर्ते कि वह सब प्रकारकी असरलता (उदाहरणार्थ, आत्मश्लाघा इत्यादि) से और सब प्रकारकी मांगसे खाली हो। माताजीको देखनेमें प्रसन्नताका अनुभव करना बिलकुल ठीक है, पर अपने अधिकारके रूपमें उसकी मांग करना, जब न मिले तो दुःखी होना या विद्रोह करना या अभिमान करना, जो लोग उसे पायें उनसे ईर्ष्या करना — यह सब मांग कहलाता है और एक प्रकारकी अपवित्रता उत्पन्न करता है जो प्रसन्नता और प्रेम दोनोंको नष्ट कर देती है।

१३-९-१९३४

* * *

जहांतक माताजीको देखनेकी 'उत्सुकता'का प्रश्न है, उसका ठीक होना या न होना भावके स्वरूपपर निर्भर करता है। यदि उसमें कोई मांग या दावा नहीं, जब वह पूरी न हो तो किसी प्रकारका असन्तोष नहीं होता, वरन् वह केवल, जब कभी भी सम्भव हो, उन्हें देखनेकी तीव्र इच्छाका और उनके दर्शन करनेके आनन्दका एक भाव ही है तो वह बिलकुल ठीक है। निःसन्देह, वहां क्रोध या ईर्ष्या लेशमात्र भी नहीं होनी चाहिये। प्राणको भी साधनामें भाग लेना ही है, इसलिये वह भाव निरे इस तथ्यके कारण गलत नहीं हो जाता कि उसमें प्राणिक तत्त्व है, बशर्ते कि प्राणिक तत्त्व ठीक प्रकारका हो।

६-१२-१९३१

* * *

अगर माताजीके विरुद्ध तुम्हें मान (नाराजी) न हुआ हो तो वह भी निश्चय ही बहुत अच्छा है। मान, क्षोभ आदि जीवनके चिह्न हो सकते हैं पर प्राणगत जीवनके चिह्न हैं, आन्तरिक जीवनके नहीं। उन्हें अवश्य शान्त हो जाना चाहिये और आन्तरिक जीवनको स्थान देना चाहिये। आरम्भमें परिणाम-स्वरूप एक उदासीनता-भरी शान्ति आ सकती है, परन्तु अधिक यथार्थ नयी

चेतनाको पानेके लिये मनुष्यको अक्सर ऐसी अवस्थामेंसे गुजरना होता है।

२-१-१९३७

* * *

इस अशान्त प्राणगत क्रियामें संलग्न रहनेसे कोई लाभ नहीं। इस चीजके द्वारा तुम श्रीमांके साथ एकत्व नहीं प्राप्त कर सकते। तुम्हें शान्तिके साथ अभीप्सा करनी चाहिये—खाना, सोना और अपना काम करना चाहिये। शान्ति ही वह एकमात्र वस्तु है जिसे इस समय तुम्हें मांगना चाहिये—एकमात्र शान्ति और स्थिरताके आधारपर ही सच्ची उन्नति और सिद्धि आ सकती है। तुम्हारी खोजमें अथवा माताजीके प्रति होनेवाली तुम्हारी अभीप्सामें किसी प्रकारकी कोई प्राणगत उत्तेजना नहीं होनी चाहिये।

२०-१०-१९३३

प्राणका मोलतोल और सच्चा आत्मदान

जो कुछ तुम्हें अनुभव हुआ है वह निम्न प्राणका अपनी मांगों और वासनाओंके साथ फिरसे जग जाना या तुम्हारे ऊपर पुनः लौट आना है। उसका सुझाव यह है कि "मैं योग कर रहा हूँ, पर कर रहा हूँ किसी लाभके लिये। मैंने प्राणगत वासना और तृप्तिका जीवन छोड़ दिया है पर इसीलिये कि मुझे माताजीके साथ घनिष्ठता प्राप्त हो—संसारके द्वारा तृप्ति पानेके बदले मैं भगवान्के द्वारा तृप्ति पाऊं और अपनी कामनाओंको चरितार्थ करूँ। अगर मुझे माताजीके साथ घनिष्ठता न प्राप्त हो और तुरत न प्राप्त हो और जैसे मैं चाहता हूँ वैसे न प्राप्त हो तो फिर मैं पुरानी चीजोंको ही क्यों छोड़ूँ?" और इसके स्वाभाविक फलके रूपमें पुरानी चीजें फिर आरम्भ हो जाती हैं— 'अ' और 'ब' तथा 'ब' और 'अ' एवं 'स' की भूलें आदि।" इस निम्न प्राणकी मशीनको तुम्हें अवश्य देखना चाहिये और इसकी क्रियाको त्यागना चाहिये। वास्तवमें आत्मदानके पूर्ण चैत्य सम्बन्ध द्वारा ही भगवान्के साथ एकता और घनिष्ठता बनायी रखी जा सकती है—दूसरा जो है वह प्राणगत अहंकारकी क्रियाका अंग है और वह केवल चेतनाका पतन ही करा सकता और गोलमालकी सृष्टि कर सकता है।

२०-६-१९३३

* * *

तुम्हें केवल अपने-आप और भगवान्से मतलब है। भगवान्के साथके तुम्हारे सम्बन्धमें तुम्हारा मतलब यह नहीं है कि भगवान् तुम्हारी व्यक्तिगत कामनाओं-को तुष्ट करें बल्कि यह है कि वे तुम्हें इन चीजोंसे बाहर खींचकर तुम्हारी उच्चतम आध्यात्मिक सम्भावनाओंतक ऊपर उठा ले जायं जिससे कि तुम अपने अन्तरमें माताजीके साथ युक्त हो सको और उसके फलस्वरूप अपनी बाहरी सत्तामें भी युक्त हो सको। तुम्हारी प्राणगत वासनाओंको तृप्त करके ऐसा नहीं किया जा सकता — उनको तृप्त करनेसे तो वे और भी बढ़ेंगी और तुम्हें साधारण प्रकृतिके अज्ञान तथा चंचल विशृंखलाके हाथोंमें सौंप देंगी। ऐसा तो केवल तुम्हारे आन्तरिक विश्वास और आत्मसमर्पणके द्वारा तथा भीतरसे काम करनेवाली और तुम्हारी प्राण-प्रकृतिको बदलनेवाली माताजीकी शान्ति और शक्तिके दबावके द्वारा ही किया जा सकता है। इसी बातको जब तुम भूल जाते हो तब तुम गलत रास्तेपर चले जाते हो और दुःख पाते हो; जब तुम इसे याद रखते हो तब तुम आगे बढ़ते हो और कठिनाइयां धीरे-धीरे कम होने लगती हैं।

१३-९-१९३३

* * *

अगर यह प्राणका वही अंश हो जो पहले ठीक दिशामें था और अब माताजीके विरुद्ध चला गया है तब इसका कारण बिलकुल स्पष्ट है। इसने जो साथ दिया उसका कारण यह था कि इसने समझा था कि सहयोग देनेपर माताजी इसकी कामनाओंको सन्तुष्ट कर देंगी; पर यह देखकर कि इसकी कामनाएं चरितार्थ नहीं हो रही हैं, यह उनके विरुद्ध चला गया है। साधारण मनुष्य और साधा-रण जीवनमें प्रायः प्राणिक क्रिया ऐसी ही होती है और योगमें इसका कोई भी यथार्थ स्थान नहीं है। साधकोंके ठीक इसी मनोभावको योगमें ले आने और बराबर बनाये रखनेके कारण अन्तमें यह आवश्यक हो गया कि श्रीमाताजी एकान्तमें चली जायं जैसा कि उन्होंने अब किया है। वास्तवमें तुम्हें करना यह चाहिये कि तुम इन निम्नतर भागोंको यह समझा दो कि उनका अस्तित्व स्वयं उनके लिये नहीं है बल्कि भगवान्के लिये है और बिना किसी मांग या हिचकिचाहट या छल-कपटके उन्हें सहयोग देनेके लिये है। इस समय साधनाका यही समूचा प्रश्न है। क्योंकि जब ऐसा किया जायगा केवल तभी भौतिक चेतना परिवर्तित हो सकेगी और अवतरणके योग्य बन सकेगी। अन्यथा सत्ताके किसी-न-किसी भागमें सर्वदा ही इस प्रकार उतार-चढ़ाव होता रहेगा — कम-

से-कम, विलम्ब, गोलमाल और उथलपुथल बनी रहेगी। यही सत्य-चेतनामें जम जाने और साधनाका एक सीधा मार्ग पानेका एकमात्र सच्चा आधार है।
१४-१२-१९३१

माताजीके साथ घनिष्ठता प्राप्त करनेमें भयके कारण बाधा

समस्त भयको निकाल फेंकना चाहिये। भयकी यह क्रिया प्राणके अभी अपरिवर्तित उस भागसे सम्बन्ध रखती है जो पुराने विचारों, अनुभवों और प्रतिक्रियाओंका प्रत्युत्तर देता है। इसका एकमात्र प्रभाव है माताजीके मनोभाव या उनके शब्दों या उनकी दृष्टि या उनकी मुखाकृतिके अन्दर निहित उद्देश्यकी तुमसे गलत व्याख्या कराना। अगर माताजी गम्भीर हो जाती हैं या व्यंगपूर्ण हंसी हंसती हैं तो इसका मतलब यह बिलकुल नहीं है कि वे नाराज हैं या उन्होंने अपना प्रेम हटा लिया है; बल्कि, इसके विपरीत, जिन लोगोंके साथ उनकी अत्यन्त आन्तरिक घनिष्ठता है उन्हीं लोगोंके साथ वे ऐसा भाव ग्रहण करनेमें — यहांतक कि उनकी कठोर भर्त्सना करनेमें भी — अत्यन्त स्वतन्त्रता अनुभव करती हैं। वे लोग उनके भावको समझते हैं और वे न तो घबड़ाते हैं न डरते हैं,—वे बस अपनी दृष्टि भीतरकी ओर मोड़ लेते हैं और यह देखते हैं कि आखिर वह कौनसी चीज है जिसपर वे दबाव डाल रही हैं। उस दबावको वे एक विशेष सुविधा तथा उनकी कृपाका एक चिह्न मानते हैं। भय इस पूर्ण घनिष्ठता और विश्वासके मार्गमें बाधा पहुँचाता है और केवल गलतफहमी ही उत्पन्न करता है; तुम्हें इसे एकदम निकाल फेंकना चाहिये।
२५-५-१९३२

* * *

क्षमा मांगनेकी कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि माताजी तुमसे जरा भी नाराज या असन्तुष्ट नहीं हुई हैं। तुम बराबर उनके प्रेमके विषयमें निश्चित रह सकते हो।

२९-९-१९३३

* * *

दूसरोंकी बातोंको महत्त्व देना बराबर ही भूल है — माताजीके प्रति सच्ची

भक्ति और समुचित मनोभाव बनाये रखना ही पर्याप्त है। तुम्हें इस तरहकी आशंका करनेकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है।

२८-४-१९३३

माताजीकी ओर खुले रहनेके तीन नियम

भौतिक मनके प्रभावसे अधिक खतरनाक चीज और कोई नहीं है। भौतिक मन बराबर बाहरी रूपोंको देखकर ही अपने निर्णयोंपर पहुँचनेका प्रयास करता है और उनके निन्यानवे प्रति सैकड़ा मिथ्या होनेकी ही सम्भावना होती है। साधकको वाहरी रूपोंके आधारपर किये गये जल्दबाजीके निर्णयोंपर अविश्वास करना सीखना चाहिये—क्या यही सच्चा ज्ञान प्राप्त करनेकी पहली शर्त नहीं है?—और भीतरसे चीजोंको देखना और जानना सीखना चाहिये।

तुम पूछ रहे हो कि इन सब क्रियाओंको कैसे बन्द किया जाय? आरम्भमें बस इन तीन नियमोंका पालन करो:

1. सर्वदा माताजीके संरक्षण और प्रेमपर भरोसा रखो—उन्हींपर विश्वास करो और प्रत्येक सुझावपर, प्रत्येक बाहरी रूपपर जो उनका विरोध करता हुआ मालूम हो, अविश्वास करो।

2. ऐसे प्रत्येक भाव, प्रत्येक प्रवेगका तुरत त्याग कर दो जो तुम्हें माताजीसे—उनके साथके तुम्हारे सच्चे सम्बन्धसे, आन्तरिक सामीप्यसे, उनके प्रति तुम्हारे सरल और सीधे-सादे विश्वाससे—अलग हटाता है।

3. बाहरी लक्षणोंपर अत्यधिक बल मत दो—उनको देखने-विचारनेसे तुम सहज ही गलत रास्तेपर चले जा सकते हो। श्रीमांकी ओर अपनेको खोले रखो और अपने हृदयसे—आन्तर हृदयसे, ऊपरी प्राणगत वासनाके द्वारा नहीं, बल्कि सच्चे भावावेगवाले हृदयके द्वारा—उन्हें अनुभव करो; वहीं उन्हें प्राप्त करना, अपने अन्दर सर्वदा उनके सान्निध्यमें रहना और जो कुछ तुम्हें देनेके लिये वह निरन्तर कार्य कर रही हैं उसे ग्रहण करना तुम्हारे लिये अधिक सम्भव है।

१९३१

* * *

यदि तुम अपने और माताजीके बीचमें किसी व्यक्तिको लाओगे तो उससे कष्ट

पैदा होकर ही रहेगा।

५-४-१९३३

माताजीके साथ सीधा सम्बन्ध

माताजीके साथ सीधा सम्बन्ध तुम्हारे लिये सदा ही खुले रूपमें सुलभ है, अपिच, वह वहां विद्यमान ही है और तुम जब चाहो उसे अनुभव कर सकते हो; क्योंकि वह आन्तर सत्ताकी वस्तु है। जब कभी तुम अपने अन्दर गहरे जाते हो, उसे पा लेते हो; उसे बाहर आकर बाह्य प्रकृति और जीवनपर शासन करना है। इसी कारण मैं चाहता हूँ कि तुम भीतर जानेके लिये तथा साधनामें आन्तरिक प्रगतिके लिये समय दो। 'क्ष' के साथ सम्बन्ध, जिसे स्थापित करनेका माताजीने विचार किया था, उनके काममें दो मित्रों एवं सहकर्मियोंका सम्बन्ध था। यह कभी अभिमत नहीं था कि वह तुम्हारे और माताजीके बीचमें संबंध स्थापित करनेवाली हो। 'य' वाले मामलेमें हमें तुमको सहायता देनी थी ताकि तुम उन आक्रमणोंके कारण जिनसे तुम कष्ट भोग रहे थे, अपना सन्तुलन न खो बैठो और तुम्हें तबतकके लिये समय और सहारा मिल जाय जबतक तुम ऐसे विन्दुतक नहीं पहुँच पाते जहां तुम अपने अन्दर और अपने साथ माताजीकी उपस्थितिको प्राप्त करनेके लिये यत्न कर सको। वैसा यत्न तुम अब कर सकते हो और कोई कारण नहीं कि किसीको भी किसी प्रकार मध्यस्थ बननेके लिये कहा जाय — हमारा काम सीधे तुम्हारे अन्दर और तुमपर है, न कि किसी दूसरेके द्वारा।

२२-१२-१९३६

* * *

इसपर विचार मत करो कि लोग तुमसे सहमत हैं या असहमत अथवा तुम अच्छे हो या बुरे, वरन् यह विचार करो कि "माताजी मुझसे प्रेम करती हैं और मैं माताजीका हूँ"। यदि तुम इस विचारको अपने जीवनका आधार बनाओ तो सब कुछ शीघ्र ही आसान हो जायगा।

३०-४-१९३५

* * *

दूसरोंके विषयमें तथा अपनी "बुराई" के विषयमें विचार करते रहनेके कारण ही तुम अपनेको माताजीसे दूर अनुभव करते हो। सब समय वे तुम्हारे अत्यन्त समीप हैं और तुम उनके। यदि तुम इस दृष्टिकोणको अपनाओ जो मैंने प्रतिपादित किया था कि "माताजी मुझसे प्रेम करतीं हैं और मैं उनका हूँ", और इसीको अपने जीवनका आधार बना लो तो पर्दा शीघ्र ही हट जायगा, क्योंकि वह इन्हीं विचारोंसे बना है और किसी चीजसे नहीं।

१-५-१९३५

* * *

तुम्हारे और 'क्ष' और 'य' के विषयमें लोग जो कुछ कहते हैं उसपर कान देना और उनकी मूर्खतापूर्ण बकबकको कोई महत्त्व देना तुम्हारी भूल थी... माताजी जो कुछ कहती हैं वही सत्य और महत्त्वपूर्ण है न कि जो कुछ लोग कहते हैं; लोग जो कुछ कहते हैं उसपर यदि तुम कान दो तो तुम माताजीकी चेतनाके साथ सम्पर्क खो दोगे। इसी कारण अपनी बुराईके विषयमें ये विचार तथा अन्य ऐसी चीजें तुमपर लौट आई हैं... बहुत दिनोंतक तुम्हें शान्ति एवं आनन्द प्राप्त रहे और साथ ही चंचल मनसे मुक्ति भी तथा तुम्हारा चैत्य भी खुला हुआ था। अब तुम्हें फिर उसी अवस्थामें लौटना होगा और वैसा ही करना होगा जैसा तुम पहले कर रहे थे। केवल माताजीकी ओर ही मुड़ो और उनकी चेतना तथा इच्छा शक्तिको अपने अन्दर कार्य करने दो। तब तुम वह चीज फिरसे प्राप्त कर लोगे जो तुम्हें पहले प्राप्त थी, मनको निश्चल-नीरव कर दो और मुक्त हो जाओ।

२९-४-१९३३

VIII

श्रीमाताजीके लिये किये गये कर्मके द्वारा साधना

श्रीमाताजीके लिये किये गये कर्मके द्वारा साधना

साधना और माताजीके लिये कार्य

यदि माताजीपर समुचित रूपसे मनको एकाग्र करके उनके लिये कार्य किया जाय तो वह भी ध्यान और आन्तरिक अनुभूतियोंके समान ही साधना है।

***

जो लोग पूरी सच्चाईके साथ माताजीके लिये कार्य करते हैं वे स्वयं कार्यके द्वारा ही समुचित चेतना प्राप्त करनेके लिये तैयार किये जाते हैं, भले ही वे ध्यान करनेके लिये न बैठें अथवा योगका कोई विशेष अभ्यास न करें। तुम्हें यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि ध्यान कैसे किया जाता है; अगर तुम अपने कर्ममें और सब समय सच्चे बने रहो और अपने-आपको माताजीके प्रति खोले रखो तो जो कुछ आवश्यक है वह अपने-आप ही आयेगा।

पूर्णयोगमें कर्मकी आवश्यकता

अनुभूतियां प्राप्त करनेके लिये पूर्ण रूपसे भीतर चले जाने और कर्मकी, बाहरी चेतनाकी उपेक्षा करनेका अर्थ है समतोलता खो बैठना, साधनामें एकमुखी हो जाना—क्योंकि हमारा योग सर्वांगपूर्ण है; इसी तरह अपने-आपको बाहरकी ओर फेंक देना और केवल बाहरी सत्तामें रहना भी समतोलता खो बैठना है, साधनामें एकमुखी हो जाना है। साधक को आन्तर अनुभूति और बाह्य कर्म दोनोंमें एक ही चेतना बनाये रखनी चाहिये तथा दोनोंको माताजीसे भर देना चाहिये।

***

जबतक मनुष्यका मन खूब मजबूत न हो तबतक अपना सारा समय या समयका अधिकांश ध्यानमें व्यतीत करना अच्छा नहीं—क्योंकि ऐसा करनेसे मनुष्यको पूर्ण रूपसे आन्तर जगत्में रहने और बाहरी तथ्योंसे संस्पर्श खो बैठनेकी आदत पड़ जाती है—इससे एकपक्षीय सामंजस्यहीन गति उत्पन्न

होती है और यह समतोलता भंग कर सकती है। ध्यान और कर्म दोनों करना तथा दोनोंको माताजीको अर्पित कर देना ही सबसे उत्तम बात है।

६-८-१९३३

* * *

हमारा अनुभव यह नहीं है कि केवल ध्यानके द्वारा प्रकृतिको रूपान्तरित करना सम्भव है, और न बाहरी क्रिया-कलाप और कर्मसे अलग हो जानेपर उन लोगोंको विशेष लाभ ही हुआ है जिन्होंने इसका परीक्षण किया है; बहुतसे लोगोंके लिये यह हानिकारक भी हुआ है। कुछ अंशमें मनको एकाग्र करने, हृदयमें आन्तरिक अभीप्सा रखने तथा वहां माताजीकी उपस्थितिकी ओर और ऊपरसे आनेवाले अवतरणकी ओर चेतनाको खोले रखनेकी आवश्यकता है। परन्तु बिना किसी क्रियाके, बिना किसी कर्मके वास्तवमें प्रकृतिमें परिवर्तन नहीं होता; काममें और मनुष्योंके साथ सम्पर्क होनेपर ही प्रकृतिके परिवर्तन-का परीक्षण होता है। जो काम मनुष्य करता है उनमें न तो कोई ऊंचा है, न कोई नीचा; सभी कर्म एक जैसे हैं बशर्ते कि वे माताजीको अर्पित हों और उनके लिये तथा उनकी शक्तिके द्वारा किये गये हों।

६-१०-१९३४

* * *

यह तब होता है जब कि कर्म बराबर माताजीके चिन्तनके साथ संयुक्त होता है, यह पुकार रखते हुए कि माताजी तुम्हारे द्वारा उसे करें, उनकी पूजाके रूपमें किया जाता है। अहंकारकी सभी भावनाएं, कर्मके साथ लगे हुए सभी अहंजन्य हृद्गत भाव अवश्य दूर होने चाहियें। फिर साधक श्रीमांकी शक्तिको कार्य करते हुए अनुभव करना आरम्भ करता है; कर्मके पीछे विद्यमान एक विशिष्ट आन्तर मनोभावके द्वारा चैत्य पुरुष वर्द्धित होता है और आधार भीतरसे आनेवाली चैत्य संबोधि तथा प्रभाव एवं ऊपरसे होनेवाले अवतरण दोनोंके प्रति उद्घाटित हो जाता है। उस समय स्वयं कर्मके द्वारा ही ध्यानका फल भी प्राप्त हो सकता है।

* * *

प्र०— 'क्ष' कहता है कि वह कामके समय आपकी उपस्थिति उस प्रकार नहीं अनुभव कर पाता जिस प्रकार ध्यानके समय। उसे समझमें नहीं आता कि कैसे कर्म उसके लिये सहायक हो सकता है।

उ०— उसे अपने कार्यको अर्पित करना तथा उसके द्वारा माताजीकी शक्तिको कार्य करते हुए अनुभव करना सीखना है। निरे बैठे-बैठे प्राप्त किया हुआ आत्मगत साक्षात्कार केवल अर्ध-साक्षात्कार है।

२३-१-१९३४

* * *

माताजी ऐसा नहीं समझतीं कि समस्त कर्मका त्याग कर देना तथा केवल पढ़ना और ध्यान करना अच्छा है। कर्म भी योगका अंग है और यह प्राण तथा उसकी क्रियाओंके अन्दर भागवत उपस्थिति, ज्योति और शक्तिको उतार लानेका सबसे उत्तम सुयोग प्रदान करता है; यह आत्मसमर्पणके क्षेत्र और सुअवसरको भी बढ़ाता है।

यह स्मरण रखना ही काफी नहीं है कि कर्म माताजीका है—और उसके परिणाम भी; तुम्हें अपने पीछे माताजीकी शक्तिको अनुभव करना और उनकी अन्त:प्रेरणा तथा पथ-प्रदर्शनकी ओर खुले रहना भी सीखना चाहिये। सदा मनके प्रयासके द्वारा स्मरण करना अत्यन्त कठिन है; अगर तुम उस चेतनामें चले जाओ जिसमें तुम सर्वदा माताजीकी शक्तिको अपने अन्दर या अपनेको सहारा देते हुए अनुभव करो तो बस वही सच्ची चीज है।

तुमने बीमा कम्पनीके विषयमें जैसी निश्चित सलाह मांगी है, वैसी सलाह साधारणतया माताजी नहीं दिया करतीं। तुम्हें अपने मनकी नीरवतामें सच्ची अन्त:प्रेरणा पाना सीखना चाहिये।

१८-८-१९३२

* * *

प्र०— जो लोग शान्ति और 'समता' में निवास करते हैं, पर माताजी-के लिये कोई काम नहीं करते या बहुत कम काम करते हैं, क्या

वे रूपान्तर प्राप्त करते हैं ?

उ०– नहीं, वे बिलकुल रूपान्तरित नहीं होते।

७-५-१९३३

माताजीकी शक्तिके साथ एकत्व प्राप्त करनेकी दो अवस्थाएं

इस बातका बोध होना कि हम जो कुछ करते हैं वह सब भगवान्‌से आया है, समस्त कर्म ही श्रीमांके हैं, अनुभूतिका एक आवश्यक कदम है, पर हम उसीमें बने नहीं रह सकते—हमें उससे भी आगे जाना होगा। वे ही लोग इसमें बने रह सकते हैं जो प्रकृतिको बदलना नहीं चाहते, बल्कि उसके पीछे विद्यमान सत्यका केवल अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं। तुम्हारा कर्म विश्व-प्रकृतिके अनुसार होता है और फिर साथ ही तुम्हारी व्यक्तिगत प्रकृतिके अनुसार, समस्त प्रकृति एक शक्ति है जिसे भगवती माताने विश्वके कार्यके लिये बाहर निकाल रखा है। अभी जैसी स्थिति है उसमें यह अज्ञान और अहंकारका एक कार्य है; परन्तु हम चाहते हैं ऐसा कर्म जो भागवत सत्यका हो और अज्ञान तथा अहंकार द्वारा आच्छादित और विकृत न हो।

अतएव जब तुम यह अनुभव करते हो कि तुम्हारे सभी कर्म माताजीकी शक्तिके द्वारा किये जा रहे हैं, तब यह सच्ची अनुभूति है। परन्तु माताजीकी इच्छा यह है कि जो कुछ तुम करो वह केवल प्रकृतिके अन्दर विद्यमान उनकी शक्तिके द्वारा नहीं होना चाहिये जैसा कि अभी हो रहा है, बल्कि उनकी प्रकृतिके दिव्य सत्यमें विद्यमान उनकी निजी सीधी शक्तिके, उच्चतर दिव्य प्रकृतिके द्वारा होना चाहिये। अतएव यह भी ठीक था, जैसा कि तुमने पीछे सोचा, कि जब तक यह परिवर्तन नहीं आ जाता, तबतक यह अनुभव पूर्ण रूपसे सच्चा नहीं हो सकता कि जो कुछ भी तुम करते हो वह उनकी ही इच्छासे हो रहा है। इसलिये तबतक यह स्थायी नहीं होगा। क्योंकि, अगर यह अभी स्थायी हो तो यह तुम्हें निम्नतर कर्ममें ही बनाये रखेगा जैसा कि यह बहुतोंको बनाये रखता है और परिवर्तनको रोक देगा या उसके होनेमें देर लगायेगा। अभी स्थायी अनुभूतिके रूपमें जिस चीजकी तुम्हें आवश्यकता है वह यह है कि श्रीमां-की शक्ति तुम्हारे अन्दर सभी चीजोंमें इस अज्ञानपूर्ण चेतना और प्रकृतिको अपनी दिव्य चेतना और प्रकृतिमें पलट देनेके लिये कार्य कर रही है।

यही बात यन्त्र होनेके सत्यके विषयमें भी कही जा सकती है। यह ठीक है कि प्रत्येक चीज विश्वशक्तिका यन्त्र है और इसलिये श्रीमांका भी यन्त्र है।

पर साधनाका लक्ष्य है अचेतन और परिणामतः अपूर्ण यन्त्र होनेके बदले सचेतन और पूर्ण यन्त्र बनना। हम केवल तभी सचेतन और पूर्ण यन्त्र बन सकते हैं जब कि निम्न प्रकृतिके अज्ञानपूर्ण धक्केके वशवर्ती होकर कार्य न करें, बल्कि श्रीमांको आत्मसमर्पण करके तथा हमारे अन्दर कार्य करनेवाली उनकी उच्चतर शक्तिका ज्ञान रखते हुए कार्य करें। अतएव इस विषयमें भी तुम्हारा अन्तर्ज्ञान पूर्ण रूपसे ठीक था।

पर यह सब एक दिनमें ही नहीं किया जा सकता। अतएव इसके लिये उत्सुक या बेचैन न होनेमें तुम एक बार फिर ठीक ही उतरे। माताजीकी शक्ति कार्य करेगी और अपने निजी समयपर परिणाम उत्पन्न करेगी, बशर्ते कि हम सब कुछ उन्हें अर्पित कर दें, अभीप्सा करें तथा सजग रहें, सब समय उन्हें स्मरण करते और पुकारते रहें, तथा उनकी रूपान्तरकारिणी शक्तिके कार्यके मार्गमें जो कुछ आ खड़ा हो उसका चुपचाप त्याग करते रहें।

इस बातके विषयमें तुम्हारी दूसरी राय पहलीकी अपेक्षा कहीं अधिक समुचित दृष्टिकोणसे आयी थी। यह कहना कि "वास्तवमें देखा जाय तो कार्य करना मेरा काम नहीं है, अतएव मुझे चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं", बहुत अधिक कहना है—जहांतक हमें अभीप्सा करना, अपने-आपको अर्पित करना, श्रीमांकी क्रियाको स्वीकृति देना, अन्य सभी चीजोंका त्याग करना तथा अधिकाधिक आत्मसमर्पण करना है वहांतक तो हमें करना ही है। बाकी चीजें यथासमय कर दी जायेंगी, चिन्तित या अवसन्न या अधीर होनेकी कोई आवश्यकता नहीं।

१३-७-१९३५

***

सबसे पहले हमें अपनी इच्छाको श्रीमांकी इच्छाके साथ युक्त कर देना चाहिये और यह समझना चाहिये कि यह केवल यन्त्र है और वास्तवमें इसके पीछे विद्यमान केवल श्रीमांकी इच्छा ही फल प्रदान कर सकती है। उसके बाद जब हम अपने भीतर कार्य करनेवाली श्रीमाताजीकी शक्तिके विषयमें पूर्ण रूपसे सचेतन हो जाते हैं तब व्यक्तिगत इच्छाका स्थान भागवत इच्छा ले लेती है।

१५-७-१९३५

***

केवल एक साधारण मनोभाव ही नहीं होना चाहिये, बल्कि प्रत्येक कर्म माताजी-को अर्पित होना चाहिये जिसमें कि वह मनोभाव सब समय सजीव बना रहे। कामके समय ध्यान नहीं होना चाहिये, क्योंकि वह हमारे ध्यानको कर्मसे हटा देगा; परन्तु जिन 'एक' को तुम अपना कर्म अर्पित करते हो उनका सतत स्मरण अवश्य बना रहना चाहिये। यह केवल प्राथमिक प्रक्रिया है; क्योंकि जब तुम निरन्तर अपने भीतर एक शान्त सत्ताका बोध बनाये रख सकोगे, भागवत सान्निध्यके बोधमें एकाग्र हुए रहोगे और उसके साथ ही साथ ऊपरी मन काम करता रहेगा, अथवा जब बराबर यह अनुभव करना आरम्भ करोगे कि श्रीमांकी शक्ति ही कार्य कर रही है और तुम केवल एक प्रणाली या यन्त्र हो, तब स्मरणके स्थानपर कर्ममें योगकी, दिव्य एकत्वकी एक सहज-स्वाभाविक सतत अनुभूति आरम्भ हो जायगी।

* * *

प्रत्येक व्यक्ति माताजीके अन्दर है, परन्तु सबको इस विषयमें —केवल कर्मके विषयमें ही नहीं—सचेतन होना चाहिये।

१-४-१९३५

* * *

प्र०— क्या यह सच है कि व्यक्तिको अनुभव करना चाहिये कि भागवत उपस्थिति ही उसे चलाती है और उसके लिये सब कुछ करती है? क्या भगवती माताके साथ एकत्व प्राप्त किये बिना उसे (उपस्थितिको) अनुभव करना सम्भव है?

उ०— नहीं, यह अनुभव करना कि भागवत उपस्थिति तुम्हारे ऊपर या अन्दर है और तुम्हें चला रही है, अपने-आपमें माताजीके साथ एकत्व ही है।

१४-७-१९३३

* * *

प्र०— आज मुझे लगा मानों मुझसे भिन्न कोई और मेरे कार्य कर रहा हो। निःसन्देह मैं वहां था पर पृष्ठभूमिमें। क्या वह माताजीकी

शक्ति ही नहीं थी जो मुझे समग्र रूपसे अपने अन्दर ले लेनेका यत्न कर रही थी ?

उ०— ऐसा कहना अत्युक्तिपूर्ण है। जो तुमने कहा है उसका अर्थ इतना ही है कि तुम्हें सभी कार्योंके पीछे अवस्थित वैश्व शक्तिकी कोई झांकी मिली।

२-६-१९३४

***

प्र०— अपने संकल्पको माताजीके संकल्पके साथ एक कैसे किया जा सकता है ?

उ०— अपनी चेतनाको माताजीकी चेतनाके साथ सतत सम्पर्कमें रखकर अपनी इच्छाशक्तिको माताजीकी इच्छाशक्तिके साथ एक किया जा सकता है।

२४-६-१९३३

***

प्र०— माताजीकी चेतनाके साथ "अपनी चेतनाका सतत सम्पर्क स्थापित करने" से आपका क्या मतलब है, जिसके विषयमें आपने कहा है कि वह उनकी इच्छाशक्तिके साथ एकत्वके लिये आवश्यक है ? उसका मतलब मानसिक सम्पर्कसे है या आन्तरात्मिकसे ?

उ०— उसका तात्पर्य उस सम्पूर्ण सम्पर्कसे है जिसका आधार हो चैत्य (आन्तरात्मिक) सम्पर्क।

२५-६-१९३३

***

प्र०— मेरा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दर्शाता है कि माताजीको अपने अन्दर सहज-स्वाभाविक रूपसे काम करने देना हम साधकोंके लिये सदा संभव नहीं होता। क्योंकि प्रायः ही हमारे अंदरकी कोई चीज उनसे किनारा करती है और उनके प्रवेशके सभी द्वार बन्द कर

देती है। मैं समझता हूँ सर्वोत्तम मार्ग होगा अपनी संकल्पशक्तिका विकास करना, जिससे कि कोई चीज द्वारोंको फिरसे खोलनेमें हमारी सहायता करनेके लिये वहां सदा उपस्थित रहे। मेरा मतलब यहां प्राणिक या मानसिक ढंगके संकल्पसे नहीं बल्कि सच्ची संकल्प-शक्तिसे है। क्या आप कृपा करके मुझे इस विषयपर आलोक प्रदान करेंगे कि उसे कैसे विकसित किया जाय?

उ०— उसे विकसित करनेका एकमात्र मार्ग है 1. पीछेकी ओर स्थित उस सचेतन शक्तिसे सज्ञान होना जो मन आदिका प्रयोग करती है। 2. अभ्यासके द्वारा उस शक्तिको उसके लक्ष्यकी ओर परिचालित करना सीखना। मैं नहीं समझता कि तुम इन दोनों उपायोंमेंसे किसीका भी तुरन्त अनुसरण करना आसान पाओगे —सर्वप्रथम तुम्हें आन्तरिक चेतनामें पहले की अपेक्षा अधिक गहरे निवास करना सीखना होगा।

१६-७-१९३४

माताजीकी इच्छाका अनुसरण करनेकी शर्तें

माताजीकी इच्छाका अनुसरण करनेके लिये शर्तें हैं उनकी ओर ज्योति सत्य और शक्तिके लिये मुड़ना और यह अभीप्सा करना कि कोई भी दूसरी शक्ति तुमपर प्रभाव न डाले या तुम्हें पथ न दिखाये, प्राणके अन्दर कोई मांग न करना या कोई शर्त्त न रखना, सत्यको ग्रहण करनेके लिये तैयार एक स्थिर मन बनाये रखना, पर उसीकी अपनी भावनाओं और रचनाओंपर आग्रह न करना,—अन्तमें, चैत्य पुरुषको जाग्रत् और सामनेकी ओर रखना जिसमें कि तुम निरन्तर एक सम्पर्क बनाये रख सको और सचमुच जान सको कि उनकी इच्छा क्या है, क्योंकि मन और प्राण भूलसे अन्य प्रेरणाओं और सुझावोंको भगवान्‌की इच्छा मान सकते हैं, पर चैत्य पुरुष जब एक बार जग जाता है तब वह कभी भूल नहीं करता।

अतिमानस-रूपान्तर होनेके बाद ही पूर्ण पूर्णता प्राप्त करना सम्भव होता है; पर अपेक्षाकृत कुछ अच्छी क्रियाका होना निम्नतर स्तरोंपर भी सम्भव है, अगर कोई भगवान्‌के साथ संस्पर्श बनाये रखे और अपने मन, प्राण और शरीरमें सावधान, जाग्रत् और सचेतन रहे। इसके अतिरिक्त, यह एक ऐसी अवस्था है जो तैयारी करानेवाली है और परम मुक्तिके लिये प्रायः अनिवार्य है।

दिव्य जीवनका आधार

पूर्ण रूपसे सच्चा होनेका मतलब है एकमात्र दिव्य सत्यकी कामना करना, भगवती माताको अधिकाधिक आत्मसमर्पण करना, इस एक अभीप्सासे भिन्न अन्य सभी व्यक्तिगत मांगों और कामनाओंका त्याग करना, जीवनके प्रत्येक कर्मको श्रीभगवान्‌के चरणोंमें उत्सर्ग कर देना और कर्मको भगवद्दत्त कर्म समझकर करना तथा उसमें अहंकारको न आने देना। यही दिव्य जीवनका आधार है।

कोई भी आदमी तुरत ऐसा नहीं बन सकता; पर, कोई यदि बराबर अभीप्सा करे और सच्चे हृदय तथा सत्य-संकल्पके साथ निरन्तर भागवत शक्तिकी सहायताकी पुकार करे तो वह अधिकाधिक इस चेतनामें वर्द्धित होगा।

कर्मयोगकी सच्ची चेतना

उसे अपना कार्य करते रहना चाहिये और समुचित चेतनामें रहकर अन्य सभी चीजोंको करना चाहिये, वह जो कुछ भी करे उसे माताजीको समर्पित करना चाहिये और उनके साथ अपना आन्तर संस्पर्श बनाये रखना चाहिये। इस भावके साथ और इस चेतनामें रहकर किये गये सभी कर्म कर्मयोग बन जाते हैं और उसकी साधनाका अंग माने जा सकते हैं।

* * *

कर्ममें जो कुछ तुमने पाया और बनाये रखा वह वास्तवमें कर्मयोगकी सच्ची और मौलिक चेतना है—ऊपरसे सहारा देती हुई शान्त-स्थिर चेतना और ऊपरसे कार्य करती हुई शक्ति तथा उसके साथ भक्ति जो यह अनुभव करती है कि यह माताजीकी चेतना ही है जो उपस्थित और क्रियाशील है। अब तुम अनुभव द्वारा जान गये हो कि कर्मयोगका रहस्य क्या है।

१५-६-१६३६

कर्ममें समुचित मनोभाव

केवल अपनी आन्तरिक एकाग्रतामें ही नहीं, बल्कि अपने बाह्य कार्यों और गतिविधियोंमें भी तुम्हें यथार्थ मनोभाव ग्रहण करना चाहिये। अगर तुम

ऐसा करो और प्रत्येक चीजको माताजीके पथप्रदर्शनमें छोड़ दो तो तुम देखोगे कि कठिनाइयां कम हो रही हैं और उन्हें बहुत अधिक आसानीसे पार किया जा रहा है तथा सभी बातें धीरे-धीरे आसान होती जा रही हैं।

अपनी क्रिया तथा अपने कर्मोंमें तुम्हें ठीक वही करना चाहिये जो तुम ध्यानमें करते हो। श्रीमांकी ओर उद्‌घाटित होओ, उन्हें श्रीमांके पथप्रदर्शनमें छोड़ दो, शान्ति, सहारा देनेवाली शक्ति और संरक्षणको पुकारो तथा, इसलिये कि वे कार्य कर सकें, उन सभी अशुद्ध प्रभावोंका त्याग करो जो विपरीत, अ-सावधान या अचेतन गतियां उत्पन्न करके उनके रास्तेमें बाधा खड़ी कर सकते हैं।

इस सिद्धान्तका अनुसरण करो और तुम्हारी सारी सत्ता शान्तिके अन्दर तथा आश्रयदात्री दिव्य शक्ति और ज्योतिके अन्दर एक — अविभक्त सत्ता बन जायगी, एक शासनके अधीन हो जायगी।

* * *

तुम्हारे लिये बस सत्य यही है कि तुम भगवान्‌को अपने अन्दर अनुभव करो, माताजीकी ओर उद्‌घाटित होओ और तबतक भगवान्‌के लिये कार्य करते रहो जबतक तुम अपने सभी कार्योंमें भगवती माताको अनुभव न करने लगो। यह चेतना रहनी ही चाहिये कि तुम्हारे हृदयमें भागवत उपस्थिति विद्यमान है और तुम्हारे कार्योंमें भागवत पथप्रदर्शन प्राप्त हो रहा है। यदि चैत्य पुरुष पूर्ण रूपसे जाग्रत् हो तो वह इसे सहज ही, तेजीसे और गहराईके साथ अनुभव कर सकता है; और यदि चैत्य पुरुष एक वार इसे अनुभव कर ले तो यह फिर मनोमय और प्राणमय स्तरोंमें भी फैल सकता है।

* * *

मांगें पेश नहीं करनी चाहियें; तुम माताजीसे जो कुछ अपने-आप पाते हो वह तुम्हें सहायता करता है; जो कुछ तुम मांगते हो या माताजीपर लादने-की चेष्टा करते हो वह उनकी शक्तिसे खाली होगा ही।

माताजी प्रत्येक व्यक्तिके साथ उसकी सच्ची आवश्यकता (वह स्वयं अपनी कल्पनाके अनुसार जिसे आवश्यकता मान ले वह नहीं), साधनामें उसकी प्रगति और उसकी प्रकृतिके अनुसार अलग-अलग रूपमें व्यवहार करती हैं।

तुम्हें जो शक्ति पानेकी आवश्यकता है उसे प्राप्त करनेका तुम्हारे लिये

सबसे अधिक फलदायी मार्ग है सचेतन और सावधान होकर काम करना, ठीक-ठीक उसे सम्पन्न करनेमें किसी चीजको बाधा न डालने देना। अगर तुम ऐसा करो और उसके साथ ही साथ अपने कर्ममें माताजीकी ओर खुले रहो तो तुम अधिक सतत रूपमें कृपा ग्रहण करने लगोगे और उनकी शक्तिको अपने द्वारा काम करते हुए अनुभव करने लगोगे; और इस तरह सर्वदा उनकी उपस्थितिको अनुभव करते हुए निवास करनेमें समर्थ होगे। इसके विरुद्ध, यदि तुम अपनी मनमौजों या कामनाओंको अपने कार्यमें हस्तक्षेप करने दो अथवा असावधान रहो और उपेक्षा करो तो तुम उनकी कृपाशक्तिके प्रवाहको बाधा पहुँचाओगे और अपने अन्दर उदासी, बेचैनी तथा अन्य विजातीय शक्तियोंके घुस आनेके लिये अवकाश प्रदान करोगे। इस साधनाकी धारामें प्रवेश करनेके लिये कर्मके द्वारा योग करना सबसे आसान और अत्यन्त फलप्रद मार्ग है।

८-३-१९३०

* * *

अगर अक्षमता, तामसिकता और निष्क्रियताको स्वीकार किया जाय तो अत्यन्त विशुद्ध भौतिक और यान्त्रिक कार्य भी समुचित ढंगसे नहीं किया जा सकता। इलाज यह नहीं है कि तुम अपनेको यन्त्रवत् होनेवाले कार्यमें आबद्ध कर दो, बल्कि यह है कि तुम अक्षमता, निष्क्रियता और तामसिकताका त्याग करो और उन्हें दूर फेंक दो तथा माताजीकी शक्तिकी ओर अपनेको खोल दो। अगर मिथ्याभिमान, महत्त्वाकांक्षा और आत्मप्रतारणा तुम्हारे रास्तेमें आ खड़ी हों तो उन्हें अपनेसे दूर फेंक दो। अगर तुम उनके विलुप्त होनेके लिये महज राह देखते रहो तो उन सब चीजोंसे छुटकारा नहीं पाओगे। अगर तुम चीजोंके घटित होनेकी प्रतीक्षा ही करो तो फिर कोई कारण नहीं कि वे बिलकुल ही घटित हों। अगर अक्षमता और दुर्बलता ही बाधा डालती हों तो भी, जैसे-जैसे मनुष्य सच्चे रूपमें और अधिकाधिक श्रीमांकी शक्तिकी ओर खुलता जायगा, वैसे-वैसे उसे कामके लिये आवश्यक शक्ति-सामर्थ्य और क्षमता मिलती रहेगी और वे आधारमें बढ़ती रहेंगी।

* * *

सच्ची चेतनामें रहनेका लाभ यह है कि तुम्हें सच्ची चेतना प्राप्त होती है और उसके संकल्पके श्रीमांके संकल्पके साथ सुसमंजस होनेके कारण तुम परि-

वर्तन लानेके लिये श्रीमांकी शक्तिको पुकार सकते हो। जो लोग मन और प्राणमें निवास करते हैं वे यह करनेमें उतने समर्थ नहीं होते; उन्हें अधिकांशमें अपने व्यक्तिगत प्रयासका उपयोग करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है और चूँकि मन और प्राणकी जानकारी, संकल्प और शक्ति विभक्त और अपूर्ण होती हैं, उनके द्वारा किया हुआ कार्य भी अपूर्ण होता है और अन्तिम नहीं होता। केवल अतिमानसमें ही ज्ञान, संकल्प और शक्ति सर्वदा एक अभिन्न गति होती हैं और स्वभावतः ही फलप्रद होती हैं।

* * *

प्र०— कामके समय मैं बराबर ही माताजीके संस्पर्शमें रहता हूँ। मुझे केवल उनकी याद ही नहीं रहती, बल्कि कामके अन्दर उनके साथ सम्पर्क बना रहता है। उनकी शक्ति निरन्तर आधारमें बहती रहती है और कार्य अपने-आप सम्पन्न होता है, पर होता है तेजीसे, पूर्ण रूपसे, बिना किसी हिचकिचाहटके — बिना किसी व्यक्तिगत दुश्चिंता और उत्तरदायित्वके; बल्कि उनके स्थानपर, अब पूरा विश्वास, निश्चयता, शक्ति और अचचलता विद्यमान हैं। मैं समझता हूँ कि यदि मैं इस मनोभावके साथ कार्य कर सकूँ तो वह पूर्ण, निर्दोष और माताजीके बच्चेका कार्य बन जायगा, एक अहंकारपूर्ण मनुष्यका नहीं। कृपया मुझे बताइये कि मेरी बात ठीक है या नहीं।

उ०— हां, यह बहुत अच्छी प्रगति है और कर्मके लिये दिव्य शक्तिका ठीक-ठीक उपयोग करनेका पहला कदम है।

* * *

प्र०— "योग-समन्वय" और "मातृवाणी" दोनोंमें मैंने पढ़ा है कि प्रत्येक कार्य, चेष्टा, विचार और शब्द अर्पण-रूप होना चाहिये। चाहे यह कठोर रूपसे मानसिक प्रयत्न ही हो जिसमें हृदयकी भक्ति न हो जैसा कि यह शुरू-शुरूमें हो सकता है, फिर भी यदि प्रयत्न सच्चा हो तो वह निश्चित् रूपसे भक्तिकी ओर ले जायगा। भ्रमण

या भोजन-जैसे थोड़े-बहुत यान्त्रिक ढंगके कार्योंमें यह अनुशासन सर्वथा सम्भव है, पर जहां कार्यमें मानसिक एकाग्रताकी आवश्यकता होती है, जैसे पढ़ने-लिखनेमें, वहां यह लगभग असम्भव ही प्रतीत होता है। यदि चेतनाको स्मरणमें लगे रहना पड़े तो ध्यान बंट जायगा और काम ठीक ढंगमें सम्पन्न नहीं होगा।

उ०— इसका कारण यह है कि लोग ऊपरी मनमें निवास करते हैं और उसीके साथ एक हुए रहते हैं। जब कोई अधिक भीतर निवास करता है तो केवल उपरितलीय चेतना ही कार्यव्यस्त रहती है और व्यक्ति उसके पीछे एक अन्य, निश्चल-नीरव और समर्पित चेतनामें स्थित रहता है।

* * *

प्र०— क्या यह चेतना केवल अभीप्सासे आती है अथवा क्या इसे व्यक्ति एक मानसिक अनुशासनका अनुसरण करके प्राप्त कर सकता है?

उ०— व्यक्ति आरम्भ तो मानसिक प्रयत्नसे ही करता है। आगे चलकर एक आन्तर चेतना गठित हो जाती है जिसके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह सदा माताजीका चिन्तन कर रही हो।

* * *

प्र०— कार्यको माताजीके प्रति अर्पित करनेके दो तरीके हैं: एक है माताजीके चरणोंमें कार्यकी उसी तरह भेंट करना जिस तरह कोई फूल चढ़ाता है; दूसरा है अपने व्यक्तित्वको पूर्ण रूपसे पीछे खींच लेना और यों अनुभव करना मानों व्यक्ति जो-जो भी कार्य करता है उन सबको वे ही कर रही हों। पहले तरीकेमें कार्य करने-वालेमें और माताजीमें द्वैत-भाव है; पर दूसरेमें अन्तरङ्ग घनिष्ठता और एकत्व है। इन दो तरीकोंमेंसे कौन-सा साधनाके लिये अधिक अच्छा है?

उ०– यह पूछनेकी जरूरत ही नहीं कि कौन-सा अच्छा है, क्योंकि ये एक दूसरे-को बहिष्कृत नहीं करते। मन ही इन्हें परस्पर-विरोधी समझता है। चैत्य पुरुष कार्यको अर्पित कर सकता है जब कि प्रकृति 'शक्ति' के प्रति प्रतिरोध-रहित बनी रहती है (क्योंकि अहम्भाव मिट गया या पीछे हट गया होता है) और वह माताजीकी शक्तिको कार्य करती हुई अनुभव करती है तथा अपने अन्दर उनकी उपस्थितिको भी।

५-११-१९३८

* * *

प्र०– जब कोई कार्य करता है तो वह अभीप्सा करता है कि उचित समय आनेपर माताजीकी शक्ति उसके कार्यको अपने हाथमें ले ले। जब व्यक्ति काम न कर रहा हो तब उसे किस चीजकी अभीप्सा करनी चाहिये ?

उ०– उसे अभीप्सा करनी चाहिये कि माताजीकी शक्ति क्रिया करके समुचित क्रमिक अवस्थाओंके द्वारा उच्चतर चेतनाको नीचे उतार लाय। यह भी कि मेरा आधार अधिकाधिक योग्य — शान्त, निरहङ्कार और समर्पित बने।

कर्ममें आत्मप्रभुत्वकी आवश्यकता

माताजी तुम्हारे पुस्तक लिखनेके कामको नामंजूर नहीं करतीं — बस वे यह नहीं चाहतीं कि तुम उसमें इतना डूब जाओ कि और कुछ भी न कर सको। जो कुछ तुम करो उसपर तुम्हारा अधिकार होना चाहिये, उसके द्वारा तुम्हें अधिकृत नहीं होना चाहिये। वे पूरी सहमत हैं कि तुम, यदि सम्भव हो तो, पुस्तकको पूरा कर डालो और अपने जन्मदिनपर उसे समर्पित कर दो। परन्तु तुम्हें उसमें बह नहीं जाना चाहिये — तुम्हें उच्चतर वस्तुओंके साथ पूरा-पूरा संस्पर्श बनाये रखना चाहिये।

१-५-१९३४

सर्वांगपूर्ण सेवाकी शर्तें

हृदयपरसे अहंकारकी छापको मिटा दो और उसके स्थानपर माताजीके प्रेमको

आ जाने दो। अपने व्यक्तिगत विचारों और निर्णयके प्रति होनेवाले समस्त आग्रहको अपने मनसे दूर फेंक दो, तभी तुम माताजीको समझनेके लिये ज्ञान प्राप्त करोगे। अपनी ही इच्छामें मत्त मत होओ, अपने कार्यको अहंकार द्वारा चालित मत होने दो, व्यक्तिगत अधिकारके लिये लोलुपता मत रहने दो, व्यक्तिगत पसन्दके प्रति आसक्ति मत रखो, फिर देखोगे कि श्रीमांकी शक्ति स्पष्ट रूपमें तुम्हारे अन्दर कार्य करनेमें समर्थ होगी और जो अक्षय शक्ति तुम मांगते हो उसे प्राप्त करोगे और तुम्हारी सेवा भी पूर्ण होगी।

२७-११-१९४०

* * *

हां, यह — अहंकार, क्रोध, व्यक्तिगत नापसन्दगी, आत्माभिमानी वेदनशीलता इत्यादिपर विजय पाना — अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। कर्म केवल कर्मके लिये नहीं है, बल्कि वह निम्नतर व्यक्तित्व और उसकी प्रतिक्रियाओंसे छुटकारा पाने तथा भगवान्‌के प्रति पूर्ण समर्पण साधित करनेके लिये साधनाका एक क्षेत्र है। स्वयं कर्मका जहांतक प्रश्न है, वह माताजी द्वारा निश्चित या स्वीकृत व्यवस्थाके अनुसार ही किया जाना चाहिये। तुम्हें यह सर्वदा याद रखना चाहिये कि वह माताजीका कार्य है, तुम्हारा व्यक्तिगत कार्य नहीं है।

२३-३-१९३५

* * *

जब कभी तुम्हारे सामने ये परिस्थितियां और अनुभव आयें, मैं पहले जो कुछ लिख चुका हूँ महज उसीको दुहरा सकता हूँ। कामको छोड़ना कोई समाधान नहीं है — सच पूछो तो कर्मके द्वारा ही मनुष्य यौगिक आदर्शके विरोधी, अहम्भावके अनुभवों और गतिविधियोंको पहचान सकता और धीरे-धीरे उनसे मुक्त हो सकता है।

कर्म स्वयं अपने लिये नहीं बल्कि माताजीके लिये किया जाना चाहिये,— इसी तरह मनुष्य चैत्य पुरुषकी वृद्धिको प्रोत्साहन देता है और अहंको पार करता है। इसकी पहचान है अभिमान या आग्रह या व्यक्तिगत रुचि या सम्मानकी भावनाके बिना माताजीका दिया हुआ काम करना — अहंकार, आत्मसम्मान या व्यक्तिगत पसन्दको आघात पहुँचानेवाली किसी चीजसे आहत न होना।

कर्मके द्वारा जो आदर्श साधकके सामने रखा गया है वह ऊंचा और महान् है और उसे एकाएक प्राप्त करना सम्भव नहीं, पर धीरे-धीरे उसमें वर्द्धित होना सम्भव है यदि मनुष्य उस आदर्शको — भगवती माताके कार्यके लिये निःस्वार्थ और पूर्ण संयत यन्त्र बननेके आदर्शको — सदैव अपने सामने रखे।

२८-९-१९३३

निर्वैयक्तिक कार्यकर्त्ता

साधारणतया निर्वैयक्तिक होनेका अर्थ है अहंकेन्द्रित न होना, चीजोंका असर स्वयं तुमपर कैसे पड़ता है उसकी दृष्टिसे उन्हें न देखना, बल्कि उनके अन्दर जो चीजें हैं उन्हें देखना, निष्पक्ष होकर विचार करना, स्वयं अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण या अहंकारपूर्ण लाभ या अहंजन्य भावना या बोधके द्वारा नहीं, वरन् चीजोंके अभिप्रायके द्वारा या चीजोंके परम प्रभुकी इच्छाके द्वारा जिस बातकी मांग की जाय उसे करना। कार्यमें वही करना चाहिये जो कार्यके लिये सबसे उत्तम हो, अपने निजी सम्मान या सुविधाका ख्याल नहीं करना चाहिये, कार्यको स्वयं अपना नहीं बल्कि माताजीका समझना चाहिये, उसे नियम, अनुशासन, निर्वैयक्तिक प्रबन्धके अनुसार, यहांतक कि यदि अवस्थाएं सबसे उत्तम रूपमें करनेके लिये अनुकूल न हों तो उस समयकी अवस्थाओंके अनुसार करना चाहिये। निर्वैयक्तिक कार्यकर्त्ता अपने पूरे सामर्थ्य, उत्साह और श्रमशीलताको कर्ममें लगा देता है, पर अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं, मिथ्याभिमान और आवेगोंको नहीं लगाता। वह हमेशा एक ऐसी चीजको अपनी दृष्टिमें रखता है जो उसके तुच्छ व्यक्तित्वसे अधिक महान् है और उसके प्रति जो उसकी भक्ति या आज्ञानुवर्तिता है, वही उसके जीवनको परिचालित करती है।

२९-६-१९३५

* * *

प्रत्येक "आन्तरिक संकेत" को ऐसा मानना खतरनाक होगा कि वह मानों माताजीसे आया हुआ कर्मका संकेत या प्रारम्भ हो। जो कुछ आन्तरिक संकेत मालूम होता है वह कहींसे भी, अपने-आपको चरितार्थ करनेकी चेष्टा करनेवाली किसी भी अच्छी या बुरी शक्तिसे आ सकता है।

चाहे कर्म स्वयं माताजीसे ही क्यों न आया हो फिर भी उसके विषयमें साधकमें अहंकार रह सकता है। यन्त्र होनेका अहंकार ऐसी चीजोंमेंसे एक

है जिनसे योगमें विशेष रूपसे सावधान रहना चाहिये।

जब मनुष्य काम करता है तब साधारणतया काम करनेवाली शक्तिका प्रवेग और उसे करने तथा उसे पूरा कर डालनेकी धुन या उसे करनेका सुख पर्याप्त मात्रामें होता है और मन अन्य किसी चीजका चिन्तन नहीं करता। उसके बाद "इसे मैंने किया" का बोध आ उपस्थित होता है। परन्तु कुछ लोगोंमें स्वयं काम करते हुए भी अहंकार सक्रिय रहता है।

३-११-१९३५

* * *

प्र०— यदि मैं केवल माताजीके लिये काम करूँ तो अहंके हस्तक्षेपका अर्थ होगा कि वह बाहरसे आता है। क्योंकि मैं अपने अहंको साथ रखकर केवल माताजीके लिये ही कार्य नहीं कर सकता।

उ०—बेशक यह एक रास्ता है। परन्तु फिर भी मनुष्यको अहंकारसे सावधान रहना चाहिये। जो लोग सच्चे दिलसे ऐसा समझते हैं कि वे केवल माताजीका कार्य कर रहे हैं वे भी बिना जाने अहम्भावके साथ आसक्त होते हैं।

४-४-१९३६

कर्मकी कठिनाइयोंसे लाभ

मैं तुम्हारे संकल्पसे प्रसन्न हूँ। यदि मनुष्य इस विषयमें समुचित मनोभाव ग्रहण करे तो, कर्ममें चाहे जितनी भी कठिनाइयां क्यों न उठें, उनसे वह अपनी समताको गहरा बनाकर उतना ही अधिक लाभ उठा सकता है। तुम्हें इस विषयमें सहायता ग्रहण करनेके लिये अपने-आपको खुला भी रखना चाहिये, क्योंकि प्रकृतिको बदलनेके लिये माताजीसे बराबर ही सहायता आती रहेगी।

२९-९-१९३५

* * *

अपनेको दु:खित या निरुत्साहित मत होने दो। दुर्भाग्यवश मनुष्योंको एक-दूसरेके प्रति कठोर होनेका अभ्यास पड़ गया है। अगर तुम अपना काम पूरी सच्चाईके साथ करो तो माताजी सन्तुष्ट होंगी और बाकी चीजें पीछे स्वयं

आती रहेंगी।

* * *

तुम्हें 'अ' के चट गर्म हो जानेका ख्याल नहीं करना चाहिये। सर्वदा याद रखो कि तुम माताजीका कार्य कर रहे हो, और अगर तुम कार्य करते हुए माताजीको स्मरण कर सको तो माताजीकी कृपा तुम्हारे साथ रहेगी। कार्य-कर्त्ताके लिये यही समुचित भाव है, और यदि तुम इस भावमें कार्य करो तो शान्त आत्मदानका भाव उत्पन्न होगा।

१-३-१९३३

माताजीके साथ आन्तर सम्पर्क रखते हुए काम करना

तुम्हें अधिक दृढ़ताके साथ अन्तःकरणमें अपने-आपको एकत्र करना होगा। यदि तुम निरन्तर अपनेको छितराये रखो, आन्तरिक क्षेत्रसे बाहर चले जाओ तो तुम साधारण बाहरी प्रकृतिकी तुच्छताओं तथा जिन प्रभावोंकी ओर वह खुली होती है उनके अन्दर सर्वदा विचरण करते रहोगे। अन्तरमें रहना और सदा भीतरसे, निरन्तर माताजीके सम्पर्कमें रहते हुए कार्य करना सीखो। सर्वदा और पूर्ण रूपसे ऐसा करना आरम्भमें कठिन हो सकता है, पर कोई यदि उसमें लगा रहे तो यह किया जा सकता है—और इसी मूल्यपर, उस दृढ़ताको सीखकर ही मनुष्य योगमें सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

५-६-१९३४

* * *

जब बाहर चीजें अस्तव्यस्त हो जायं तब तुम्हें तुरत इस नियमपर अपने मन को जमा देना चाहिये कि बाहरी रूपोंको देखकर फैसला करना उचित नहीं है—अपने भीतर माताजीकी ज्योतिके सामने सब कुछ रख देना चाहिये और यह विश्वास रखना चाहिये कि सब स्पष्ट हो जायगा।

माताजी कहती हैं कि यदि किसी समय तुम कामका बहुत अधिक बोझ अनुभव करो तो तुम्हें तुरत उनसे कहना चाहिये जिससे कि वे देख सकें कि क्या किया जा सकता है।

१६-९-१९३३

कर्ममें माताजीकी शक्तिकी ओर उद्घाटन और विश्रामकी आवश्यकता

शरीरकी साधारण अवस्थामें अगर तुम बहुत अधिक काम करनेके लिये शरीरको बाध्य करो तो प्राण-शक्तिका सहारा लेकर वह उसे कर सकता है। पर ज्योंही काम समाप्त हो जाता है त्योंही प्राणशक्ति हट जाती है और तब शरीर थकावट अनुभव करता है। अगर ऐसा बहुत अधिक और बहुत लम्बे समयतक किया जाय तो थकावटके कारण स्वास्थ्य और शक्तिका ह्रास हो सकता है। तब स्वस्थ होनेके लिये विश्रामकी आवश्यकता होती है।

परन्तु मन और प्राणको यदि माताजीकी शक्तिकी ओर खुलनेका अभ्यास हो जाय तो फिर वे शक्तिका सहारा प्राप्त करते हैं और यहांतक कि उससे एकदम भर भी सकते हैं — उस समय शक्ति काम करती है और पहले या पीछे शरीर कोई दबाव या थकावट नहीं अनुभव करता। परन्तु उस अवस्थामें भी, जबतक स्वयं शरीर भी नहीं खुलता और शक्तिको आत्मसात् करने और बनाये रखनेमें समर्थ नहीं होता, तबतक कर्ममें बीच-बीचमें पर्याप्त विश्राम करना एकदम आवश्यक है। अन्यथा, शरीर यद्यपि बहुत दीर्घ कालतक चलता रह सकता है, फिर भी अन्तमें उसके भंग हो जानेका खतरा बना रह सकता है।

जब पूरा प्रभाव विद्यमान हो और मन तथा प्राणमें अनन्य श्रद्धा-विश्वास और पुकार हो तो शरीरको बहुत लम्बे समयतक बनाये रखा जा सकता है; परन्तु मन या प्राण यदि अन्य प्रभावोंके द्वारा चंचल हो गये हों या जो शक्तियां माताजीकी नहीं हैं उनकी ओर खुले हों तो फिर उससे एक मिली-जुली अवस्था उत्पन्न होगी और कभी तो शक्ति-सामर्थ्य मालूम होगी और कभी थकावट, निर्बलता या अस्वस्थता अथवा एक साथ ही दोनोंकी मिली-जुली अवस्था।

अन्तमें, यदि केवल मन और प्राण ही नहीं, वरन् शरीर भी खुला रहे और शक्तिको आत्मसात् कर सके तो वह बिना भंग हुए कार्यके अन्दर असाधारण चीजें सम्पन्न कर सकता है। फिर भी, उस अवस्थामें भी विश्रामकी आवश्यकता होती है। यही कारण है कि जिन लोगोंमें कर्मकी प्रवृत्ति है उनसे हम आग्रह करते हैं कि वे श्रम और विश्रामके बीच समुचित समतोलता बनाये रखें।

थकावटसे पूर्ण मुक्ति पाना सम्भव है, पर वह केवल तभी आती है जब कि पार्थिव चेतनामें अतिमानसिक शक्तिके पूर्ण अवतरणके द्वारा शरीरके धर्मका ही सम्पूर्ण रूपान्तर हो जाय।

* * *

यही बात आश्रममें शारीरिक काम करनेवालोंमें प्रतिदिन हुआ करती थी। कर्मके प्रति अनुराग रखते हुए वे अत्यधिक शक्ति और उत्साहके साथ काम करते और कुछ समय बाद जब थकावट अनुभव करते तो माताजीको पुकारते और उनमें एक प्रकारका विश्रामका बोध उत्पन्न होता तथा उसके साथ-ही-साथ या उसके बाद ही शक्तिकी एक बाढ़-सी आ जाती जिससे दुगुना काम भी एकदम बिना थकावट या प्रतिक्रियाके पूरा हो जाता था। बहुतोंमें तो प्राणके अन्दर स्वभावतः ही शक्तिके लिये पुकार थी जिससे कि वे त्यों ही काम आरम्भ करते ज्यों ही शक्ति की बाढ़को अनुभव करते और जबतक काम करना होता तबतक वह बाढ़ बनी रहती।

२६-३-१९३६

कर्ममें प्राणशक्ति

कर्ममें अनुभूत प्राणशक्तिसे मत डरो। प्राणशक्ति भगवान्‌की एक बहुमूल्य देन है जिसके बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता — जैसा कि माताजीने प्रारम्भ-से ही सर्वदा जोर देकर कहा है; यह शक्ति इसलिये दी गयी है कि 'उनका' (भगवान्‌का) काम किया जा सके। मैं बहुत प्रसन्न हूँ कि वह वापस आ गयी है और उसके साथ प्रसन्नता और आशाका भाव भी आ गया है। ऐसा ही होना उचित था।

IX

श्रीमाताजी और आश्रमकी कार्य-व्यवस्था

श्रीमाताजी और आश्रमकी कार्य-व्यवस्था

साधकोंमें माताजीकी साधना

स्वभावत: ही, माताजी प्रत्येक साधकके अन्दर साधना करती हैं—लेकिन यह साधकके उत्साह और ग्रहणशीलतासे सीमित होती है।

४-१-१९३५

* * *

जिन चीजोंको नीचे उतारना है उन्हें उतारनेके विषयमें माताजीके अपने निजी अनुभव हैं—परन्तु जो कुछ साधक अनुभव करते हैं उसे भी उन्होंने बहुत पहले अनुभव किया था। पहले भगवान् जगत्के लिये साधना करते हैं और फिर दूसरोंमें साधना करते हैं।

१२-९-१९३४

* * *

मैंने कहा है कि पहले भगवान् जगत्के लिये साधना करते हैं और फिर जो कुछ नीचे उतारा गया है उसे वे दूसरोंको देते हैं। उपलब्धियों और अनुभूतियोंके विना कोई साधना नहीं हो सकती। "प्रार्थनाएं"* माताजीकी अनुभूतियोंके रेकार्ड (Record)— अभिलेख) हैं।

४-१-१९३५

* * *

आश्रममें तथा बाहर चैत्य सम्पर्क

निश्चय ही यह बिलकुल ठीक है कि दूरसे भी चैत्य सम्पर्क बना रह सकता है और भगवान् देशसे सीमित नहीं हैं, बल्कि सर्वत्र विद्यमान हैं। यह आवश्यक

*श्रीमाताजी- लिखित 'प्रार्थना और ध्यान' नामक पुस्तक।

नहीं है कि प्रत्येक आदमी आश्रममें ही रहे अथवा शरीरसे श्रीमांके समीप रहे और तभी वह आध्यात्मिक जीवन यापन कर सकता है या योगका अभ्यास कर सकता है, आरम्भिक अवस्थाओंमें तो यह बिलकुल ही आवश्यक नहीं है। परन्तु यह सत्यका केवल एक पक्ष है; इसके अलावा एक दूसरा पक्ष भी है, अन्यथा यह युक्तिसंगत सिद्धान्त निकल आयेगा कि माताजीके यहां रहनेकी, अथवा आश्रमके होनेकी, या किसी भी आदमीके यहां आनेकी बिलकुल ही कोई आवश्यकता नहीं है।

चैत्य पुरुष सबके अन्दर होता है, पर वह बहुत थोड़े लोगोंमें अच्छी तरह विकसित हुआ होता है, अपनी चेतनामें अच्छी तरह गठित और सामने प्रमुख स्थानमें होता है; अधिकतर लोगोंमें यह ढका होता है, प्रायः कुछ भी करनेमें असमर्थ होता है या केवल एक प्रभाव भर डालता है, इतना पर्याप्त सचेत या सबल नहीं होता कि आध्यात्मिक जीवनको सहारा दे सके।

इसी कारण आवश्यक है कि जो लोग इस सत्यकी ओर आकर्षित हुए हैं वे यहां आकर रहें जिससे कि वे स्पर्श प्राप्त कर सकें और उस स्पर्शसे चैत्य पुरुषका जागरण हो या उसकी तैयारी हो——यही उन लोगोंके लिये फलप्रद चैत्य सम्पर्क स्थापित करनेका प्रारम्भ है।

फिर इस कारण भी यह आवश्यक है कि बहुतोंके लिए यहां रहना जरूरी है——अगर वे तैयार हों——जिससे कि सीधे प्रभावके नीचे या समीपमें रहकर वे अपने चैत्य पुरुषकी चेतनाको विकसित करें या गठित करें अथवा उसे सामने ले आवें। जब स्पर्श दे दिया जाता है और साधकका उतना विकास साधित हो जाता है जितना उस समय उसके लिये सम्भव होता है, तब वह बाहरी जगत्में वापस लौट जाता है और संरक्षण तथा पथ-प्रदर्शनके अधीन दूर रहकर भी सम्पर्क बनाये रखने एवं अपना आध्यात्मिक जीवन जारी रखनेमें समर्थ होता है। परन्तु बाहरी जगत्के प्रभाव चैत्य सम्पर्क और चैत्य विकासके अनुकूल नहीं हैं, और यदि साधक पूरी तरह सावधान या एकाग्र न हो तो, कुछ समय बाद चैत्य सम्पर्क सहज ही टूट सकता या ढक जा सकता है और विरोधी क्रियाओं या प्रभावोंके कारण चैत्य विकास धीमा हो सकता, रुक सकता और यहांतक कि न्यून भी हो सकता है। अतएव यह बात आवश्यक है और प्रायः आवश्यक अनुभूत होती है कि केंद्रीय प्रभावके स्थानमें वापस आया जाय जिससे कि सम्पर्कको दृढ़ बनाया जाय या फिरसे प्राप्त किया जाय अथवा विकासको पुनः जारी किया जाय या नया अग्रगामी वेग प्रदान किया जाय। समय-समयपर ऐसे सामीप्यके लिये उठनेवाली अभीप्सा कोई प्राणगत कामना नहीं होती; यह केवल तभी प्राणगत कामना बन जाती है जब यह अहंकारपूर्वक हठ करती

या किसी प्राणिक उद्देश्यके साथ मिल जाती है, उस समय नहीं जब कि यह चैत्य पुरुषकी शान्त और गम्भीर अभीप्सा होती है तथा इसमें कोई चिल्लाहट या चंचल बनानेवाला आग्रह नहीं होता।

यह बात तो है उन लोगोंके लिये जिन्हें बुलाया नहीं गया है या जिन्हें आश्रममें केंद्रीय दिव्य शक्ति और उपस्थितिके सीधे दबावके नीचे रहनेके लिये अभीतक बुलाया नहीं गया है। जिन लोगोंको इस प्रकार रहना ही चाहिये, वे लोग हैं जो एकदम आरम्भसे ही बुलाये गये हैं या जो तैयार हो गये हैं या जिन्हें किसी-न-किसी कारणवश उस कार्य या सृष्टि का एक अंग बननेका अवसर दिया गया है जो यहां योग द्वारा तैयार की जा रही है। उन लोगोंके लिये यहांके वातावरणमें, सामीप्यमें रहना अत्यन्त आवश्यक है; उनके यहांसे चले जानेका अर्थ होगा उस सुयोगका त्याग करना जो उन्हें दिया गया है, अपनी आध्यात्मिक भवितव्यताकी ओर पीठ फेर देना। उन लोगोंकी कठि-नाइयां बहुधा देखनेमें उन लोगोंके संघर्ष से कहीं अधिक होती हैं जो बाहर रहते हैं, क्योंकि उनसे बड़ी चीजकी मांग की जाती है और उनपर दबाव भी बड़ा होता है; परन्तु उसी तरह उनको बड़ा-सा सुयोग भी प्राप्त है तथा विकासके लिये उनपर अधिक शक्ति तथा प्रभाव ढाला जाता है एवं वह चीज भी दी जाती है जो वे अध्यात्मतः बन सकते हैं और अवश्य बनेंगे यदि वे अपने चुनाव और पुकारके प्रति सच्चे हों।

७-१०-१९३१

* * *

प्र०– क्या माताजीके भौतिक सामीप्यका कोई विशेष फल होता है?

उ०– भौतिक स्तरपर साधनाकी परिपूर्णताके लिये यह अनिवार्य है। भौतिक और बाह्य सत्ताका रूपान्तर उसके बिना नहीं हो सकता।

१८-८-१९३३

* * *

प्र०– क्या बहुत अधिक दूरी पर भी — जैसे, बम्बई या कलकत्तेमें भी — करीब-करीब उसी रूपमें माताजीका सम्पर्क और उनकी

सहायता ग्रहण करना सम्भव है जैसे यहां आश्रममें सम्भव है?

उ०— सर्वत्र ही मनुष्य ग्रहण कर सकता है और अगर उसमें प्रबल आध्यात्मिक चेतना हो तो वह बहुत प्रगति भी कर सकता है। परन्तु अनुभव इस विचारका समर्थन नहीं करता कि दोनोंमें कोई भेद नहीं है या दोनों करीब-करीब एक-जैसे ही हैं।

१८-८-१९३३

आश्रममें भर्ती होनेका निर्णय

तुम्हारे मनमें इन लोगोंको या दूसरोंको यहां ले आनेकी कोई इच्छा या बेचैनी नहीं होनी चाहिये। इन बातोंका निर्णय एक ओर तो उनकी पुकार और योग्यताके द्वारा तथा दूसरी ओर माताजीकी इच्छासे होना चाहिये।

२८-६-१९३६

भीतरसे चुनाव

यदि तुम स्वयं अपने मन और प्राणमें चले जानेके लिये उत्सुक हो तो माताजीके लिये यह सम्भव नहीं है कि वे तुम्हें रहनेके लिये कहें। स्वयं तुम्हारे अन्दरसे ही यह स्पष्ट संकल्प आना चाहिये कि इस ओर रहना है या उस ओर।

२४-२-१९३२

उम्मेदवारीका काल

हां, अत्यन्त निश्चित रूपमें कुछ लिखना ठीक नहीं है। विशेषकर आजकल-जैसी परिस्थितियोंमें माताजी लोगोंको उम्मेदवारके रूपमें स्वीकार करती हैं, वे उन्हें तत्काल कोई बड़ी आशाएं नहीं बंधातीं, बल्कि यह देखनेके लिये प्रतीक्षा करती हैं कि वे किस प्रकार खुलते हैं। अगर वह अपनी अभीप्साको (अपने जीवनमें) सच्चा सिद्ध करे तो सब कुछ ठीक ही होगा।

२६-२-१९४३

माताजी द्वारा पूर्णस्वीकृति

प्र०– जब कोई आदमी माताजीके संरक्षणमें योग करना आरम्भ करता है तब क्या वह पूर्ण रूपसे उनके द्वारा ग्रहण नहीं कर लिया जाता ?

उ०– जबतक वह तैयार न हो जाय तबतक नहीं। सबसे पहले उसे माताजीको स्वीकार करना है और फिर अधिकाधिक अपना अहम्भाव छोड़ना होता है। यहां ऐसे साधक भी हैं जो पग-पगपर विद्रोह करते हैं, माताजीका विरोध करते हैं, उनकी इच्छाका खण्डन करते हैं और उनके निर्णयोंकी टीका-टिप्पणी करते हैं। ऐसी अवस्थाओंमें भला वे उन लोगोंको पूर्ण रूपसे कैसे ग्रहण कर सकती हैं ?

२१-६-१९३३

***

प्र०– क्या हमारे योगमें गुरु, भगवान् और सत्यमें वस्तुतः कोई भेद है ? मैं तो यही समझता आ रहा हूँ कि माताजी और आप केवल गुरु ही नहीं हैं, अपितु भगवान् भी हैं, और कि आपमेंसे कोई भी जो कुछ भी कहता है वह 'सत्य' का विधान है। तो फिर (अनुशासन-विषयक मेरे प्रश्नके उत्तरमें) आप इन तीन भिन्न शब्दोंका प्रयोग क्यों कर रहे हैं ?

उ०– मैंने आध्यात्मिक जीवन और आज्ञाकारिताका साधारण नियम लिखा था। तुम्हें यह नियम जानना चाहिये तथा इस अवस्थामें उसके विशेष उपयोगको भी जानना चाहिये। इसके अतिरिक्त, यहांपर बहुतसे लोग यह कहकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं कि "श्रीमाताजी भगवती हैं", पर वे उनकी आज्ञाओंका अनुसरण नहीं करते — दूसरे वास्तवमें उन्हें भगवतीके रूपमें स्वीकार नहीं करते — वे उनसे ऐसा व्यवहार करते हैं मानों वे एक साधारण गुरु हों। मैं कह चुका हूँ कि योगमें आज्ञाकारिताका अर्थ क्या है, उससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता।

१३-६-१९३३

***

प्र०— कल आपने माताजीके आदेशोंकी चर्चा की थी। वे क्या हैं? मैं उनपर चलनेका यत्न करना चाहता हूँ।

उ०— उन्हें सर्वविदित समझा जाता है। तुम्हें ठीक कार्य करना तथा सचाईके साथ योगका अनुसरण करना होगा।

१४-६-१९३३

* * *

प्र०— हमें बताया जाता है कि यदि साधक सच्चा (सत्यहृदय) हो तो माताजी उसमें अच्छे-से-अच्छा कार्य कर सकती हैं। परन्तु इसका अभिप्राय क्या है?

उ०— सच्ची साधनाका क्या अभिप्राय है? 'सच्चा' इस शब्दकी माताजी द्वारा की हुई परिभाषाके अनुसार, इसका अर्थ है "केवल भागवत शक्तियोंकी ओर खुलना" अर्थात् अन्य सभी शक्तियोंको, यदि वे आयें भी तो निकाल फेंकना।

२१-४-१९३६

माताजीकी उपस्थितिके कारण आध्यात्मिक सम्भावना

निश्चय ही बहुत थोड़ेसे लोग यह अनुभव करते हुए मालूम होते हैं कि उन्हें यहां किस बातकी सम्भावना दी गयी है — जिस चैत्य और आध्यात्मिक उद्देश्यके लिये यह अभिप्रेत है उसके लिये इसका व्यवहार करनेके बदले सब चीजें ही प्राणके मायाजाल या शरीरकी तामसिकताके एक सुयोगमें बदल दी गयी हैं।

७-३-१९३६

* * *

मैं किसी खास चीजकी बात नहीं कह रहा था — बल्कि मैं उस सारी आध्यात्मिक सम्भावनाकी बात कह रहा था जो कि यहां माताजीकी उपस्थितिके कारण मौजूद है। बहुत थोड़ेसे लोग ही यह समझते हैं कि इसका अर्थ क्या है और जिन्हें इसकी थोड़ी-सी धारणा है वे भी बहुत थोड़ा-सा ही लाभ उठाते हैं और अपनी निम्नतर प्रकृतिको अपनी प्रगतिमें रोड़ा अटकानेका अवसर

देते हैं।

९-३-१९३६

* * *

क्योंकि यहां लोग माताजीकी छत्रच्छायामें रह रहे हैं और मानव-जीवनके भारी कष्टों तथा दारुण विपत्तियोंसे बचे हुए हैं, अतः वे न-कुछमेंसे ही निराशाओं और दुःखद घटनाओंका ताना-बाना बुननेमें लगे रहते हैं। प्राण अपनी शोक-वृत्तिका रस लेना, चीखना-चिल्लाना और रोना-कराहना चाहता है और यदि उसे ऐसा करनेके लिये कोई अच्छा या बड़ा बहाना नहीं मिल पाता तो वह किसी बुरे या छोटे-से बहानेका ही उपयोग करेगा।

१-३-१९३६

योगमें सफलताके लिये प्राणको रूपान्तरित करनेकी आवश्यकता

प्र०— मेरा विश्वास था कि जिन लोगोंको यह योग करनेके लिये पुकार आई है वे सभी इसी जीवनमें देर-सवेर भगवान्‌को प्राप्त कर लेंगे। परन्तु मैंने किसीसे सुना है: "निःसंदेह माताजीने केवल उन्हींको चुना है जिनमें यह योग करनेकी क्षमता है, पर वे लक्ष्य-पर पहुँचेंगे तभी यदि उनका प्राण रूपान्तरित हो जाय। नहीं तो, उन्हें लक्ष्यकी प्राप्ति अगले जन्ममें होगी।" क्या यह बात ठीक है?

उ०— माताजीने यह कभी नहीं कहा कि कोई चीज अगले जन्ममें सम्पन्न होगी। यदि व्यक्तिको सफलता प्राप्त करनी है तो स्वभावतः ही प्राणको रूपान्तरित करना होगा।

१५-१-१९३४

साधकोंके माताजीको छोड़कर चले जानेके कारण

प्र०— यह क्या बात है कि जो लोग एक स्पष्ट अभीप्सा और पुकार लेकर माताजीके पास आते हैं वे कुछ समयके बाद उनके पाससे चले जाते हैं? कौन-सी चीज उन्हें यहांसे ले जाती है?

उ०– विरोधी शक्तियोंके सुझावोंके कारण, अहंकार, स्वार्थपरता, महत्त्वाकांक्षा, कामवासना, दंभ, लोभ या विरोधी शक्तियों द्वारा उठाये गये किसी अन्य प्राणिक आवेशके कारण उन्हें जाना पड़ता है।

* * *

प्र०– क्या प्राणमय शक्तियां इतनी प्रबल होती हैं कि किसी व्यक्तिमें स्पष्ट अभीप्सा और भागवत पुकारके होनेपर भी वे उसे माताजीसे दूर खींच ले जा सकती हैं?

उ०– प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक क्षण भगवान्‌की पुकारको अपनी सम्मति देने या न देनेके लिये, निम्नतर प्रकृति या अपने अन्तरात्माका अनुसरण करनेके लिये स्वतन्त्र है।

* * *

प्र०– क्या उनके पथसे चले जानेका अर्थ यह नहीं है कि वे अपने ज्ञान द्वारा यह निर्णय करनेमें असमर्थ थे कि भगवान्‌के लिये उनकी पुकार सच्ची थी या नहीं?

उ०– निर्णय करनेकी ये सब बातें बेमतलब हैं। तुम या तो पुकारको अनुभव करते हो या अनुभव नहीं करते और यदि तुम पुकारको अनुभव करते हो तो तुम कोई हिसाब-किताब किये बिना या खतरोंको गिने बिना या यह पूछे बिना कि तुम योग्य हो या नहीं, उसका अनुसरण करते हो।

* * *

प्र०– जब लोग साधना छोड़कर माताजीसे दूर चले जानेकी प्रवृत्तिको बहुत जोरसे अनुभव करते हैं तब उनके लिये इस प्रवृत्तिका प्रतिकार करने और माताजीका सहारा दृढ़तापूर्वक पकड़े रहनेका सबसे उत्तम उपाय क्या है?

उ०– यह समझना कि शैतान उन्हें भुलावेमें डाल रहा है और उसकी न सुनना।

* * *

प्र०– जो साधक आश्रममें बहुत दिनोंतक रह चुके हैं वे क्या आश्रम छोड़ देनेके बाद माताजीकी कृपाको भूल सकते हैं?

उ०– कुछ लोग भूले हुए-से मालूम होते हैं।

* * *

प्र०– क्या माताजीके अधीन साधना करनेके लिये उनके वापस आनेकी कोई सम्भावना है?

उ०– यह व्यक्तिके ऊपर निर्भर करता है।

६-९-१९३३

* * *

जब एक बार चैत्य पुरुष पूरा जाग्रत् हो जाता है तब साधकके लिये यह सम्भव नहीं कि वह विद्रोह करे और चला जाय; यदि वह ऐसा करता है तो वह अपने अन्तरात्माको माताजीके पास छोड़ जाता है और उसकी केवल बाहरी सत्ता ही कुछ दिन अन्यत्र रहती है। परन्तु यह अत्यन्त दुःखदायी अवस्था है; या तो मनुष्यको वापस आना पड़ता है या जीवन यापन करना दूभर हो जाता है।

२०-११-१९३५

* * *

तुमने जो कुछ लिखा है वह बिलकुल ठीक है। जब कोई साधक चला जाता है तब यह कहना कि भगवान् हार गये एक मूर्खतापूर्ण बात है। अगर साधक अपनी निम्नतर प्रकृतिको अपने ऊपर प्राधान्य स्थापित करने दे तो यह उसकी हार है, भगवान्की नहीं। साधक इसलिये यहां नहीं आता कि भगवान्को उसकी

आवश्यकता है, बल्कि इस कारण आता है कि उसको भगवान्‌की आवश्यकता है। अगर वह आध्यात्मिक जीवनकी शर्त्तोंको पूरा करे और माताजीके पथ-प्रदर्शनके प्रति अपने-आपको दे दे तो फिर वह अपने लक्ष्यको प्राप्त कर सकता है, पर वह यदि अपनी शर्त्तोंको रखना चाहे और भगवान्‌पर अपने निजी विचारों तथा अपनी निजी कामनाओंको लादना चाहे तो फिर सब प्रकारकी कठिनाइयां ही आयेंगी। ठीक यही बात 'अ' और 'ब' तथा कई अन्य लोगोंके विषयमें हुई। चूंकि भगवान् उनके सामने नहीं झुकते इसलिये वे चले जाते हैं। परन्तु यह भला भगवान्‌की हार कैसे हुई?

२७-५-१९३७

आश्रममें चिन्मय शक्ति (चित्-तपस्) की क्रिया

जो बात मुझे अधिक महत्त्वकी प्रतीत होती है वह है—यहां वस्तुएं कैसे कार्यान्वित की जाती हैं इसे समझानेका यत्न करना। वास्तवमें ऐसे लोग बहुत कम हैं जो इसे समझते हैं और फिर जो इसे अनुभव करते हैं वे तो और भी विरले।

पहलेसे निर्णीत कोई मानसिक योजना, निश्चित प्रोग्राम या व्यवस्था तो यहां कभी भी, किसी समय भी नहीं रही। सारी-की-सारी वस्तुका जन्म, संवर्धन और विकास एक सजीव प्राणीकी भांति चेतनाकी एक ऐसी क्रिया (चित्-तपस्) के द्वारा हुआ है जो निरन्तर चलती तथा बढ़ती रही है और प्रबल एवं दृढ़ होती रही है। जैसे ही चिन्मय शक्ति जड़तत्त्वमें उतरती और अपनी रश्मियां प्रसारित करती है, वह अपनेको प्रकट और अभिव्यक्त करनेके लिये उपयुक्त यन्त्रोंकी खोज करती है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यन्त्र जितना अधिक खुला, ग्रहणशील और नमनीय होता है, परिणाम उतने अधिक अच्छे होते हैं। साधकोंके अन्दर और उनके द्वारा निर्विघ्न और सामंजस्य-पूर्ण ढंगसे कार्य करनेके मार्गमें जो दो बाधाएं आती हैं वे ये हैं:

1. साधकोंके पूर्वकल्पित विचार और मानसिक रचनाएं जो चिन्मय शक्तिके कार्य और प्रभावमें रोड़े अटकाती हैं।

2. प्राणकी पसन्दगियां और उसके आवेग जो अभिव्यक्तिको विकृत और मिथ्या रूप दे देते हैं।

ये दोनों चीजें अहंकी स्वाभाविक उपज हैं। यदि इन दो तत्त्वोंका हस्तक्षेप न हो तो भौतिक रूपमें मेरी मध्यस्थताकी आवश्यकता नहीं होगी।

"माताजीको पसन्द है", "माताजीको पसन्द नहीं" इस कथनमें जब तुम

विश्वास नहीं करते तो तुम बिलकुल ठीक कर रहे होते हो : यह एक बिलकुल बचकानी व्याख्या है।

मुझे कार्यरत 'शक्ति' और 'चेतना' का स्पष्ट और सुनिश्चित प्रत्यक्षानुभव होता है, और जब भी यह 'शक्ति' अपने कार्यमें विकृत हो जाती है या यह 'चेतना' तमसे आवृत हो जाती है तो मुझे बीचमें पड़कर क्रियाको संशोधित करना होता है। बहुतसे व्यक्तियोंमें सब प्रकारकी वस्तुएं मिल-मिला जाती हैं और फिर वहां भी मुझे विकृत प्रतिरूपको शुद्ध वस्तुसे पृथक् करनेके लिये हस्तक्षेप करना पड़ता है।

अन्यथा सभीको कार्य करनेकी बड़ी भारी स्वतन्त्रता दी गई है, क्योंकि 'चिन्मय शक्ति' अपने आपको अगणित प्रकारसे अभिव्यक्त कर सकती है और, अभिव्यक्तिकी पूर्णता एवं समग्रताके हित, उनमेंसे किसी भी प्रकार या ढंगको पूर्वकल्पनाके आधारपर ही बहिष्कृत नहीं कर देना चाहिये। चुनाव करनेसे पहले परखके लिये अवसर प्रायः ही दिया जाता है।

२२-८-१९३९

माताजी और आश्रमका अनुशासन

'अ' के कथनानुसार उसने कहा कि अनुशासनका अभाव ही भारतका सबसे बड़ा दोष है; न तो व्यक्ति और न व्यक्तियोंके समुदाय ही अनुशासन मानते हैं। तो भला वह इतनेसे कारणसे क्यों रो पड़ा कि उसे अपना हैंड-बैग उस स्थानपर नहीं रखने दिया गया जो स्थान उसके लिये अभिप्रेत नहीं था? मैं स्वयं उसके साथ इस बातपर सहमत नहीं हूं कि आश्रममें पूर्ण अनुशासनका पालन होता है; बल्कि, इसके विपरीत, यहां उसका बहुत अधिक अभाव है, बहुत अनियमितता, लड़ाई-झगड़ा और हठधर्मिता है। यहां अगर कुछ संगठन और सुव्यवस्था है तो उसे इन सब बातोंके होते हुए भी माताजी स्थापित करने और बनाये रखनेमें समर्थ हुई हैं। वह संगठन और सुव्यवस्था सभी सामूहिक कार्योंके लिये आवश्यक है; बाहरके जिन लोगोंने आश्रम देखा है उन सब लोगोंने इस बातकी प्रशंसा की है और इसके लिये आश्चर्य प्रकट किया है; यही कारण है कि बहुतसे लोगोंके द्वेषपूर्ण आक्रमणके होते हुए भी, जिनकी चलती तो आश्रम कभीका खतम हो चुका होता, आश्रम जीवित है। माताजी अच्छी तरह जानती थीं कि वे क्या कर रही हैं और जो काम उन्हें करना है उसके लिये क्या आवश्यक है।

अपने-आपमें अनुशासन विशेष रूपसे पाश्चात्य वस्तु नहीं है; जापान,

चीन और भारत-जैसे पूर्वीय देशोंमें एक समयमें यह सर्वनियामक था और ऐसे ढंगसे कठोर नियमोंपर आधारित था जिसे पाश्चात्य लोग सहन नहीं करेंगे। सामाजिक रूपमें हम चाहे जो भी आपत्तियां इस विषयमें क्यों न उठावें, यह यथार्थ तथ्य है कि इसने युग-युगमें और समस्त परिवर्तनोंके अन्दर हिन्दू-धर्म और हिन्दू-समाजकी रक्षा की है। राजनीतिक क्षेत्रमें, इसके विपरीत, अनुशासनहीनता, व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद और कलह था; यह भी एक कारण है जिससे भारतका पतन हुआ और वह दासताका शिकार हुआ। संगठन और व्यवस्था लानेकी चेष्टा तो की गयी पर वह स्थायी होनेमें असफल रही। आध्यात्मिक जीवनके अन्दर भी भारतने केवल ऐसे स्वतन्त्र परिव्राजक संन्यासियोंको ही नहीं उत्पन्न किया जो अपने-आप अपना कानून थे, बल्कि नियम-कानूनों और व्यवस्थापक समितियोंसे युक्त संन्यासियोंके संघ बनानेकी प्रेरणाका भी अनुभव किया और कठोर अनुशासन रखनेवाले मठोंकी स्थापना भी हुई। जब कि ऐसी चीजोंके बिना कोई भी काम सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता — यहांतक कि व्यक्तिगत कार्यकर्त्ताको भी, जैसे कलाकारको, अपने कार्यमें दक्ष बननेके लिये एक कठोर अनुशासनके भीतरसे गुजरना होता है — तब भला, माताजीने जिस अत्यन्त कठिन कार्यको अपने हाथमें लिया है उसके लिये यदि वे अनुशासनपर जोर देती हों तो उन्हें दोष क्यों दिया जाय?

पता नहीं तुम किस आधारपर बिना विधि-विधान या अनुशासनके ही सुव्यवस्था और संगठनकी आशा करते हो। तुम मानो यह कहते हो कि लोगोंको पूर्ण स्वाधीनता दे देनी चाहिये और केवल उतना ही अनुशासन होना चाहिये जितना वे स्वयं अपने ऊपर लादना पसन्द करें; यह बात उस समय पर्याप्त होती जब यहांपर एकमात्र करनेकी चीज यही होती कि प्रत्येक व्यक्ति कोई आन्तर उपलब्धि प्राप्त कर ले, जीवनका कोई प्रश्न न होता, या, यहांपर कोई सामूहिक जीवन और कार्य न होता और अगर होता भी तो उसका कोई महत्त्व न होता; पर यहां बात ऐसी नहीं है। हमने एक ऐसा कार्य अपने हाथमें लिया है जिसमें जीवन, कर्म और भौतिक जगत् शामिल हैं। जो कुछ मैं करनेका प्रयत्न कर रहा हूँ उसमें आध्यात्मिक उपलब्धि सबसे पहले आवश्यक है, लेकिन वह जीवनमें, मनुष्योंमें और इस संसारमें भी बाह्य उपलब्धि प्राप्त किये बिना पूर्ण नहीं हो सकती। अन्तरमें आध्यात्मिक चेतना हो पर साथ ही बाहर आध्यात्मिक जीवन भी हो। आश्रम अपनी वर्तमान अवस्थामें उस आदर्श रूपको प्राप्त नहीं हुआ है, उसके लिये उसके सभी सदस्योंको साधारण अहंकारपूर्ण मन तथा मुख्यतः राजसिक प्राण-प्रकृतिमें रहनेकी जगह आध्यात्मिक चेतनामें निवास करना होगा, पर, फिर भी आश्रम हमारे प्रयासका पहला रूप है, यह

एक क्षेत्र है जिसमें प्रारंभिक तैयारीका कार्य करना होगा। माताजीको यह आश्रम चलाना है और इसके लिये इस समस्त व्यवस्था और संगठनकी भी आवश्यकता है तथा यह विधि-विधान और अनुशासनके बिना नहीं हो सकता। फिर अहंकार, मानसिक रुचियों और राजसिक प्राण-प्रकृतिको पार करनेके लिये भी, अथवा कम-से-कम उस कार्यमें सहायकके रूपमें, अनुशासनकी आवश्यकता है। यदि इन चीजोंको जीत लिया जाय तो बाहरी नियम आदिकी आवश्यकता कम होगी; उनके स्थानपर स्वाभाविक मेल-मिलाप, एकत्व, सामंजस्य और समुचित कर्म आ जायंगे। परन्तु जबतक वर्तमान अवस्था विद्यमान है तबतक लोग जिस अनुशासनको अपने ऊपर लादना पसन्द करेंगे या नहीं करेंगे उसके अतिरिक्त बाकी समस्त अनुशासनको त्याग देने या न माननेसे उसका फल असफलता और अमंगल ही होगा।....उस सिद्धान्तके अनुसार तो इस कार्यका भी सत्यानाश हो गया होता, बस लड़ाई-झगड़ेके सिवा और कुछ न होता, प्रत्येक कार्यकर्त्ता अपनी ही निजी भावना और इच्छाको प्रस्थापित करता और निरन्तर संघर्ष रहता; वर्तमान अवस्थामें भी यह सब प्रचुर मात्रामें है और केवल माताजीके प्रभाव, उनके दिये हुए ढांचे तथा विरोधी तत्त्वोंसे एक साथ काम लेनेके उनके कौशलके कारण ही सारा कार्य चल रहा है।

मुझे नहीं लगता कि माताजी कठोरताके साथ नियम पालन कराती हैं। बल्कि इसके विरुद्ध मैंने देखा है कि उन्होंने नियमभंग, आज्ञा-लघन, आत्मख्यापन और विद्रोहके उस विशाल स्तूपका सामना, जिसने उन्हें घेर रखा है, कितनी सतत मृदुलता, सहनशील धैर्य और दयालुताके साथ किया है; यहांतक कि अपने सामने किये गये विद्रोह और अपने-आपको अत्यन्त बुरी निन्दाओंसे आक्रांत करनेवाले उग्र पत्रोंको सहा है। कोई कठोर अनुशासक इन सब चीजोंके साथ इस तरह व्यवहार न करता।

मैं नहीं जानता कि दर्शकोंके साथ क्या बुरा व्यवहार किया गया है, सिवा इसके कि नियम माननेका आग्रह किया गया जिसपर तुम आपत्ति कर रहे हो। परन्तु यह कोई सार्वजनीन आपत्ति नहीं हो सकती, अन्यथा दर्शकोंकी संख्या निरन्तर बढ़ती न जाती और न इतने अधिक लोग दुबारा आना ही चाहते या यहांतक कि प्रत्येक बार ही आना चाहते या इतने अधिक लोग, यदि माताजी उन्हें अनुमति दें तो, यहां रहना ही चाहते। पर जो हो, वे लोग यहां किसी सामाजिक आवश्यकताके कारण नहीं आते बल्कि उन लोगोंके दर्शनोंके लिये आते हैं, जिन्हें वे आध्यात्मिक दृष्टिसे महान् मानते हैं अथवा, सर्वदा आने-जानेवालोंके प्रसंगमें कहा जाय तो, आश्रम-जीवनमें भाग लेने तथा आध्यात्मिक लाभ उठानेके लिये आते हैं, और इन दोनों ही उद्देश्योंके लिये उनसे

यह आशा की जायगी कि उनपर जो शर्तें लगायी जायं उन्हें वे इच्छापूर्वक स्वीकार करें और थोड़ी-बहुत असुविधाका ख्याल न करें।

अब गोलकुंड और उसके नियमोंकी बात लें—वे नियम दूसरी जगह नहीं लगाये जाते—उन्हें लगानेका कुछ कारण है और वे निरर्थक नहीं हैं। गोलकुंडमें माताजीने रेमों, सामेर और दूसरोंके द्वारा अपनी निजी भावनाको कार्यान्वित किया है। सबसे पहले, माताजीका विश्वास है कि सौन्दर्य आध्यात्मिक और दिव्य जीवनका एक अंग है; दूसरे, वे मानती हैं कि भौतिक वस्तुओंमें भी भागवत चेतना है और वह चेतना उतना ही उन्हें सहारा देती है जितना वह सजीव वस्तुओंको देती है; और तीसरे, उन भौतिक वस्तुओंका भी अपना व्यक्तित्व है और उनसे समुचित रूपमें व्यवहार करना चाहिये, समुचित ढंगसे उनका उपयोग करना चाहिये, न तो उनका दुरुपयोग होना चाहिये, न उनके साथ अनुचित ढंगका व्यवहार होना चाहिये, न तो उन्हें आघात पहुँचाना चाहिये और न उनकी उपेक्षा करनी चाहिये जिसमें कि वे जल्द नष्ट हो जायं और अपना पूरा सौन्दर्य या मूल्य खो बैठें; वे उनके अन्दरकी चेतनाको अनुभव करती हैं और उनके साथ इतनी अधिक सहानुभूति रखती हैं कि जो चीज दूसरे हाथोंमें थोड़े दिनोंमें ही खराब हो सकती या नष्ट हो सकती है वह उनके साथ वर्षों या दशकोंतक बनी रहती है। इसी बातको आधार मानकर उन्होंने गोलकुंडकी योजना बनायी थी। सर्वप्रथम, उन्होंने उच्च प्रकारकी स्थापत्यकलाका सौन्दर्य चाहा था और इसमें वे सफल हुईं—वास्तुकारों तथा गृहनिर्माणकलाका ज्ञान रखनेवाले लोगोंने बड़े उत्साहके साथ इसकी प्रशंसा की है और इसे एक अद्भुत कृति माना है। एकने तो इसके विषयमें यह कहा कि इस प्रकारके जितने भी भवन उसने देखे उनमें यह सबसे सुन्दर है और इसकी बराबरीका भवन न तो समूचे यूरोपमें है न अमेरिकामें; और एक महान् गुरुके शिष्य एक फ्रेंच वास्तुकारने कहा कि इस भवनमें वह भावना अत्यन्त उत्कृष्ट रूपमें कार्यान्वित हुई है जिसे उसके गुरु कार्यान्वित करनेकी चेष्टा करते रहे, पर सम्पन्न करनेमें असफल रहे। पर इसके साथ माताजीने यह भी चाहा था कि इस भवनकी सभी चीजें, कमरे, सजावटकी चीजें, सामान आदि सभी अपने-आपमें कलापूर्ण हों और सब मिलकर एक सुसमंजस सम्पूर्ण आकार ग्रहण करें। यह कार्य भी बड़ी सावधानीके साथ किया गया। इसके अलावा प्रत्येक चीज इस प्रकार निश्चित की गयी कि उसका अपना उपयोग हो, प्रत्येक चीजके लिये एक स्थान हो, और चीजोंको मिला-जुला न दिया जाय, या अस्त-व्यस्त न कर दिया जाय या उनका गलत उपयोग न किया जाय। परन्तु इन सब बातोंको बनाये रखने और उन्हें व्यवहारमें लानेकी जरूरत थी; क्योंकि

वहां रहनेवालोंके लिये थोड़े समयमें ही पूर्ण अस्तव्यस्तता उत्पन्न करना, दुरुपयोग करना और प्रत्येक चीजको अव्यवस्थित और नष्ट कर देना अधिक आसान था। यही कारण था कि नियम बनाये गये और उनका और कोई उद्देश्य नहीं था। माताजीको आशा थी कि यदि उपयुक्त मनुष्य वहां रखे जायं या कुछ दूसरोंको साधारण लोगोंकी अपेक्षा कम जल्दबाजी करनेकी शिक्षा दी जाय तो उनकी भावनाकी रक्षा की जा सकती है और समस्त परिश्रम और व्ययको नष्ट होनेसे बचाया जा सकता है।

परन्तु दुर्भाग्यवश स्थानकी कठिनाई उत्पन्न हुई और हमें उन लोगोंको गोलकुंडमें रखनेके लिये बाध्य होना पड़ा जिन्हें दूसरी जगह नहीं रखा जा सकता था और इस तरह सावधानीसे चुनाव नहीं किया जा सका। इसलिये प्रायः ही कुछ टूटने-फूटने लगा और दुरुपयोग होने लगा और दर्शनके बाद माताजीको चीजोंकी मरम्मत कराने तथा जो कुछ वहां सम्पन्न किया गया है उसे फिरसे ठीक करनेमें दो-तीन सौ रुपया खर्च करना पड़ता था। 'अ' ने मकानको देखने और जहांतक सम्भव हो चीजोंको ठीक बनाये रखनेकी जिम्मेदारी ले रखी है। यही कारण है कि हैंड-बैगके मामलेमें — वह मामला मेजके लिये भी उतना ही दुःखदायी था जितना कि डाक्टरके लिये, क्योंकि हैंड-बैगसे मेजपर खुरचन आ गयी और वह खराब हो गयी — उसने हस्तक्षेप किया और बैग तथा हजामतकी चीजोंको उनके लिये निश्चित किये गये स्थानोंमें रखनेकी चेष्टा की। अगर डाक्टरके स्थानपर मैं होता तो मैं उसकी सावधानता और सहायताके लिये उसके प्रति कृतज्ञ होता, डाक्टरकी तरह उन बातोंके लिये नाराज न होता जो उनकी दृष्टिमें तो तुच्छ थीं, यद्यपि उसके लिये उसकी जिम्मेदारीके कारण महत्त्वपूर्ण थीं। जो हो, नियमोंकी यही यथार्थ व्याख्या है और वे मुझे निरर्थक विधि-विधान और अनुशासन नहीं प्रतीत होते।

अन्तमें, आर्थिक व्यवस्थाकी बातपर आवें। इस आश्रमको, इसके सदस्योंकी निरन्तर बढ़नेवाली संख्याके साथ चलाना, आय-व्ययका लेखा बराबर बनाये रखना और कभी-कभी आयकी कमी और उसके परिणामोंको रोकना माताजीके और मेरे लिये एक दुःसाध्य और कष्टकर कार्य हो रहा है और विशेषकर इस युद्धके दिनोंमें जब कि सब चीजोंका खर्च एक अद्भुत और कल्पनातीत ऊंचाईतक पहुँच गया है, हमारे ऊपर क्या बीती है उसे केवल वे ही लोग समझ सकते हैं जिन्हें ऐसी बातोंका अभ्यास हो अथवा जिनपर ऐसी ही जिम्मेदारियां रही हों। यदि दिव्य शक्तिकी क्रिया न हुई होती तो बिना किसी निश्चित आमदनीके इतने महान् कार्यको चलाना सम्भव न होता। दानशीलताके कार्य हमारे कार्यका अंग नहीं हैं, अन्य बहुतेरे लोग हैं जो ऐसे कार्योंकी देख-रेख कर सकते हैं।

हमें तो सब कुछ उसी कार्यमें खर्च करना होगा जिसे हमने अपने हाथमें लिया है और हमें जो कुछ मिलता है वह हमारी आवश्यकताके अनुपातमें कुछ भी नहीं है। हम लोग ऐसा कोई काम हाथमें नहीं ले सकते जो साधारण तरीकोंसे धन ले आये। हमारे लिये जो उपाय सम्भव हैं उन्हींका हमें उपयोग करना होगा। यह कोई साधारण नियम नहीं है कि आध्यात्मिक मनुष्योंको परोपकारके कार्य करने ही चाहियें अथवा उनके पास जो कोई दर्शक आवें उन्हें वे रहनेका स्थान और भोजन दें, उनका स्वागत करें और उनकी सुरक्षा का ख्याल रखें। अगर हम ऐसा करते हैं तो इसका कारण यही है कि यह हमारे कार्यका अंग बन गया है। माताजी दर्शकोंसे रहने और खानेका खर्च लेती हैं, क्योंकि उन्हें खर्चकी व्यवस्था करनी है और वे हवामेंसे रुपया नहीं बना सकतीं; वे वास्तवमें जितना व्यय करती हैं उससे कम ही लेती हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक है कि वे यह न पसन्द करें कि लोग उनसे अनुचित लाभ उठावें और उन लोगोंको अनुमति दें जो झूठे बहाने बनाकर भोजन-गृहमें भोजन करनेकी चेष्टा करते हैं। आरम्भमें ये लोग थोड़े ही क्यों न हों, यदि उन्हें खुली छूट मिल जाय तो, वे थोड़ेसे लोग शीघ्र ही एक सेनामें परिणत हो जायेंगे। अब लोगोंको आज्ञा लिये बिना खुले तौरपर दर्शनोंके लिये आने देनेकी जो बात है वह तो मुझे जल्द ही एक दिखावेकी और कौतूहलकी चीज, बहुधा निन्दात्मक या विरोधी कौतूहलकी चीज बना देगी और तब मैं ही सबसे पहले चिल्ला उठूँगा —"बन्द करो।"

मैंने अपने दृष्टिकोणको समझानेकी चेष्टा की है और कुछ हदतक समझाया भी है। भले ही कोई इसे स्वीकार करे या न करे, पर यह है एक दृष्टिकोण और समझता हूँ कि यह युक्तिसंगत भी है। मैं केवल बाहरी दृष्टिसे ही लिख रहा हूँ और उन सब बातोंकी चर्चा नहीं करता जो पीछे विद्यमान हैं अथवा यौगिक दृष्टिसे संबन्धित हैं, उस यौगिक चेतनाकी दृष्टिसे सम्बन्धित हैं जिससे हम कार्य करते हैं; उसे व्यक्त करना अधिक कठिन होगा। यह महज बौद्धिक सन्तुष्टिके लिये ही है और यहां तर्कके लिये बराबर ही गुँजायश है।

२५-२-१९४५

* * *

यह बिलकुल ठीक है कि भौतिक वस्तुओंमें चेतना है जो अनुभव करती है, सतर्कताका प्रत्युत्तर देती है और असावधानीके साथ छूने तथा कठोरतापूर्वक व्यवहार करनेसे क्षुण्ण होती है। इसे जानना और अनुभव करना तथा उनके

विषयमें सावधान होना सीखना चेतनाकी एक महान् प्रगति है। बराबर ही माताजीने भौतिक वस्तुओंके विषयमें ऐसा अनुभव किया है और इसके अनुसार व्यवहार किया है। चीजें दूसरोंकी अपेक्षा माताजीके साथ बहुत अधिक दिनोंतक और अच्छी अवस्थामें रहती हैं तथा अपना पूरा लाभ देती हैं।

१६-४-१९३६

* * *

जो लोग "खर्च नहीं दे सकते" उनके आश्रममें आने या बिना खर्च रहनेके विषयमें माताजीने कभी आपत्ति नहीं की है; वे केवल उन्हीं दर्शकोंसे खर्च पानेकी आशा रखती हैं जो खर्च दे सकते हैं। उन्होंने निश्चय ही उन धनी दर्शकोंके कार्यपर (एक अवसरपर) बड़े जोरोंसे आपत्ति की थी जो यहां आये, बाजारमें चीजें आदि खरीदनेमें खुले दिल रुपया खर्च किया पर आश्रमको कुछ भी दिये बिना या माताजीको मामूली भेंटतक दिये बिना चले गये—बस इतना ही।

२१-१०-१९४३

आश्रमके भौतिक जीवनके दो आधार

ऐसा लगता है कि इन विषयोंमें तुम्हारी प्राणिक सत्ताने जो वृत्ति बराबर ही बनाये रखी है वह है "सौदेबाजी" या "ढाबे" की वृत्ति। व्यक्ति किसी प्रकारका माल देता है जिसे वह भक्ति या समर्पण कहता है और उसके बदले माताजी आध्यात्मिक, मानसिक, प्राणिक और शारीरिक—सभी प्रकारकी मांगों और कामनाओंकी तृप्ति करनेके लिये बाध्य हैं, और यदि उनके काममें कमी रह जाय तो यह समझा जाता है कि उन्होंने वादा तोड़ दिया है। आश्रम एक प्रकारका सामुदायिक होटल या ढाबा है, माताजी होटलकी स्वामिनी या ढाबेकी प्रबन्धकर्त्री हैं। व्यक्ति जो कुछ दे सकता है या देना पसन्द करता है, वही कुछ देता है, अथवा यह भी हो सकता है कि वह ऊपर कहे मालके सिवा कुछ भी न दे; बदलेमें जीभ और पेटकी तथा अन्य सभी भौतिक मांगोंकी पूरी-पूरी तृप्ति करनी होती है; नहीं तो, व्यक्तिको अपना धन अपने ही पास रखनेका और भुगतान न करनेवाली होटल-की-मालकिन या ढाबेकी प्रबन्धिकाको गाली देनेका हर प्रकारसे अधिकार है। इस मनोवृत्तिका साधना या योगके साथ किसी प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं और इसे मेरे कार्यके या आश्रमके

जीवनके आधारके रूपमें मुझपर थोपनेके किसी भी व्यक्तिके अधिकारको माननेसे मैं पूर्णतया इनकार करता हूँ।

यहांके भौतिक जीवनके लिये बस दो ही आधार सम्भव हैं। एक यह कि प्रत्येक मनुष्य एक आश्रमका सदस्य है जो आश्रम आत्मदान और समर्पणके सिद्धान्तपर स्थापित है। यहां प्रत्येक मनुष्य भगवान्का है और जो कुछ उसके पास है वह सब भगवान्का है, यहां हम जो कुछ देते हैं वह अपना नहीं है बल्कि वह पहलेसे ही भगवान्का है। यहां मूल्य या बदलेका कोई प्रश्न नहीं, कोई मोल-तोल नहीं, किसी मांग और कामनाके लिये स्थान नहीं। माताजी ही एकमात्र अधिकारिणी हैं और वे अपने प्राप्त साधनों तथा अपने यन्त्रोंकी क्षमताओंके अनुसार जितने उत्तम रूपमें करना सम्भव है उतने उत्तम रूपमें सारी चीजोंकी व्यवस्था करती हैं। वे साधकोंके मानसिक मानदण्डों या प्राणिक वासनाओं और मांगोंके अनुसार काम करनेके लिये बंधी हुई बिलकुल नहीं हैं; उनके साथ व्यवहार करते समय वे प्रजातंत्रात्मक समानताका उपयोग करनेके लिये बाध्य नहीं। वे प्रत्येक मनुष्यके विषयमें यह देखती हैं कि उसकी सच्ची आवश्यकता क्या है और उसकी आध्यात्मिक प्रगतिके लिये सबसे उत्तम क्या है और उसके अनुसार उसके साथ व्यवहार करनेके लिये वे स्वतन्त्र हैं। कोई भी आदमी उनके कार्योंपर विचार नहीं कर सकता अथवा उनपर अपना निजी नियम और मानदंड नहीं लाद सकता; केवल वही नियम बना सकती हैं और अगर उचित समझें तो फिर उन नियमोंका उल्लंघन भी कर सकती हैं, पर कोई भी आदमी यह मांग नहीं पेश कर सकता कि उन्हें ऐसा ही करना होगा। व्यक्तिगत मांगों और कामनाओंको उनपर नहीं लादा जा सकता। अगर किसी आदमीको अपनी सच्ची आवश्यकताकी बात कहनी हो अथवा उसे कोई ऐसी सूचना देनी हो जो उसके अपने प्राप्त क्षेत्र के भीतर पड़ती हो तो वह कह सकता है; परन्तु यदि माताजी स्वीकृति न दें तो उसे सन्तुष्ट रहना चाहिये और उस बातको वहीं छोड़ देना चाहिये। यही वह आध्यात्मिक अनुशासन है जिसका केंद्र वह व्यक्ति होता है जो भागवत सत्यका प्रतिनिधित्व करता है या उसका मूर्त्त रूप होता है। या तो माताजी वही व्यक्ति हैं और इस प्रसंगकी ये सब बातें स्पष्ट रूपसे साधारण समझकी बातें हैं; अथवा माताजी वह नहीं हैं और उस हालतमें किसीको यहां रहनेकी आवश्यकता नहीं। प्रत्येक आदमी अपने निजी रास्तेपर जा सकता है और फिर न तो आश्रम ही रह जाता है और न योग ही।

दूसरी ओर, यदि कोई आश्रमका सदस्य बनने या अनुशासन का पालन कर सकनेके लिये तैयार नहीं और फिर भी उसे इस योगमें कोई स्थान दिया

जाता है तो वह आश्रमसे अलग रहता है और अपना खर्च आप चलाता है। भौतिक स्तरपर उसके लिये, कार्यकी सुरक्षाके लिये आवश्यक नियमोंको छोड़कर और कोई अनुशासन नहीं होता। माताजीपर उस व्यक्तिका कोई भौतिक उत्तरदायित्व नहीं होता।

११-४-१९३०

माताजीके कार्यका तरीका और अपव्यय

अपव्ययके विषयमें कुछ कहना मैं आवश्यक नहीं समझता; बस तुम्हें इतना ही विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि लोगोंको केवल काममें लगाये रखनेके लिये ही अनुपयोगी और अनावश्यक कार्य हाथमें लेना माताजीके कर्मसम्बन्धी सिद्धांतका कोई अंग नहीं है। माताजीको मालूम नहीं कि तुमने किस नलकी बात लिखी थी और उसके विषयमें पूछताछ करनेके लिये न तो उनके पास समय था और न इच्छा ही थी। यह बिलकुल ठीक है कि जबतक साधक सिद्ध योगी नहीं बन जाते, कम-से-कम तबतक आत्मसंयम रखना ही धर्म है; उन्हें किसी भी दिशामें अति करनेकी आदतसे और लापरवाही, लोभ या व्यक्तिगत मनमौजकी पूर्त्तिसे दूर रहना सीखना ही होगा — उन्हें जो चीजें दी जाती हैं वे एक साधकके लिये प्रचुर हैं और अन्य स्थानोंमें जो चीजें मिलती हैं उनसे बहुत अधिक हैं — जब लोग ऐसी चीजें करते हैं तो माताजी उन्हें रोकनेके लिये प्रत्येक मुहूर्त्त हस्तक्षेप नहीं करतीं; एक नियम बना दिया गया है, अपव्यय न करनेके लिये उन्हें चेतावनी दे दी गयी है, एक चौहद्दी बना दी गयी है, बाकी चीजोंके लिये उनसे यह आशा की जाती है कि वे स्वयं सीखेंगे और अपनी निजी चेतना और संकल्पके द्वारा अपनी कमजोरियोंसे बाहर निकलेंगे और इस काममें उन्हें सहायता देनेके लिये माताजीकी आन्तर शक्ति विद्यमान है। कार्यका संगठन करनेमें पहले-पहल भीषण अपव्यय हुआ था, क्योंकि कार्यकर्त्ता और साधक माताजीकी इच्छाका प्रायः एकदम कोई ख्याल नहीं करते थे और अपनी ही मनमौजका अनुसरण करते थे; पर वह पुनस्संगठनके द्वारा बहुत कुछ बन्द हो गया। पर कुछ हदतक अभी अपव्यय जारी है और इसका बने रहना प्रायः तबतक अनिवार्य है जबतक साधक और कार्यकर्त्ता अपने संकल्प और चेतनामें अपूर्ण हैं, श्रीमांकी बतायी हुई बातोंको सच्चे रूपमें और पूरे ब्योरेके साथ क्रियामें नहीं लाते या अपनेको श्रीमाताजीसे भी अधिक बुद्धिमान् समझते हैं और अपने ही "स्वतन्त्र" विचारोंको अनुचित स्थान देते हैं। ऐसा होनेपर भी माताजी हमेशा आग्रह नहीं करतीं, वे प्रतीक्षा करती और देखती

हैं, साधकोंके व्यक्तिगत जीवनकी अपेक्षा बाहरी कार्योंमें अधिक हस्तक्षेप करती हैं, पर फिर भी उनके लिये अवसर छोड़ती हैं कि वे अपनी चेतना, अपनी अनुभूति और निजी भूलोंके द्वारा प्राप्त शिक्षाकी सहायतासे बढ़ें। माताजी प्रायः बाहरी दबावके बदले आन्तरिक दबावका प्रयोग करना अधिक पसन्द करती हैं। इन सब मामलोंमें उन्हें अपने निजी निर्णय और दृष्टिका ही उपयोग-करना होता है और किसी दूसरे आदमीके स्वीकृति देने या सेंसर करनेसे कोई लाभ नहीं — क्योंकि वे एक ऐसे दृष्टिकेंद्रसे कार्य करती हैं जो दूसरोंकी दृष्टिसे भिन्न है। लोगोंके पास कोई श्रेष्ठतर ज्योति नहीं है जिससे वे माताजीकी बातोंको माप-तौल सकें या उन्हें पथ दिखा सकें।

जहांतक अपव्ययका प्रश्न है, मैं यह बता दूँ कि हमारी दृष्टिमें खुले हाथ खर्च करना सदा अपव्यय ही नहीं होता, इस अत्यन्त तामसिक और पिछड़े हुए स्थानमें जीवनका जो स्तर देखनेमें आता है उससे ऊंचा स्तर रखना अपव्यय ही हो यह आवश्यक नहीं। मकान बनाने और उनकी सार-सम्भाल रखनेके मामलोंमें और इसी प्रकारके दूसरे विषयोंमें माताजीने शुरूसे ही एक मानक स्थापित किया है और वह वही नहीं जो यहां प्रचलित है — साधारण पद्धति है जहांतक हो सके सस्ते-से-सस्ते सामान और सस्ते-से-सस्ते श्रमिकोंका प्रयोग करना और बाहरी रंग-रूपकी परवा न करना, चीजोंको मैली-कुचैली रहने देना या उन्हें बनाये रखनेके लिये केवल कुछ जोड़-जाड़ कर देना। मैं समझता हूँ "मितव्ययी" मनोवृत्तिवाले लोग स्थानीय सिद्धान्तको युक्तियुक्त समझेंगे और उच्चतर मानकको अपव्यय। यदि उच्चतर मानक कायम रखा गया है तो यह किसीकी, आश्रम या माताजीकी मान-प्रतिष्ठाके लिये नहीं, — मान-प्रतिष्ठाका सिद्धान्त योगके लिये विजातीय है,—बल्कि किसी और ही दृष्टिकोणसे कायम रखा गया है जो मानसिक नहीं है और जिसका पूरा मूल्यांकन तभी किया जा सकता है जब हमारी चेतना वस्तुओं-सम्बन्धी उस अन्तर्दृष्टिको समझनेमें समर्थ हो जाय जिसके द्वारा माताजीने कार्य आरम्भ किया था। उसके सम्बन्धमें अभी कुछ लिखना मैं उपयोगी नहीं समझता, — इन विषयोंमें सामान्य भ्रान्ति तभी दूर हो सकती है जब साधक साधारण मन और प्राणसे मुक्त हो जायंगे और वस्तुओंको दृष्टिके उसी स्तरसे देखनेमें समर्थ होंगे जिससे योग और कर्मकी परिकल्पनाका उदय हुआ था....

इसी कारण मैं माताजीके विरुद्ध की गई आलोचनाओं, आक्रमणों और शङ्काओंका उत्तर देनेसे इनकार करता हूँ।

चाहे कर्ममें हो या योगमें, माताजी मनके द्वारा कार्य नहीं करतीं, अथवा चेतनाके उस स्तरसे नहीं करतीं जहांसे ये समालोचनाएं उठती हैं, बल्कि वे

एकदम दूसरी ही दृष्टि और चेतनासे काम करती हैं। अतः यह बिलकुल बेकार है, और माताजीकी जो स्थिति है उसके साथ एकदम बेमेल है कि साधारण मन और साधारण चेतनाको ही जज और अदालत स्वीकार किया जाय, उनके सामने माताजीको उपस्थित होकर अपने पक्षका समर्थन करनेके लिये कहा जाय, ऐसी पद्धति असंगत और युक्तिविरुद्ध है और वह किसी परिणामपर नहीं पहुँचाती; वह तो केवल एक ऐसे मिथ्या वातावरणकी सृष्टि ही कर सकती या उसे बनाये रख सकती है जो एकदम साधनाकी उन्नतिके लिये प्रतिकूल हो। इसी कारण जब ऐसे सन्देह उठाये जाते हैं तो मैं उनका कोई उत्तर ही नहीं देता अथवा इस तरह से उत्तर देता हूँ कि ऐसे अभियोगको फिरसे दुहरानेका साहस न हो। अगर लोग यह समझना चाहते हैं कि माताजी क्यों काम करती हैं तो उन्हें उसी आन्तर चेतनामें प्रवेश करना चाहिये जहांसे माताजी देखती और कार्य करती हैं। और माताजी क्या हैं, यह भी या तो श्रद्धाकी आंखोंसे या किसी गभीर दृष्टिसे ही देखा जा सकता है। यह भी कारण है जिससे कि हम ऐसे लोगोंको यहां रखते हैं जिन्होंने अभीतक आवश्यक श्रद्धा या दृष्टि नहीं प्राप्त की है; हम लोग उन्हें भीतरसे उसे प्राप्त करनेके लिये छोड़ देते हैं और अगर उनमें साधना करनेकी सच्ची इच्छा हो तो वे उसे प्राप्त कर लेंगे।

२६-१२-१९३६

* * *

माताजी साधकोंको सुख-सुविधाकी वस्तुएं इसलिये नहीं देतीं कि वे समझती हैं कि कामनाओं, शौक और रुचि-अभिरुचियोंको पूरा करना चाहिये — योगमें तो लोगोंको इन चीजोंपर विजय पानी होती है। यहां उन्हें जो वस्तुएं मिलती हैं उनका दसवां हिस्सा भी उन्हें और किसी भी आश्रममें नहीं मिलेगा, उन्हें सभी सम्भवनीय असुविधाओं, कठिनाइयों, कठिन और कठोर तपस्याओंका सामना करना पड़ेगा, और यदि उन्होंने कुछ चूँ-चाँ की तो उनसे कहा जायगा कि तुम योगके योग्य नहीं। यदि यहांका नियम कुछ भिन्न है तो उसका कारण यह नहीं कि कामनाओंका उपभोग करना है, वरन् यह कि काम्य पदार्थोंके अभावमें नहीं बल्कि उनके होते हुए उनपर विजय प्राप्त करनी है। योगका पहला नियम ही यह है कि साधकको जो कुछ भी अनायास प्राप्त हो जाय, वह थोड़ा हो या बहुत, उससे वह सन्तुष्ट रहे; यदि वस्तुएं वहां हों तो उसे बिना आसक्ति या कामनाके उनका उपयोग करनेमें समर्थ बनना होगा; यदि

वे वहां नहीं है तो उनके अभावके प्रति उसे उदासीन रहना होगा।

७-१-१९३७

मांग और कामना

प्र०– किस प्रकारकी चीजें "मांग और कामना" की श्रेणीमें आ सकती हैं? "मांग और कामना" का ठीक-ठीक रूप क्या है?

उ०– ऐसी कोई विशेष प्रकारकी चीजें नहीं हैं—मांग और कामना सभी चीजोंको, वे कोई भी क्यों न हों, अपने क्षेत्रमें ला सकती हैं—वे आत्मगत हैं, वस्तुगत नहीं और उनका अपना कोई विशेष रूप भी नहीं। मांग तब होती है जब तुम किसी वस्तुको पाने या अधिकृत करनेके लिये उसका दावा करते हो, कामना एक व्यापक शब्द है। यदि कोई अपेक्षा करता है कि प्रणामके समय माताजी उसे मुसकान प्रदान करें और अगर वह उसे नहीं पाता तो उसे बुरा लगता है तो वह एक मांग है। यदि किसीको उसकी चाह है और उसके न मिलनेपर दुःख होता है पर विद्रोहका या अनुचित रूपसे वञ्चित किये जानेका भाव नहीं पैदा होता तो यह सब कामनाका द्योतक है। यदि कोई उनकी मुसकान पाकर हर्ष अनुभव करता है किन्तु उसके न मिलनेपर शान्त और स्थिर रहता है क्योंकि वह जानता है कि माताजी जो कुछ भी करती हैं वह सब भला ही होता है तो वहां कोई मांग या कामना नहीं है।

* * *

प्र०– आपने भगवान्‌के विषयमें कहा है: "वे वह सब कुछ दे सकते हैं जिसकी सचमुचमें आवश्यकता हो—पर लोग साधारणतया इस विचारका यह अर्थ लगाते हैं कि वे वह सब कुछ प्रदान करते हैं जिसकी, वे समझते हैं या उन्हें लगता है कि, उन्हें जरूरत है। वे ऐसा कर सकते हैं,—पर नहीं भी कर सकते।" परन्तु यह कहा जाता है कि वे हमारी सभी चैत्य आवश्यकताओंकी पूर्ति करते हैं।

उ०– हां, अन्ततोगत्वा; पर यहां भी लोग उनसे आशा करते हैं कि वे निरन्तर

उनकी पूर्ति करें, जैसा कि सदा होता नहीं।

३०-१-१९३६

* * *

प्र०— यदि हमें अपनी कामनाओंका परित्याग ही करना है तो माताजी उन्हें कभी-कभी पूरा क्यों करती हैं?

उ०— उनसे छुटकारा तो तुम्हींको पाना है। यदि माताजी उन्हें जरा भी पूरी न करें और साधक उन्हें अपने अन्दर रखे रहे तो वे बाहरसे आनेवाले सुझावके द्वारा और भी प्रबल हो उठेंगी। हर एकको अन्दरसे ही उनके साथ निपटना है।

४-९-१९३३

* * *

प्र०— 'क्ष' ने मुझसे कहा कि यदि कोई चीज हमारे बिना मांगे हमें प्राप्त हो जाय तो हमें उसे अस्वीकार नहीं करना चाहिये। उदाहरणार्थ, कोई हमें मिठाई भेंट करता है: उसे हम स्वीकार कर सकते हैं। परन्तु जब हमारी चाही वस्तुएं हमें न दी जायं तो हमें उदास नहीं होना चाहिये। इस विषयमें आपका क्या कहना है?

उ०— ऐसा नियम भला कैसे टिक सकता है? मान लो कि कोई तुम्हारे पास आकर तुम्हें मांस या शराब भेंट करता है, तो क्या तुम उसे स्वीकार कर सकते हो? स्पष्टतः ही नहीं। ऐसे और सैंकड़ों दृष्टान्त दिये जा सकते हैं जहां यह नियम टिक नहीं पायगा। जो कुछ माताजी तुम्हें दें या स्वीकार करनेकी अनुमति दें वह तुम ले सकते हो।

२४-३-१९३३

आश्रमके कार्यपर एकमात्र माताजीका प्रभुत्व

यदि आश्रममें कोई व्यक्ति दूसरोंपर प्रभुत्व या आधिपत्यपूर्ण प्रभाव स्थापित

करनेका यत्न करता है तो वह गलतीमें है। क्योंकि वह अवश्य ही अशुद्ध प्राणिक प्रभाव बन जायगा और माताजीके कार्यमें बाधा पहुँचायेगा।

समस्त कार्य एकमात्र माताजीकी देखरेखमें किया जाना चाहिये। सब प्रकारकी व्यवस्था उन्हींके स्वतन्त्र निर्णयके अनुसार करनी होगी। कामके लिये तथा काम करनेवालेके लिये जो कुछ भी अच्छे-से-अच्छा है उसके अनुसार प्रत्येककी तथा सबकी क्षमताओंका पृथक्-पृथक् या संयुक्त रूपमें प्रयोग करनेके लिये वे अवश्य ही स्वतन्त्र हैं।

किसीको भी आश्रमके किसी दूसरे सदस्यको अपने अधीन नहीं समझना चाहिये और न वैसा समझते हुए उससे बर्ताव करना चाहिये। यदि कोई साधक किसी कार्यका अध्यक्ष है तो उसे दूसरोंको उस कार्यमें अपने सहयोगी और सहायक समझना चाहिये, और उसे उनपर अपना अधिकार जमाने या उनपर अपने विचारों तथा व्यक्तिगत सनकोंको थोपनेका यत्न नहीं करना चाहिये, बल्कि केवल माताजीकी इच्छाको क्रियान्वित करनेकी ओर ही ध्यान देना चाहिये। किसीको भी अपनेको अधीनस्थ नहीं मानना चाहिये, भले ही उसे दूसरेके द्वारा दिये गये निर्देशोंको कार्यान्वित करना या अपने करणीय कार्यको किसीकी देख-रेखके अधीन करना पड़ता हो।

सबको केवल यह सोचते हुए कि कार्यको कैसे सर्वोत्तम रीतिसे सफल बनाया जाय, मिल-जुलकर काम करनेका यत्न करना चाहिये। व्यक्तिगत भावोंको हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहिये, क्योंकि कार्यमें विघ्न, विफलता या गड़बड़ी का कारण बहुधा यही हुआ करता है।

यदि तुम कार्य-सम्बन्धी इस सत्यको मनमें रखो और इसपर सदा अटल रहो तो कठिनाइयां बहुत करके दूर हो जायंगी; क्योंकि दूसरे लोग तुम्हारी मनोवृत्तिकी यथार्थतासे प्रभावित होंगे और तुम्हारे साथ बिना किसी संघर्षके कार्य करेंगे अथवा, यदि अपने अन्दरकी किसी दुर्बलता या विकृतिके कारण वे कठिनाइयां पैदा करें तो उनके परिणाम वापिस उनपर ही जा पड़ेंगे और तुम कोई विघ्न या कष्ट नहीं अनुभव करोगे।

***

एक बात है जो हर एकको याद रखनी चाहिये। जो कुछ भी किया जाय वह योग, साधना और माताजीकी चेतनामें दिव्य जीवनमें विकसित होनेकी दृष्टिसे किया जाय। अपने ही मन और उसके विचारोंपर आग्रह करना, अपने निजी प्राणगत अनुभवों और प्रतिक्रियाओंके द्वारा अपनेको परिचालित होने

देना यहांके जीवनका विधान नहीं होना चाहिये। मनुष्यको इन सबसे पीछे हटना चाहिये, अनासक्त होना चाहिये, उनके स्थानपर ऊपरसे सच्चा ज्ञान तथा भीतरकी चैत्य सत्तासे सच्चे अनुभवोंको ले आना चाहिये। अगर मन और प्राण समर्पण न करें, अगर वे अपने निजी अज्ञानकी, जिसे वे सत्य, यथार्थ और न्याय के नामसे पुकारते हैं, आसक्तिका त्याग न करें तो यह नहीं किया जा सकता। समस्त कठिनाई उसीसे उठती है; यदि उसे जीत लिया जाय तो वर्तमान उपद्रव और कठिनाईके स्थानपर जीवनका, कर्मका, सामंजस्यका, उस सबका जो भगवान्‌के साथ एकत्व होनेपर आता है, सच्चा आधार धीरे-धीरे स्थापित हो जायगा।

* * *

माताजीके नाम तुम्हारे पत्रमें मैं देखता हूँ कि तुम्हारा दावा है कि तुम वह अपराध-स्वीकारके लिये लिख रहे हो, किन्तु असलमें उसका लहजा तुम्हारी अपनी आत्माको निर्दोष सिद्ध करता एवं उसका समर्थन करता है, इसके साथ ही वह माताजीपर पक्षपात, क्रोध और अन्यायका दोष लगाता है। मैंने इस बातपर भी गौर किया है कि तुम्हारा किया हुआ तथ्योंका वर्णन अशुद्ध है और, जहांतक उसका सम्बन्ध माताजीसे है, वह भोंडा भी है। साथ ही तुम उस बातपर बल भी देते हो ज़िसमें तुम अपनेको निर्दोष सिद्ध कर सकते हो और उन सब अन्य बातोंकी उपेक्षा कर देते हो जिनमें तुम दोषी थे। तथापि मैं यह मानूँगा कि यह सब तुमने जान-बूझकर नहीं किया और कि, ऐसा पत्र लिखते समय, तुम अपनी उस प्राणिक सत्ताकी गतियोंसे सचेतन नहीं थे जिसने उसकी भावना और उसके लहजेको प्रेरित किया।

मैं यह सुझाव दूँगा कि दूसरोंके साथ अपने सम्बन्धोंमें,—ऐसा लगता है कि ये सदा ही अतीव बेसुरे रहे हैं,—जब कोई घटनाएं घटें तब तुम्हारे लिये यह अत्यधिक अच्छा होगा कि तुम यह दृष्टिकोण मत अपनाओ कि तुम बिलकुल ठीक हो और वे बिलकुल गलत हैं। अधिक बुद्धिमानी इसमें होगी कि तुम अपने चिन्तनमें निष्पक्ष और न्यायपूर्ण रहो, यह देखो कि तुमसे कहां भूल हुई है, और यहांतक कि अपने दोषपर बल दो न कि उनके दोषपर। बहुत सम्भवतः यह तुम्हें दूसरोंके साथ तुम्हारे सम्बन्धोंमें अधिक सामञ्जस्यकी ओर ले जायगा; कुछ भी हो, तुम्हारी आन्तरिक प्रगतिमें तो यह अधिक सहायक होगा, जो कि किसी कलहमें अड़ियल लड़ाकू बननेकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। और फिर यह भी अच्छा नहीं कि तुम अपने समर्थन और अपनी सत्यपरायणताकी

भावनाको पालो-पोसो और अपने दोषों या अपनी भूलोंको अपने-आपसे या माताजीसे छुपाना चाहो।

जहांतक माताजीके सम्बन्धमें तुम्हारे सन्देहोंका प्रश्न है, वे सम्भवतः तबतक दूर नहीं हो सकते जबतक तुम यह समझते हो कि तुम अपने मनके प्रकाशसे माताजीके मनको पढ़ सकते हो और इस प्रकार प्राप्त भ्रान्तिपूर्ण तथ्योंसे माताजीके तथा उनके कार्योंके विषयमें अपने मानसिक निर्णय घोषित कर सकते हो। साथ ही जब-जब वे कोई ऐसी चीज करें जिसे तुम्हारी सीमित बुद्धि नहीं समझ पाती या जो तुम्हारी प्राणिक प्रकृतिकी भावनाओं और मांगोंके लिये अप्रीतिकर हो तब-तब हर बार यदि तुम्हारी श्रद्धा टूट जाय तो भी तुम्हारे सन्देह आसानीसे नहीं मिट सकते। यदि तुम्हारा यह विश्वास नहीं है कि उनकी चेतना तुम्हारी चेतनासे अधिक महान् और विशाल है तथा उसकी नाप-जोख साधारण मानदण्डों और निर्णयोंसे नहीं हो सकती, या कम-से-कम वह एक यौगिक चेतना है, तो मैं नहीं देख पाता कि किस आधारपर तुम यहां उनके मार्गदर्शनमें योगाभ्यास कर रहे हो। जो लोग निरन्तर उनपर सन्देह करते हैं, उनकी आलोचना एवं निन्दा करते हैं अथवा अत्यन्त साधारण और अभद्र मानवीय भाव-भावनाओं और हेतुओंको उनके कार्योंका मूल प्रेरक मानते हैं और फिर भी उन्हें स्वीकार करने या मुझे और मेरे योगको स्वीकार करनेका ढोंग रचते हैं वे एक मूर्खतापूर्ण और तर्कविरुद्ध असंगतिके अपराधी हैं। जहांतक समझनेका प्रश्न है वह एक दूसरी ही बात है। मैं सुझाव दूंगा कि पहले तुम्हें विकास करते हुए साधारण मनसे बाहर निकलना होगा और सच्ची चेतनाके द्वारा सचेतन बनना होगा, उसके बाद ही कहीं तुम इस विषयको समझनेकी आशा कर सकते हो। और उसके लिये श्रद्धा, समर्पण, विश्वास पात्रता और उद्घाटन ही वे अवस्थाएं हैं जिनका कुछ महत्त्व है।

६-११-१९२९

* * *

कैसे तुम माताजीकी तरह कार्य कर सकते हो या वह कार्य कर सकते हो जो वे कर सकती हैं? यह तो महत्त्वाकांक्षा और मिथ्याभिमानका उभरना है।

५-११-१९३२

* * *

तुम्हारे माताजीसे मिलनेके लिये कोई उचित कारण नहीं है और यह मिलनेका समय भी नहीं। न ही इस विषयमें बहसकी कोई गुँजायश है।

यहां दो बातें स्पष्ट रूपसे समझ लेनी होंगी। यहांका कार्य माताजीका है और वे जिस ढंगसे पसन्द करें उस ढंगसे अपने आदेश देनेका उन्हें अधिकार है और उन आदेशोंका पालन करना ही होगा। उनके आदेश किसी भी रूपमें पहुँचें, उनकी अवज्ञा करने या अपने निजी विचारों, अपनी इच्छा या सनकोंपर आग्रह करनेकी छूट किसीको नहीं दी जा सकती। यदि तुम बिना किन्हीं शर्तोंके उनके आदेशोंका सम्मान करने और उनपर चलनेके लिये तैयार हो तो तुम्हें काम करते रहनेकी अनुमति दी जा सकती है, अन्यथा तुम्हें काम करना छोड़ ही देना होगा। ....

दूसरे, सब प्रकारकी जोर-जबर्दस्ती बन्द करनी होगी। यदि तुम आश्रममें रहना चाहते हो तो इस प्रकारके व्यवहारसे बाज आना होगा।

१८-७-१९३७

प्राणिक स्तरपर माताजीका कार्य

तुम्हारा स्वप्न, स्पष्ट ही, प्राणिक स्तरके किसी भागका (जो मानव प्रकृतिके एक भागसे भी मिलता जुलता है) सांकेतिक प्रति रूप था। उस भागमें माताजीने अपना घर बना रखा था (अपनी चेतनाका कोई अंश स्थापित कर रखा था)। गांव मानव जीवनकी किसी रचनाका प्रतिनिधित्व करता था जिसमें यूरोपीय जीवनके किन्हीं भागोंकी भांति बाह्य सौंदर्य और सामंजस्य तो है पर भगवान्का स्पर्श कतई नहीं। जंगल उन परिवेशों-को द्योतित करता था जिनमें यह रचना बनाई गई है — यह एक ऐसी प्राणिक प्रकृतिके बीच बनाई गई है जो बर्बर, असभ्य और जंगली है और है भयानक वस्तुओंसे भरी हुई — अतएव गांव अर्थात् रचना एक ऐसी वस्तु है जो सर्वथा असुरक्षित और कृत्रिम है। निःसन्देह, मानव सभ्यताके अधिकांशका यही स्व-रूप है, भीषण रूपसे असंस्कृत प्राणिक प्रकृतिके बीच एक कृत्रिम रचना, और वह किसी क्षण भी ध्वस्त हो सकती है। समुद्र है स्वयं प्राणिक चेतना, क्योंकि जल प्रायः प्राणका प्रतीक होता है। पगडण्डी किसी ऐसी वस्तुको द्योतित करती प्रतीत होती है जिसे, माताजी चाहती हैं कि साधक प्राणके उस भागमें निर्मित एवं गठित करें, पर जिसे बनाना सरल नहीं और जिसे केवल ऐसे सतत अध्यव-सायके द्वारा ही बनाया जा सकता है जो अन्ततोगत्वा प्राणकी अस्थिरतापर विजय पा लेगा। इस प्रकारके स्वप्न बहुधा अत्यन्त मनोरञ्जक और बोध-प्रद होते हैं यदि व्यक्ति उनके प्रतीकोंका सूत्र पा सके, पर सूत्र पाना सदा

सरल नहीं होता।

१३-२-१९३६

* * *

मेरा किया हुआ प्राणका वर्णन उसके उस भागपर लागू होता था जिसे तुमने स्वप्नमें देखा था — वह आश्रममें विद्यमान प्राणिक स्तरका नहीं वरन् साधारण मानव सत्ताके कुछ एक पक्षोंका वर्णन करता है। तथापि मानव प्राण सभी जगह, आश्रममें भी, उग्र और उच्छृङ्खल शक्तियोंसे भरा है — क्रोध, अभिमान, ईर्ष्या, आधिपत्यकी लालसा, स्वार्थपरता, अपनी निजी इच्छापर तथा अपने विचारों एवं अभिरुचियोंपर आग्रह और अनुशासनहीनता परिपूर्ण है — और ये चीजें ही उस गड़बड़ी और कठिनाईका कारण हैं जो आश्रमके कार्यमें देखनेमें आती है। इन प्रवृत्तियोंपर नियन्त्रण रखने या इनका मुकाबला करनेके लिये जो नियम स्थापित किया गया है वह यह है कि माताजीकी इच्छा और उनके द्वारा कायम किये गये नियम एवं अनुशासनका पालन किया जाय, न कि प्रत्येक कार्यकर्ता अपने ही अहंसे परिचालित हो। पर ऐसे लोग वहुत-से हैं जो अपने ही अहंपर आग्रह करते हैं और अनुशासनको बुरा मानते हैं। वे माताजीकी इच्छा, नियम एवं अनुशासनको केवल नामके लिये ही और उसी हदतक माननेको तैयार हैं जिस हदतक वह उनके अपने विचारों और अभिरुचियोंसे मेल खाता है। इसका इलाज आन्तरिक परिवर्तनके सिवा और कोई नहीं। आश्रमसे बाहरके जीवनमें अनुशासन बलात् लागू किया जाता है क्योंकि अनुशासनके पालनसे इनकार करनेपर कठोर दण्ड भोगने पड़ते हैं या फिर उसके परिणामस्वरूप नाना प्रकारकी इतनी अधिक असुविधाएं झेलनी पड़ती हैं कि अनुशासनहीन व्यक्तिको या तो घुटने टेकने पड़ते हैं या फिर अपना रास्ता नापना होता है। परन्तु यहां आश्रममें नियमको इस प्रकार थोपना सम्भव नहीं। बाह्य आज्ञापालनके मूल प्रेरणा-स्रोतके रूपमें आन्तरिक आज्ञापालनकी वृत्तिको अपनाना ही होगा। एकमात्र उपाय है चेतनाके भीतर उस सुनहले कमलका अवतरण जिसे तुमने अपने अन्तर्दर्शनमें देखा था। जिस किसी में भी वह स्थापित हो जायगा वह, या जो कोई इसके प्रभावको ही अनुभव करेगा वह भी सच्ची चेतना और सच्चे कार्यका केन्द्र बन जायगा जिससे आश्रमके जीवनमें परिवर्तन आ जायगा।

१४-२-१९३६

विभागीय अध्यक्षकी आवश्यकता

माताजीके लिये भौतिक रूपमें यह सम्भव नहीं है कि वे प्रत्येक कार्यकर्त्ताको अपने-आप सीधा कार्य दें और उसपर सीधी निगरानी रख सकें, जिसमें भौतिक रूपमें और साथ ही आन्तरिक रूपमें वह (कार्यकर्त्ता) अपना कार्य उन्हें अर्पित कर सके। प्रत्येक विभागके लिये एक अध्यक्ष होना ही चाहिये जो सभी महत्त्व-पूर्ण विषयोंमें माताजीकी सलाह ले और प्रत्येक चीजकी रिपोर्ट उन्हें देता रहे; परन्तु छोटी-छोटी बातोंमें उनका निर्णय जाननेके लिये बराबर उनके पास आने-की उसे कोई जरूरत नहीं — यह सम्भव भी नहीं है। 'अ' गृहनिर्माण-विभागमें अध्यक्षके पदपर है क्योंकि वह एक सुयोग्य इंजीनियर है। यह बाहरी व्यवस्था-की एक आवश्यकता है जो यहां या अन्य जगहोंमें भी अनिवार्य है और यदि काम करना है तो इसे स्वीकार करना ही होगा। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि लोगोंको 'अ' या किसी दूसरे अध्यक्षको अपनेसे बड़ा व्यक्ति मानना चाहिये अथवा उसके अहंकारके प्रति समर्पण करना चाहिये। जहांतक सम्भव हो साधकको अपने निजी अहंभावसे मुक्त होना चाहिये और चाहे जिन अवस्थाओं-में कार्य क्यों न किया जाय, अपने कार्यको माताजीकी पूजा समझना ही चाहिये।

२०-८-१९३६

* * *

आश्रमकी व्यवस्थाके प्रत्येक व्योरेको स्वयं अपने-आप देखना माताजीके लिये एकदम असम्भव है; आजकल भी जो अवस्था है, उसमें उनके पास खाली समय बिलकुल नहीं है। यह बात जानी हुई है कि तुम......पा सकते हो, पर किसी व्यवस्थाके कार्यान्वित होनेके लिये तुम्हें उन लोगोंपर जोर डालना चाहिये जिन्हें उसकी जिम्मेदारी दी गयी है।

२०-७-१९३३

* * *

स्वयं माताजीने ही अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये (विभागोंके) अध्यक्षोंका चुनाव किया था जिससे समस्त कार्यका संगठन हो सके; कामकी सभी धाराएं, समस्त व्योरा उन्हींके द्वारा निश्चित किया गया था और अध्यक्षोंको उनकी पद्धतियों-का निरीक्षण करनेकी शिक्षा दी गयी थी। इस सबके बाद ही वे पीछे हटीं

और सारी चीजको अपने निश्चित किये हुए रास्तेसे चलते रहनेके लिये उन्होंने छोड़ दिया; पर वे बराबर ही एक सतर्क दृष्टि बनाये रखती हैं। अध्यक्ष लोग उनकी नीति और आदेशोंको कार्यान्वित कर रहे हैं और प्रत्येक चीजकी रिपोर्ट उन्हें देते हैं तथा जब वे उचित समझती हैं तब जो कुछ वे करते हैं उसमें प्रायः ही परिवर्तन करती हैं। अध्यक्षोंका कार्य पूर्ण नहीं है, क्योंकि वे स्वयं भी अभीतक पूर्ण नहीं हैं और कार्यकर्त्ताओं तथा साधकोंका अहंकार उनके मार्गमें रोड़ा भी अटकाता है। तबतक कुछ भी पूर्ण नहीं हो सकता जबतक साधक और कार्यकर्त्ता यह नहीं अनुभव करने लगते कि वे अपने अहंकारके लिये, अपने प्राणकी आत्मतुष्टिके लिये तथा शरीरकी मांगोंके लिये यहां नहीं हैं बल्कि एक उच्च और अत्यधिक कठोर योगके लिये हैं जिसका पहला उद्देश्य है कामनाका नाश करना तथा उसके स्थानपर भागवत सत्य और भागवत संकल्पको स्थापित करना।

९-१-१९३६

* * *

अपने पत्रमें मैंने जो लिखा था उसका अभिप्राय यह था कि साधारणतया माताजी इन वस्तुओंके बारेमें स्वयं नहीं सोचतीं, कार्यका सूत्रपात स्वयं नहीं करतीं, प्रत्येक व्यक्तिको प्रत्येक प्रसंगमें यह निर्देश नहीं देतीं कि उसे क्या या कैसे करना चाहिये, जबतक कि ऐसा करनेके लिये कोई विशेष अवसर ही न आये। वास्तवमें, वे कार्यके किसी भी विभागमें ऐसा नहीं करतीं। वे सामान्य रूपसे कार्यपर अपनी दृष्टि रखती हैं, अनुमति देती हैं या उसमें संशोधन करती हैं या फिर अनुमति देनेसे इनकार कर देती हैं, जब वे आवश्यक समझती हैं तो अन्तःक्षेप भी करती हैं। ऐसे विषय तो बहुत थोड़े-से ही हैं जिनमें वे कार्यका उपक्रम करती हैं, योजना और रूप-रेखा बनाती हैं, विशेष और ब्योरेवार आदेश देती हैं। कसीदाकारी के विषयमें कुछ पूछना आवश्यक हो तो 'क्ष' माताजीसे पूछ लेती है अथवा जब कोई कार्यकर्त्री कोई काम हाथमें लेती है तो वह माताजीको सूचना देती है कि वह उनके लिये कुछ बनाना चाहती है, रुमाल, पेशबन्द, छादन या साड़ी। जो चीज सुझायी जाती है उसे माताजी या तो स्वीकार कर लेती हैं या अस्वीकार कर देती हैं अथवा वे स्वयं कोई चीज सुझाती हैं या जिस चीजका प्रस्ताव किया गया है उसमें कुछ परिवर्तन कर देती हैं। इस प्रकारसे किया गया काम भी उतना ही माताजीकी इच्छाके अनुसार किया गया काम है जितना कि कोई ऐसा काम जिसका उपक्रम, विचार

और आयोजन समूचे रूपमें और हर ब्योरेमें केवल उन्हींके द्वारा किया जाता है। मैं पूरी तरहसे नहीं समझ पाता कि क्यों तुम्हें यह समझना चाहिये कि कामके इस ढंगका अर्थ है माताजीकी इच्छाके साथ एकताका या तुम्हारी ओरसे समर्पणका अभाव। महत्त्वपूर्ण वस्तु है तुम्हारे भीतर आत्म-निवेदनका भाव और वही समय आनेपर समर्पणकी समग्र सम्पूर्णता ले आता है।

१७-९-१९३६

***

तुम किस चीजके लिये अनुमति चाहती हो यह मैं पूरी तरहसे नहीं समझ पाया। यदि यह कसीदाकारीके विषयमें है तो मैं तुमसे कह ही चुका हूं कि वर्तमान व्यवस्थाके अनुसार चलना, अर्थात् जब सिलाई-कढ़ाईका कोई काम करनेकी इच्छा या अनुप्रेरणा तुम्हें हो तो उसे माताजीके सामने रखना और उनकी अनुमति ले लेना या उनके निर्णयके लिये प्रार्थना करना, माताजीकी इच्छाके अनुसार कार्य करनेके लिये बिलकुल ठीक तरीका है। यह समर्पण-भावके साथ तनिक भी असंगत नहीं। परन्तु यदि तुम हर चीज माताजीपर छोड़ना और अपने-आप कोई भी सुझाव या प्रस्ताव न रखना अधिक पसन्द करते हो तो तुम वैसा कर सकते हो।

माताजीने मुझसे केवल यह कहा था कि मैं तुम्हें यह लिख दूं कि यहां सामान्यतया ये चीजें किस ढंगसे की जाती हैं। क्योंकि वे इन चीजोंके बारेमें स्वयं सोचनेकी आदी नहीं हैं, इसलिये कोई चीज स्मृतिमें लाना या सोचकर बताना उनके लिये उतना सरल नहीं जितना अपने सामने रखे गये सुझावोंपर निर्णय करना।

१८-९-१९३६

अधीनता और सहकारिता सीखनेकी आवश्यकता

माताजीके निर्णयोंके लिये उनके अपने खास कारण होते हैं। उन्हें केवल एक विभागका या शाखामात्रका ख्याल न करके समूचे कार्य और व्यवस्थाकी आवश्यकताओंको ध्यानमें रखते हुए सम्पूर्ण रूपसे कार्यपर दृष्टि रखनी पड़ती है। यहां जो कोई कार्य किया जाता है उसमें मनुष्यको सदा अधीनतामें रहना सीखना होता है या कामसे सम्बन्धित वस्तुओंके विषयमें अपनी निजी भावनाओं और पसन्दगियोंको अलग रखना होता है तथा माताजी द्वारा निर्धारित शर्तों

और निर्णयोंके अनुसार उत्तम-से-उत्तम रूपमें कार्य करना होता है। सारे आश्रम-में यही मुख्य कठिनाई है, कारण कार्यकर्त्ता अपनी निजी भावनाओंके अनुसार, जिस तरीकेको वह ठीक या सुविधाजनक समझता है, उसीके अनुसार कार्य करना चाहता है और उसीके लिये अनुमति पानेकी आशा करता है। यही कार्यके अन्दर आनेवाली कठिनाई, संघर्ष या गोलमालका प्रधान कारण है और स्वयं कार्यकर्त्ताओंके बीच, कार्यकर्त्ताओं और विभागोंके अध्यक्षोंके बीच, साधकोंकी भावना और माताजीकी इच्छाके बीच विरोध उत्पन्न करता है। सामंजस्य केवल तभी रह सकता है जब सब लोग बिना ननुनच और व्यक्तिगत प्रतिक्रियाके माताजीकी इच्छाको स्वीकार कर लें।

आश्रममें 'स्वतन्त्र कार्य' नहीं है। सब कुछ सुसंगठित और परस्पर-सम्बद्ध है, और न तो विभागोंके अध्यक्ष और न कार्यकर्त्ता ही स्वतन्त्र हैं। समस्त सामूहिक कार्यके लिये अधीनता और सहकारिताका सीखना आवश्यक है; इसके बिना बस अस्तव्यस्तता ही आयेगी।

१०-३-१९३६

* * *

व्यक्तिगत विचारोंके अनुसार कार्यकी व्यवस्था करना माताजीके लिये असम्भव है क्योंकि उस स्थितिमें सारा कार्य ही असम्भव हो जायगा।

२५-७-१९३४

समुचित भावके साथ कार्य करनेके लिये महत्त्वपूर्ण बातें

अगर 'अ' को अपनी उदासी और बेचैनीसे छुटकारा पाना हो तथा प्रसन्न और निश्चित होना हो तो उसे अपने मनमें कुछ बातोंको अवश्य बैठा लेना चाहिये। मैं यहां जो कुछ लिख रहा हूँ उसे तुम स्पष्ट रूपमें उसको समझा देना।

1. वह यहां 'ब' के भतीजेके रूपमें नहीं है, बल्कि माताजीके बच्चेके रूपमें है।

2. वह यहां 'ब' की देखरेख, संरक्षण और अधीनतामें नहीं है, बल्कि माताजीकी अधीनता और देख-रेखमें है और उसे केवल उन्हींके प्रति वफादार होना चाहिये।

3. भंडार (Stores) में जो काम उसे दिया गया है वह माताजीका ही काम है और 'ब' का नहीं है; इसी भावनाके साथ, माताजीके कार्यके रूपमें,

और दूसरे किसीके कार्यके रूपमें नहीं, उसे वह काम करना चाहिये।

4. 'ब' भांडार, बगीचे और अन्नागारका अध्यक्ष है और वह माताजीसे अपने लिये आदेश ग्रहण करता है अथवा स्वीकृतिके लिये अपनी व्यवस्थाकी रिपोर्ट उनके पास भेजता है—ठीक वैसे ही जैसे कि 'स' 'बी.डी.' (गृहनिर्माण-विभाग)में या 'द' भोजनगृहमें या 'ई' अथवा 'फ' अपने विभागोंमें करते हैं। इन विभागोंमें काम करनेवाले अन्य लोगोंके विषयमें ऐसा समझा जाता है कि वे अध्यक्षसे अपने लिये आदेश ग्रहण करेंगे और उसीके अनुसार काम करेंगे। परन्तु इसका कारण यह है कि कार्यमें अनुशासन और सुव्यवस्था बनाये रखनेके लिये यह आवश्यक है; इसका यह अर्थ नहीं है कि वह काम 'ब' का है या गृहनिर्माणका कार्य 'स' का है अथवा भोजनगृहका कार्य 'द' का है—सब माताजीका कार्य है और प्रत्येक आदमीके द्वारा, जैसे अध्यक्षके द्वारा वैसे ही अन्य लोगोंके द्वारा, वह उन्हींके लिये किया जाना चाहिये। यदि प्रत्येक कार्य-कर्त्ता स्वतन्त्र होने और सीधे माताजीके प्रति उत्तरदायी होने या अपने निजी ढंगसे कार्य करनेका आग्रह करे तो काम कराना सम्भव नहीं होगा; यह मनो-भाव बहुत फैला हुआ है और यही अधिकांश गोलमाल और अव्यवस्थाका कारण है। माताजी समस्त कार्यको स्वयं भौतिक रूपसे नहीं देख सकतीं और न प्रत्येक कार्यकर्त्ताको सीधे हुक्म दे सकती हैं, अतएव जो व्यवस्था की गयी है वह अनि-वार्य है। दूसरी ओर यह भी माना जाता है कि विभागका अध्यक्ष माताजीके निर्देशोंके अनुसार—अथवा जब वह स्वतन्त्र छोड़ दिया गया हो तब उन्हींके भावोंके अनुसार—कार्य करेगा, अन्यथा नहीं। अगर वह महज अपने ख्यालके अनुसार करता है या अपनी निजी व्यक्तिगत पसन्दगियों और नापसन्दगियोंका अनुसरण करता है अथवा अपनी व्यक्तिगत सन्तुष्टि या सुविधाके लिये अपने दायित्वका दुरुपयोग करता है तो उसके फलस्वरूप कार्यमें जो असफलता आयेगी या अनुचित मनोभाव उत्पन्न होगा या संघर्ष होगा या अस्तव्यस्तता या मिथ्या वातावरण उत्पन्न होगा उसके लिये वह उत्तरदायी होगा।

5. व्यक्तिगत रूपसे 'ब'के लिये या अन्य किसीके लिये (आश्रमके लिये नहीं) जो कार्य किया गया है वह माताजीके कार्यका अंग नहीं है और उसके साथ माताजीका कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि ऐसा कार्य करनेको कहा जाय, तो 'अ' यदि वह चाहे तो, उसे करे या यदि उसे अनुचित समझे तो न करे।

6. 'अ' को कम-से-कम एक कार्य सीधे माताजीने दिया है—वह है रसोई-घरके बर्तन धोना। वह उसे माताजीके निर्देशोंके अनुसार और खूब सावधानी तथा पूर्णताके साथ करे; उसके लिये यह दिखलानेका यह एक सुअवसर होगा कि वह क्या कर सकता है और बाकी चीजें उसके बाद देखी जायंगी।

7. वह 'ग' और 'ब' से भोजन या उपहार आदि स्वीकार करनेके लिये बाध्य नहीं है; यदि उसे यह पसन्द नहीं है तो वह इन चीजोंको क्यों लेता है? वह अस्वीकार करनेके लिये पूर्ण रूपसे स्वतन्त्र है। उसका यहां रहना तथा अन्य सभी बातें 'ब' पर निर्भर नहीं करतीं, बल्कि एकमात्र माताजीपर निर्भर करती हैं—अतएव उसे डरनेका कोई कारण नहीं।

8. अन्तमें, उसे अपने प्राणको अशान्ति तथा कामनाओंसे खाली कर देना चाहिये—क्योंकि उसमें, प्रत्येक मनुष्यकी तरह ही, वही उदासीका मूल कारण है और, यदि वह कहीं अन्यत्र और कहीं अन्य परिस्थितियोंमें होता तो भी उदासी अवश्य आती क्योंकि मूल कारण तब भी वहां होता। यहांपर यदि वह सम्पूर्ण रूपसे माताजीकी ओर मुड़ जाय, उनकी ओर खुले और उन्हींकी ओर मुड़े हुए कार्य करे और रहे तो वह छुटकारा और प्रसन्नता पा लेगा और ज्योति और शान्तिमें वर्द्धित होगा तथा अपनी समस्त सत्तामें भगवान्का बच्चा बन जायगा।

१९-३-१९३२

* * *

तुमने यह बहुत अच्छा किया है कि सब बातोंको कहकर साफ कर लिया है। निश्चय ही, यह सर्वथा सत्य है कि आन्तर सत्ताको माताजीकी ओर और केवल उन्हींकी ओर मोड़ना चाहिये।

जहांतक कार्यका सम्बन्ध है, अन्तर्विकास, चैत्य और आध्यात्मिक विकास, निश्चित ही, प्रथम महत्त्वकी वस्तु है और निरे कामके रूपमें काम एक सर्वथा गौण वस्तु है। परन्तु माताजीके प्रति अर्पणके रूपमें किया गया काम अपने-आपमें साधनाका एक भाग और अन्तर्विकासका एक साधन एवं अङ्ग बन जाता है। जैसे ही तुम्हारे अन्दर चैत्यका विकास होगा तुम इस बातको अधिक देख पाओगे। इसके अतिरिक्त, कार्य इसलिये भी महत्त्वपूर्ण है कि वह आश्रमके यथावत् चलते रहनेके लिये आवश्यक है, जो (आश्रम) यहां माताजीके कार्यका बाहरी ढांचा है।

'अ' जो व्यक्तियोंको महत्त्व देता है उसमें वह गलतीपर नहीं है। यह बिलकुल ठीक है कि इस समय जिन व्यक्तियोंके हाथमें कार्यका भार है वे यदि न रहें और उनके स्थानपर दूसरे हों तो भी काम चलता रहेगा, पर अधिकतर विभागोंमें वह बुरे ढंगसे चलेगा, या कम-से-कम आजकी अपेक्षा खराब, और इस बातका कोई भरोसा नहीं होगा कि वे दूसरे अध्यक्ष माताजी

की इच्छाके सक्षम यन्त्र ही होंगे। उदाहरणार्थ, 'क', 'ख', 'ग' जैसे व्यक्ति विभागोंके दायित्वका जो कार्य कर रहे हैं उसके लिये इन गुणोंका संयोग आवश्यक है — विशिष्ट क्षमता, व्यक्तित्व, नियन्त्रणकी शक्ति जिसे संगठन कहा जाता है और सबसे बढ़कर विश्वासपात्रता तथा माताजीकी इच्छाका अनुवर्तन, उनकी प्रत्यक्ष अनुभूतियोंमें श्रद्धा तथा उन्हें कार्यान्वित करनेकी इच्छा। आश्रममें ऐसे लोग बहुत नहीं जिनमें इन गुणोंका संयोग है। आजकल आश्रम-भोजनालय (Aroumé) और धान्यागार (granaries) में जो कार्य होता है उसे माताजीने जब 'क' के द्वारा सीधे अपने हाथमें लिया उससे पहले वहां गड़बड़घोटाला, अव्यवस्था, अपव्यय, असंयम, माताजीकी इच्छाकी अवहेलना — बस यही कुछ था। अब, यद्यपि अवस्था पूर्णतया निर्दोष होनेसे कहीं दूर है क्योंकि कार्य-कर्ताओंमें पूर्णता बिलकुल ही नहीं है, तथापि वह सब स्थिति परिवर्तित हो चुकी है। इस परिवर्तनमें, पाकशालामें तुम्हारी और अन्नागारमें 'घ' की उप-स्थितिने बहुत महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया है। माताजी कार्यकी जैसी व्यवस्था चाहती थीं उसे क्रियान्वित करना वहां तुम्हारी उपस्थितिके बिना कहीं अधिक कठिन होता और कार्यके इन दो भागोंमें तो वह असम्भव तक होता। 'भागवत इच्छा' वहां अवश्य विद्यमान है पर वह व्यक्तियोंके द्वारा ही कार्य करती है और एक तथा दूसरे यन्त्रमें बहुत अन्तर होता है — यही कारण है कि व्यक्तिका इतना अधिक महत्त्व हो सकता है।

* * *

निश्चय ही, मैं नहीं कह सकता कि इस पत्रमें तुमने जो विचार प्रस्तुत किये हैं वे सत्य हैं। वे उस भौतिक मनकी भ्रान्तियां हैं जो वस्तुओं-सम्बन्धी वास्तविक सत्यको कदाचित् ही पकड़ पाता है। यह तथ्य नहीं कि जब-जब तुमने माताजी-को 'अ'के बारेमें लिखा तब-तब हर बार माताजी तुमसे नाराज या गुस्से हुईं। इस प्रकारकी बात साधक माताजीके सम्बन्धमें सदा ही सोचते और कहते रहते हैं, कि वे अमुक कारणसे उनपर नाराज होकर गुस्से हो रही हैं या अमुक कारणसे उन्हें मुसकान दे रही हैं। और अपने इस विचार या कथनके जो कारण वे लोग बताते हैं वे उनके अपने भौतिक मनके सुझाये होते हैं, पर माताजीकी चेतनाकी किसी वस्तुसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि उनकी चेतनामें निरन्तर खुशी और नाराजगीके बुलबुले नहीं उठते रहते। यह बात साधकोंको समझानेके लिये मैंने बारंबार यत्न किया है, पर उन्हें यह मानना पसन्द है कि उनके अपने मन निर्भ्रान्त हैं और जो मैं कहता हूं वह असत्य है।

इसलिये मैं यही कहूँगा कि तुम्हारा विचार अशुद्ध है।

यह भी तथ्य नहीं कि तुम साधना नहीं कर सकते, क्योंकि कुछ समयतक तो तुम इसे कर ही रहे थे और अच्छी तरह कर रहे थे। परन्तु तुम्हारा स्थूल मन आड़े आया और वह तुम्हें भीतर जाने और रहने देनेके स्थानपर बाहर ले गया और बाहर ही रखनेका यत्न कर रहा है। यही कारण है कि मैं तुम्हें इस बातके लिये प्रेरित करनेका यत्न करता आ रहा हूँ कि तुम भीतर जाओ और भौतिक सत्ताके इन बाहरी विचारों और प्रतिक्रियाओंमें निवास मत करो जो साधनाको रोककर केवल कष्ट ही देते हैं।

यह सच नहीं कि माताजी चाहती हैं कि तुम 'अ' की कठपुतली बनो। जहांतक कामका प्रश्न है, यह बात जरा भी स्पष्ट नहीं कि जो कुछ तुम सोचते हो वह सब ठीक है और जो कुछ 'अ' करता है वह सब गलत। तुम अपने व्यक्तित्वकी बात करते हो और यह कहते प्रतीत होते हो कि 'अ' काममें अपने व्यक्तित्वको दूसरोंपर लादनेकी चेष्टा कर रहा है और तुम उसके विरुद्ध अपने व्यक्तित्वको स्थापित करना चाहते हो और माताजीको चाहिये था कि वे तुम्हारा समर्थन करतीं, पर वे तुम्हारे व्यक्तित्वका तनिक भी ख्याल न करके उसे 'अ' के व्यक्तित्वके अधीन कर देनेपर आग्रह करती हैं। परन्तु माताजी इस विषयपर जरा भी इस दृष्टिकोणसे नजर नहीं डालतीं, न वे किसीके व्यक्तित्वका ही ख्याल करती हैं। उनकी दृष्टिमें तो, लोगोंके व्यक्तित्वोंका, अर्थात् उनके अहङ्कारका काममें कोई स्थान नहीं होना चाहिये। वह तुम्हारा काम नहीं या 'अ' का काम नहीं, बल्कि भगवान्‌का काम है, माताजीका काम है, और उसे तुम्हारे विचारों या भावोंसे या 'अ' के विचारों या भावोंसे या 'ब' या 'स' या 'द' के या किसी औरके विचारों या भावोंसे नहीं, बल्कि माताजीकी उस दिव्य दृष्टि, अनुभूति एवं इच्छाशक्तिसे शासित एवं परिचालित होना चाहिये जो किसी मानवीय व्यक्तित्वको प्रकट नहीं करती (यदि वह करती तो इस आश्रमके अस्तित्वका औचित्य ही न होता), वरन् एक अधिक गहरी चेतनासे उद्भूत होती है। लगभग प्रत्येक व्यक्तिमें अपने निजी व्यक्तित्वकी, अपने ही विचारों, भावों आदिकी यह धारणा रही है और उसने उनपर ही आग्रह करनेकी थोड़ी-बहुत चेष्टा की है, और यह बात हमारे कामकी पूरी सफलता और समरसतामें भारी बाधक बनी है, यही अधिकतर कठिनाइयोंका और समस्त असामंजस्य एवं कलहका कारण रही है। हम चाहते हैं कि यह सब बन्द हो जाय; क्योंकि जब यह पूर्ण रूपसे बन्द हो जायगा तभी मतभेदों और उपद्रवोंके बन्द होनेकी कुछ सम्भावना होगी और यहांका कार्य उस प्रयोजनको अधिक अच्छी तरह पूरा करेगा जिसके लिये माताजीने इसकी सृष्टि की थी। इसी

कारण मैं तुम्हें अपने व्यक्तित्वको गौण स्थान देने, भगवान्‌के लिये कर्म करने, अपने निजी व्यक्तित्व एवं अहकारको तथा अपने विचारों एवं भावोंको महत्त्व-पूर्ण वस्तु मानकर उनपर आग्रह न करनेकी आवश्यकता समझानेका यत्न करता आ रहा हूँ। अब रहा यह प्रश्न कि काममें 'अ' के और तुम्हारे बीच क्या सम्बन्ध हो — यह मैं दूसरे पत्रमें लिखूँगा क्योंकि आज इससे अधिक समय नहीं है।

४-७-१९३७

पुनश्च — जब मैं यह कहता हूँ कि तुम गलतीपर हो या जब मैं तुमसे सहमत नहीं होता, तब तुम यह सोचते प्रतीत होते हो कि मेरे पत्र नाराजगी प्रकट करते हैं और कि मेरी तुमसे असहमतिका अर्थ यह है कि तुम जो मुझे अपने विचार लिखते रहते हो उसके कारण मैं तुमसे तंग आ गया हूँ; पर बात ऐसी नहीं है। यदि मैं तुम्हारी लिखी बातोंका उत्तर देता हूँ तो अवश्य ही वह तुम्हें यह बतानेके लिये होता है कि चीजोंको देखने और काम करनेका वह कौन-सा ढंग है जो मुझे और माताजीको ठीक प्रतीत होता है। वह किसी प्रकारकी नाराजगीको सूचित नहीं करता।

* * *

मैं नहीं समझता कि मैंने कहीं यह कहा था कि तुमने अपने काममें 'अ' के निर्देशोंके विपरीत कोई चीज की है। मैं तो, उसके काम करनेके ढंगकी आलोचना में तुमने जो लिखा था उसीके बारेमें कुछ कह रहा था, और विशेषकर मैं तुम्हारा यह विचार दूर करना चाहता था कि उसके निर्देशोंके अधीन काम करनेकी आवश्यकताका अर्थ है तुम्हारे व्यक्तित्वकी अवहेलना या माताजीकी तुम्हें 'अ' की कठपुतली बनानेकी इच्छा। जहां कोई बड़ा काम होता है जिसमें अनेकों आदमी मिलकर किसी ऐसे उद्देश्यके लिये कार्य कर रहे होते हैं जो सबका साझा होता है और किसीका व्यक्तिगत नहीं, वहां वह काम तबतक नहीं किया जा सकता जबतक कोई ऐसी नियत व्यवस्था न हो जिसके अन्दर प्रत्येक कार्यकर्तामें अधीनता और अनुशासनकी वृत्ति भी समाविष्ट हो। यह बात केवल यहीं नहीं सभी जगह ऐसी ही है। 'अ' को माताजीके अधीन कार्य करना, उनके निर्देशोंपर चलना, उनके दिये हुए विचारोंके अनुसार कार्य करना होता है। उन्होंने वे-कार्य सरणियां निर्धारित कर दी हैं जिनके अनुसार उसे कार्य करना होगा, और वह जो कुछ भी करे वह सब अवश्यमेव उन्हीं सरणियों-

पर आधारित होना चाहिये। वह उन्हें बदलनेके लिये या उसे दिये गये विचारोंके विपरीत कुछ करनेके लिये स्वतन्त्र नहीं। जहां वह कामके ब्योरोंके बारेमें कुछ-एक निर्णय करे वहां वे इन सरणियों और विचारोंके साथ संगत होने चाहियें। उसे सभी मामलोंमें माताजीको सूचना देनी एवं उनकी अनुमति लेनी होती है और उनके निर्णयोंको स्वीकार करना होता है। यदि माताजीके निर्णय उसके प्रस्तावोंके विपरीत हों अथवा क्या करना चाहिये इस विषयमें उसके अपने विचारोंके विरुद्ध हों तो भी उसे उन्हें स्वीकार कर कार्यान्वित करना होता है। यह धारणा गलत है कि भोजनालयका काम माताजीके नहीं वरन् उसके विचारोंके अनुसार चलता है। परन्तु यह सब केवल कामकी आवश्यकताके वश ही ऐसा किया जाता है, यह 'अ' के व्यक्तित्वकी अवहेलना नहीं। इसी प्रकार तुम्हें भी 'अ' के निर्देशोंके अनुसार चलना होगा क्योंकि माताजी ने उसे इस कामका भार सौंपा है और उसे यह अधिकार दिया है। भोजनालयके सभी कार्यकर्त्ताओंका दर्जा एकसमान है और ऐसा समझा जाता है कि वे उसके निर्देशोंका पालन करेंगे तथा अपने कार्यके विषयमें उसे सूचना देते रहेंगे, क्योंकि वह हर चीजके लिये माताजीके प्रति सीधे जिम्मेवार है और जबतक उसे यह अधिकार न हो, वह अपना दायित्व नहीं निभा सकता। इसी प्रकार पाकशालामें 'ब' को तुम्हारे निर्देशोंके अनुसार कार्य करनेके लिये कहा गया है क्योंकि तुम पाकशालाके अध्यक्ष हो। यह सब तुम्हारे व्यक्तित्व या 'ब' के व्यक्तित्वकी अवहेलना या 'अ' के व्यक्तित्वकी संस्थापना नहीं—यह तो केवल कार्यकी एक अनिवार्य व्यवस्था है जो इस व्यवस्थाके अभावमें निर्विघ्न सम्पन्न नहीं हो सकता। यही वह बात है जिसे, मैं चाहता था कि तुम समझ लो ताकि तुम यह देख सको कि क्यों माताजी यह चाहती थीं कि तुम ऐसा करो, किसी और कारणसे नहीं बल्कि कार्यकी आवश्यकताके वश और इसलिये भी कि वह निर्विघ्न सम्पन्न हो सके।

दूसरी ओर, क्योंकि तुम एक कार्यके अध्यक्ष हो और उसका क्रियात्मक संचालन तुम्हारे हाथोंमें है, अतः तुम्हें हर प्रकारका अधिकार है कि उसमें जो कोई भी कठिनाइयां आयें उन्हें 'अ' के सामने रखकर उनका हल पूछो। उधर, उसे बहुधा तुमसे सूचना पानेकी आवश्यकता होगी और यह जाननेकी आवश्यकता भी हो सकती है कि तुम्हारी समझमें क्या किया जाना चाहिये। किन्तु यदि वह सब जाननेके बाद भी वह, क्या करना चाहिये इस विषयमें तुम्हारे नहीं अपने विचारपर चलना ठीक समझे तो तुम्हें उसका कुछ ख्याल नहीं करना चाहिये। जिम्मेवारी उसीकी है और उसे, माताजीकी अनुमतिके अधीन, अपने ही ज्ञानालोकोंके अनुसार कार्य करना होगा। जब तुम उसे सूचना

दे देते और अपना विचार बता देते हो तो तुम्हारी जिम्मेवारी समाप्त हो जाती है। यदि उसका निर्णय गलत हो तो उसे बदलना माताजीका काम है।

मैं आशा करता हूँ कि मैंने सारी स्थिति स्पष्ट कर दी है। 'अ' के विचारोंसे सहमत होना तुम्हारे लिये आवश्यक नहीं, न ही इस कार्यके क्षेत्रसे बाहर तुम उसकी इच्छाके अनुसार कार्य करनेके लिये किसी प्रकारसे बाध्य हो। वहां तुम सर्वथा स्वतन्त्र हो। केवल इस कार्यमें ही यह एक व्यवहारगत आवश्यकता है — और यह है इस कार्यकी ही खातिर।

मैंने इतना अधिक इसलिये लिखा है कि तुम जानना चाहते थे कि माताजी तुमसे क्या करनेकी आशा करती हैं। इसका प्रयोजन तुमपर दबाव डालना नहीं, वरन् केवल कुछ चीजोंकी व्याख्या करना है और तुम्हें वह ढंग और कारण बताना है जिससे कि उन्हें करना आवश्यक है।

५-७-१९३७

* * *

जहांतक साधनाका प्रश्न है, यह बात ठीक नहीं कि कुछ लोग यहां केवल इसलिये हैं कि वे धन देते हैं और दूसरे इसलिये कि वे केवल काम करनेवाले हैं। सच बात यह है कि ऐसे बहुतसे लोग हैं जो अपने-आपको केवल कार्यके द्वारा ही तैयार कर सकते हैं, उनकी चेतना अभी अधिक प्रगाढ़ ढंगके ध्यानके लिये तैयार नहीं होती। परन्तु जो लोग शुरूसे ही तीव्र ध्यान कर सकते हैं उनके लिये भी कर्मके द्वारा साधना इस योगमें आवश्यक है। व्यक्ति केवल ध्यानसे ही इसके लक्ष्यपर नहीं पहुँच सकता। जहांतक तुम्हारी अपनी क्षमताका प्रश्न है, वह प्रत्यक्ष ही थी जब काफी लम्बे समयतक तुम्हारे अन्दर सक्रिय साधना चल रही थी। तथापि प्रत्येक मनुष्यकी क्षमता सीमित ही होती है — व्यक्तिकी केवल अपनी सामर्थ्यसे तो बहुत ही कम किया जा सकता है। भागवत शक्तिपर, माताजीकी शक्ति और ज्योतिपर निर्भरता और उसकी ओर उद्घाटन ही वास्तविक क्षमता है। यह तुम्हारे अन्दर कुछ समयतक थी, पर जैसा कि दूसरे बहुत-से लोगोंके साथ हुआ, यह भौतिक प्रकृतिके, पूरे बलके साथ, उभड़ आनेके कारण आच्छादित हो गई। इस प्रकारकी आच्छन्नता साधनाके इस सोपानमें प्रायः हर एक व्यक्तिमें आती है, पर वह स्थायी हो यह जरूरी नहीं। यदि भौतिक चेतना अपने-आपको खोलनेका दृढ़ निश्चय कर ले तो साधनामें प्रगतिके

लिये और किसी चीजकी जरूरत नहीं।

१०-७-१९३७

* * *

यदि तुम इसे पूरी तरहसे माताजीपर छोड़ दो तो वे तुमसे यही चाहेंगी कि तुमने अपने पत्रोंमें जो चीजें गिनायी हैं उनसे अपनेको क्षुब्ध या विचलित होने दिये बिना और अपने ही विचारों या प्राणिक भावोंपर आग्रह किये बिना तुम अपना काम जितना अधिक-से-अधिक अच्छी तरह कर सकते हो, करते चले जाओ। निःसन्देह यही वह नियम है जिसका अनुसरण सभीको करना चाहिये, अर्थात् यहां अपने कामको अपना नहीं, माताजीका काम मानकर करना; कार्यकर्त्ताको यह आग्रह नहीं करना होगा कि काम उसके विचारोंके अनुसार किया जाय; क्योंकि उसका अर्थ होगा कामको माताजीका नहीं अपना काम समझना। यदि कठिनाइयां और असुविधाएं हों, काम उस ढंगसे न किये जाते हों जो उसे पसन्द है, तो भी उन परिस्थितियोंके बीच वह अपना काम जितना अधिक-से-अधिक अच्छी तरह कर सकता है, उसे करते ही जाना चाहिये। यही है साधनाका नियम, बाहरी परिस्थितियोंकी बिलकुल परवाह न करना और व्यक्तिको जो कुछ करना होता है तथा जो कुछ वह कर सकता है वह सब शान्तभावसे करना और शेष सब कुछ माताजीपर छोड़ देना। यह मानते हुए भी कि जिसे वह ठीक समझता है वही सर्वोत्तम है, इसी क्षण हर वस्तुको निर्दोष रूपसे पूर्ण बना लेना सम्भव नहीं। आश्रममें तथा काममें ऐसा बहुत कुछ है जो वैसा पूर्ण नहीं जैसा माताजी उसे बनाना चाहेंगी, परन्तु वे यह भी जानती हैं कि जिस पूर्णताको वे पसन्द करेंगी वह परिस्थितियोंके कारण तथा उनके यन्त्रोंकी त्रुटिके कारण अभी सम्भव नहीं। इस समय जो सम्भव है उसके अनुसार वे सब चीजोंकी व्यवस्था अधिक-से-अधिक भलेके लिये करती हैं। कार्यकर्त्ताको अपना काम माताजीके प्रबन्ध एवं व्यवस्थाके अनुसार इसी भावनासे करना चाहिये और उसे अपने कामका उपयोग माताजीके प्रति भक्ति, आज्ञाकारिता और आत्मोत्सर्गके भावमें आध्यात्मिक दृष्टिसे विकसित होनेके साधनके रूपमें करना चाहिये तथा अपने आपेपर, अपने विचारों, भाव-भावनाओं और पसन्दगियोंपर आग्रह नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेमें समर्थ होना चेतनाको अतरनुभवके लिये तथा साधनामें प्रगतिके लिये तैयार कर देता है।

माताजी क्या चाहती हैं और वैसा क्यों चाहती हैं यह समझानेका मैंने यत्न किया है। वे चाहती हैं कि तुम उनका काम शान्त भावसे करो, सभी

असुविधाओं, त्रुटियों और कठिनाइयोंको शान्त भावसे देखो, और अपना काम भरसक यत्नसे करो; 'क्ष' जो कुछ करता या जो व्यवस्था करता है उससे तुम्हें क्षुब्ध नहीं होना चाहिये — यदि वह भूलें करता है तो उनके लिये माताजी-के प्रति उत्तरदायी है और तब क्या करना चाहिये यह देखना माताजी का काम है। बस, माताजी तुमसे यही चाहती हैं — यदि तुम ऐसा कर सको तो सब काम अधिक निर्विघ्न रूपसे चलेगा और वे उसे अधिक आसानीसे अपनी अभीष्ट दिशामें ले जा सकेंगी। जैसा कि मैंने तुम्हें समझानेकी चेष्टा की है, यह तुम्हारी अपनी साधनाके लिये भी सर्वोत्तम बात है।

५-७-१९३७

* * *

तुम्हें याद ही होगा कि मैंने तुम्हें पहले लिखा था कि माताजी चाहती हैं कि तुम शान्त रहो और इन चीजोंसे अपनेको विक्षुब्ध होने दिये बिना, वर्तमान परि-स्थितियोंमें जितनी अच्छी तरहसे काम कर सकते हो करो। आश्रममें जीवन और कर्मकी अवस्थाओंमें किसी भी प्रकारका सुधार इसपर निर्भर करता है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रगतिके लिये तथा भीतर सच्ची चेतनाकी ओर खुलनेके लिये यत्न करे, भीतर आध्यात्मिक तौरपर विकास करे तथा दूसरोंके दोषों या आचार-व्यवहारपर ध्यान न दे। बाहरी उपायोंसे किसी भी प्रकारका परि-वर्तन नहीं हो सकता; इसी कारण साधकोंके पारस्परिक संघर्षों और मतभेदोंमें बाहरी तौरपर हस्तक्षेप करना माताजीने दीर्घकालसे बन्द कर दिया है। हर-एकको अन्दरसे उन्नति करने दो और ऐसा होनेपर ही बाहरी कठिनाइयां या तो मिट जायंगी या फिर नगण्य रह जायंगी।

२१-४-१९३८

* * *

यह बिलकुल असम्भव है कि तुम्हें रसोईघरसे हटा दिया जाय और तुम्हारे स्थानपर कार्य करनेके लिये तुम्हारे दूसरे सहकारियोंको वहीं रहने दिया जाय। ऐसा हल तुम्हारे लिये बहुत खराब होगा; क्योंकि इसका अर्थ होगा कि तुम उस कामको खो बैठोगे जिसमें दीर्घकालसे माताजीकी शक्ति तुम्हारे साथ रही है, और तुम अपने कमरेमें अपने विचारोंको अपने साथ लिये बैठे रहोगे जो तुम्हारे लिये सहायक नहीं होगा, न तुम्हारी क्रियाशील प्रकृतिके ही अनुकूल

होगा। यह रसोईघरके लिये भी बहुत बुरा होगा; तुम्हारे स्थानकी पूर्ति वहां काम करनेवाले और किसी भी व्यक्तिसे नहीं हो सकती, वे व्यक्ति अपनी सीमाओंमें कितनी भी अच्छी तरहसे काम क्यों न करें—माताजीने तुम्हें जो उत्तरदायित्व सौंप रखा है वह उनमेंसे किसीके भी सुपुर्द नहीं किया जा सकता।

तुम्हें जो कठिनाइयां हैं वे वही है जो आश्रमके प्रत्येक विभाग और कार्यालय में हमारे सामने आती हैं। उनका कारण होता है साधकोंकी त्रुटियां, उनकी प्राणिक प्रकृति। तुम्हारा यह सोचना गलत है कि वे वहां तुम्हारी उपस्थितिके कारण पैदा होती हैं और कि यदि तुम वहांसे हट जाओ तो सब काम बिना विघ्नके चलने लगेगा। उनके अपने बीच भी वही-की-वही स्थिति चलती रहेगी, वही मतभेद, कलह, ईर्ष्या-द्वेष, कठोर शब्द, एक दूसरेकी कर्कश आलोचनाएं। 'अ' की या किसी औरकी तुम्हारे विरुद्ध शिकायतोंका कारण यह है कि तुम अपनी व्यवस्थामें दृढ़ और सावधान हो; 'ब' तथा अन्य जो साधक माताजी द्वारा सौंपे कामको अति सूक्ष्मता एवं सावधानताके साथ और सम्यक्तया संपादित करते हैं उनके विरुद्ध भी यही या ऐसी शिकायतें हैं। उनके विरुद्ध भी वही शिकायतें और ईर्ष्या-द्वेष देखनेमें आते हैं जिनका लक्ष्य रसोईघरमें तुम्हें बनाया जाता है और इनका कारण है उनकी पद-प्रतिष्ठा और उनके द्वारा उसका प्रयोग। 'ब' या दूसरे लोगोंके लिये, जिनपर माताजीको विश्वास है, यह कोई समाधान नहीं होगा कि वे कामसे पीछे हटकर अपना स्थान उनके लिये छोड़ दें जो अपना कर्तव्य कम बारीकी और सावधानीसे तथा कम अच्छी तरह करेंगे। तुम्हारे सम्बन्धमें तथा रसोईघरके कामके बारेमें भी यही बात है; यह कोई हल नहीं। हल तो केवल साधकोंके आचरणमें साधनाकी प्रक्रिया द्वारा लाये गये परिवर्तनसे ही हो सकता है। तबतक तुम्हें समझदारीके साथ धीरज रखना चाहिये तथा दूसरोंके अशुद्ध व्यवहारसे अपनेको क्षुब्ध नहीं होने देना चाहिये, बल्कि 'ब' और माताजीने तुमपर भरोसा रखकर तुम्हें जो सहारा दिया है उससे अपनेको संभाले रखकर अपना काम शान्तभावसे, भरसक अच्छे-से-अच्छे ढंगसे करते रहना चाहिये। यह माताजीका काम है और इसे करनेमें तुम्हें सहायता देनेके लिये माताजी वहां विद्यमान ही हैं; उसपर भरोसा रखो और शेष किसी भी वस्तुको अपने ऊपर प्रभाव न डालने दो।

१४-७-१९३५

* * *

तुम्हारे प्रति घृणाका भाव दर्शनेवाले लोगोंका तुमने जो वर्णन किया है उससे

मुझे विशेष रूपसे आश्चर्य हुआ है। 'अ' को जिसका यहां कोई प्रसंग ही नहीं, यदि छोड़ दिया जाय तो तुम्हारे साथ काम करनेवाला एक भी आदमी ऐसा नहीं जो साधनामें बहुत आगे बढ़ा हुआ हो या जिसे माताजी दूसरोंकी अपेक्षा अधिक विशेष रूपमें अपना समझती हों। निःसन्देह तुम उतने ही उनके अपने हो जितना पाकशालामें काम करनेवाला और कोई भी व्यक्ति; उन्होंने सदैव तुम्हें अपना बच्चा और नन्हां सितारा माना है और इससे अधिक कोई क्या हो सकता है? इसलिये मुझे इस बातका कोई कारण नहीं दीखता कि यदि कोई आदमी तुम्हारे साथ ठीक-से व्यवहार नहीं कर रहा तो तुम्हें इसका इतना ख्याल क्यों करना चाहिये। मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूं कि आश्रममें लोग अपनी बाह्य सत्तामें अहंकार और अयुक्त विचारों एवं अयुक्त चेष्टाओंसे अभी मुक्त नहीं हुए और यह बात उन लोगोंके बारेमें भी सत्य है जिन्हें आंतरिक अनुभूतियां होती हैं और जो कुछ खुले हुए हैं। किन्तु इस बातसे दुःखी या उदास होनेका कोई लाभ नहीं। तुम्हारे लिये आवश्यक कर्तव्य यह है कि तुम केवल माताजीकी ओर मुड़े रहो और उनपर भरोसा रखते हुए अपने काम और साधनामें शान्तभावसे आगे बढ़ते जाओ जबतक साधक इतना काफी जागरित और परिवर्तित नहीं हो जाते कि एक दूसरेके साथ कहीं अधिक समस्वरता और एकताकी आवश्यकता अनुभव करने लगें। तुम्हारे लिये केवल तुम्हारे आध्यात्मिक परिवर्तन और प्रगतिका ही महत्त्व होना चाहिये और इसके लिये माताजीकी शक्ति एवं उनकी कृपामें, जो तुम्हारे संग है, पूर्णरूपसे विश्वास रखो — अपने-आपको वस्तुओं या व्यक्तियोंसे चलायमान मत होने दो,— क्योंकि माताजीकी चेतनाकी पूर्ण ज्योतिकी और अन्तःस्थित सत्यकी तुलनामें इन वस्तुओंका कोई महत्त्व नहीं।

६-१२-१९३५

* * *

मुझे नहीं मालूम क्यों तुम यह कल्पना करते हो कि माताजी तुम्हारे पत्रके कारण तुमसे रुष्ट हैं। मैं समझता हूं मेरा उत्तर काफी कृपापूर्ण था और उसमें अप्रसन्नताकी जरा भी गन्ध नहीं थी। तुमने जो लिखा था उसमें से अधिकांशके बारेमें मैं मौन ही रहा, क्योंकि जब इस प्रकारके पत्र आते हैं तो मैं उन्हें इस रूपमें लेता हूं कि वे मनको हलका करनेके लिये लिखे गये हैं और जहांतक वे दूसरे लोगोंसे सम्बन्ध रखते हैं वहां तक मैं या तो सदा ही मौन रहता हूं या फिर यह कहता हूं कि साधकोंके दोषों, त्रुटियों और भूलोंसे छुटकारा पानेके

लिये हमें आन्तरिक चेतनाके विकासपर भरोसा रखना होगा। मौनका अर्थ यह नहीं कि उनमें ये दोष और भूलें हैं ही नहीं। बल्कि सभीमें नाना रूपोंमें दोष विद्यमान हैं तथा सभी भूलें करते हैं और श्रेष्ठ साधक भी उनसे मुक्त नहीं। मानवीय तरीका है भूल करनेवालेपर गुस्से होना, उसे डांटना-फटकारना तथा उसकी निन्दा करना और यदि माताजी वैसा नहीं करतीं तथा उसके प्रति कठोर नहीं होतीं तो यह सोचना कि वे अन्याय या पक्षपात करती हैं या अपने प्यारोंके दोष नहीं देखतीं या उनके प्रति जानबूझकर आंख मूँदती हैं। परन्तु माताजी उनके प्रति अन्ध नहीं; वे सभी साधकोंका स्वभाव अच्छी तरह जानती हैं, उनके गुणोंकी तरह ही उनके दोष भी, वे यह भी जानती हैं कि मानवकी प्रकृति कैसी है और ये चीजें कैसे आती हैं और कि इनके साथ निपटनेका मानवीय ढंग ठीक ढंग नहीं और उससे कुछ भी अन्तर नहीं आता। यही कारण है कि उनमें केवल कुछ-एक साधकोंके लिये नहीं बल्कि उन सभीके लिये धैर्य, प्रेम और उदारता है जो अपने काम या साधनामें सच्चे हैं।

यह भी विचित्र बात है कि तुम यह परिणाम निकालो कि वे तुम्हारी कोई कीमत नहीं समझतीं। शुरूसे ही माताजीकी तुमपर विशेष कृपा रही है; उन्होंने इतनी स्थिरतापूर्वक तुम्हारी सराहना और तुम्हारा समर्थन किया है कि लोगोंने उनपर तुम्हारे प्रति अन्धे पक्षपातका दोष लगाया है, ठीक वैसे ही जैसे वे 'अ' के सम्बन्धमें उनपर दोष लगाते हैं। जब तुम सुझावों और विद्रोहोंको लेकर कष्ट और कठिनाईमें थे तब वें तुम्हारे लिये मूर्तिमन्त प्रेम और धैर्य ही थीं और उन्होंने उस सबके बीच तुम्हें सहायता और सहारा दिया। उसके बाद जबसे तुम्हारी साधना खुलकर चलने लगी तबसे हम उत्सुकतापूर्वक उसकी देख-रेख करते आ रहे हैं,—मैं तुम्हारे पत्रोंके उत्तर लिखनेके लिये, तुम्हें जो जानना चाहिये उसका ज्ञान तुम्हें देनेके लिये, प्रेम और सतर्कताके साथ तुम्हें आगे ले चलनेका यत्न करनेके लिये प्रतिदिन समय लगाता रहा हूँ। यह सब किया ही क्यों जाता यदि हमें तुम्हारी कोई कदर न होती?

तुम ये बातें जानते हो परन्तु तुम्हारा स्थूल मन अतीव सक्रिय हो उठा है और उसने कुछ समयके लिये तुम्हारे बोधको आच्छादित कर दिया है। तुम्हें उससे पीछे हटकर अपनी अन्तःस्थ आत्मामें लौट आना होगा।

३०-८-१९३६

* * *

मैंने लिखा था कि तुम्हारा पत्र तुमपर पुरानी चेतनाके आक्रमणको दर्शाता

है क्योंकि उसमें यह स्वर गूंज रहा है "मैं इन चीजोंको नहीं सहनेका— मेरे लिये यहांसे चले जाना ही अच्छा है इत्यादि।" ये पुराने सुझाव हैं, न कि तुम्हारी आन्तरिक सत्ताकी अन्तर्वृत्ति जो यह थी — अपने-आपको दे देना और सब कुछ माताजीपर छोड़ देना तुम्हारी अन्तःसत्ताकी वृत्तिको विस्तृत होकर इन बाह्य वस्तुओंके प्रति तुम्हारी वृत्तिमें भी व्याप्त हो जाना होगा — यह जानते हुए कि जो कोई भी त्रुटियां हैं उन्हें प्रत्येक व्यक्तिको अपने अन्दर क्रिया करके वहांसे दूर करना होगा, ठीक वैसे ही जैसे तुम्हें अपनी न्यूनताएं माताजीकी सहायतासे और तुम्हारे भीतर उनकी क्रियासे अपने अन्दरसे दूर करनी हैं।

यह सब तो रहा तुम्हारे पिछले पत्रके सम्बन्धमें। अब इस नये पत्रके विषयमें — जो कुछ तुम देखते हो उसे कह देना तो बिलकुल ठीक है पर तुमने जो लिखा है उसमें तुमने एक निर्णय भी दिया है जो तुमने अपने देखे हुएके आधारपर किया है। ये निर्णय तुमने उन तथ्योंके वर्णनमें प्रकट किये हैं जिन्हें तुम 'क्ष' के अशुद्ध प्रेरक भाव, कार्य और भूलें समझते हो। तुमने अपने ये वक्तव्य और निर्णय माताजीके सामने रखे हैं — पर किसलिये? इसलिये न कि वे कुछ कार्रवाई कर सकें? किन्तु उसके लिये तो उन्हें अपने-आप निर्णय करना होगा, और ऐसा वे बिना तथ्योंके, बिना ठीक-ठीक तथ्योंके नहीं कर सकतीं — किसीके द्वारा दिये गये सामान्य वक्तव्यके आधारपर वे कोई कार्रवाई नहीं कर सकतीं। जिस व्यक्तिपर 'क्ष' अन्धवत् विश्वास करता है उसका नाम यदि बता दिया जाय तभी वे इस बारेमें निर्णय कर सकती हैं कि 'क्ष' उसपर विश्वास करनेमें गलती पर है या नहीं। यदि वह (क्ष) कुछ लोगोंकी बातपर तो ध्यान देता है और दूसरोंकी बातपर नहीं, तो माताजीको यह अवश्य पता लगना चाहिये कि ये लोग कौन हैं और वे परिस्थितियां क्या हैं जिनमें उसने ऐसा किया; केवल तभी वे निर्णय कर सकती हैं कि वह ऐसा करनेमें ठीक है या गलत। हर मामलेमें यही बात लागू होती है। 'क्ष' के विरुद्ध दूसरोंने भी अनेकों सामान्य वक्तव्य दिये हैं, पर जब कभी विवादमें विशेष ब्योरोंकी बात उठी है तो माताजीने देखा है कि उन्हें उसके निर्णयको केवल कभी-कभार ब्योरोंमें ही बदलनेकी जरूरत पड़ी, उसका किया हुआ सामान्य प्रबन्ध तो उन सरणियोंके अनुसार ही था जिन्हें श्रीमांने उसके लिये अनुसरणार्थ निर्धारित किया था। बात कहनेके ढंग, चरित्रके दोष, ब्योरोंके बारेमें निर्णय की भूलें — ये एक अलग विषय हैं। ये हर एकमें होते हैं और, जैसा कि मैं बहुधा कह चुका हूं, इन्हें अन्दरसे बदलना होगा; पर मैं बाहरी वस्तुओं, अमुक-अमुक कार्यों, काम करनेके किन्हीं विशेष तरीकोंके बारेमें कह

रहा हूँ। इन विषयोंमें उसके कार्यमें जिस बातकी शिकायत हो वह माताजीको ठीक-ठीक तथ्योंके साथ बतानी आवश्यक है। यदि तुम भोजनालय और रसोई-घर (Auroumé) के कामके बारेमें सामान्य शिकायत नहीं कर रहे, बल्कि विशेष रूपसे अपने सम्बन्धमें तथा अपने कामके बारेमें शिकायत कर रहे हो तो वहां भी, उसने क्या किया है या उसके काममें क्या चूक हुई है इसके सुनिश्चित तथ्य तुम्हें पहले प्रस्तुत करने होंगे, उसके बाद ही माताजी निर्णय कर सकती या कुछ कह या कर सकती हैं। तुम्हारे कामके या तुम्हारे बारेमें वह कौनसी बात है जो उसने माताजीको सूचित नहीं की या गलत रूपमें बतायी है? वे क्या सुविधाएं हैं जो उसने तुम्हें नहीं दीं।

यह सब मैंने इसलिये लिखा है कि तुम माताजीसे यह आशा करते दीखते हो कि वे कुछ करेंगी। पर उनके लिये यह जानना आवश्यक है कि वह चीज क्या है, उसका आधार क्या है और क्या वे कार्यको लाभ पहुँचाती हुई उसे कर सकती हैं या नहीं। भोजनालय और पाकशालामें अहंके झगड़े और उसकी टक्करें भरपूर रही हैं, पर उस सबको तो वे अपनी कार्रवाईके आधारके रूपमें स्वीकार नहीं कर सकतीं; इन चीजोंमें वे किसी एकका पक्ष नहीं लेतीं, न किसी दूसरेका विरोध ही करती हैं। उन्हें तो इस बातका विचार करना होता है कि कामके लिये क्या उचित या आवश्यक है।

३-१०-१९३६

* * *

तुम्हारे और 'क्ष' के बीच जो घटनाएं घटी हैं उनका तुमने जैसा वर्णन किया है उसके अनुसार वे सभी तुच्छ बातें हैं और दोनों ओरसे थोड़ी-सी सद्भावना एवं सदिच्छा उन्हें महत्त्वसे वञ्चित कर देनेके लिये और उनसे पैदा हो सकने-वाले किसी प्रकारके तनिक क्षोभपर विजय पानेके लिये पर्याप्त होनी चाहिये। झगड़े इस कारण हुआ करते हैं और बने रहते हैं कि प्रत्येक पक्ष यह सोचता है कि दूसरा गलतीपर है और उसने दुर्व्यवहार किया है; किन्तु प्राणिक कलहमें कोई भी पक्ष ठीक नहीं हो सकता। इस प्रकारसे झगड़नेकी बात ही दोनोंको गलत सिद्ध कर देती है। और फिर, यह ठीक नहीं कि व्यक्ति दूसरेसे शासित या नियन्त्रित होनेके बारेमें इतना संवेदनशील हो। विशेषकर काममें मनुष्यको ऐसे किसी भी व्यक्तिका नियन्त्रण स्वीकार करना ही होगा जिसे माताजी कार्य-भार सौंपती हैं,—पर केवल वहींतक जहांतक उस कामका सम्बन्ध है। दूसरे विषयोंमें वह, सम्बन्धोंको तोड़े बिना या किसी प्रकारका झगड़ा किये

बिना, अपनी उचित स्वतन्त्रता बनाये रख सकता है।

तुम्हारा काम या तुम्हारा निवासस्थान बदल देना, चाहे यह वर्तमान परिस्थितियोंमें सम्भव हो तो भी, कतई लाभदायक नहीं होगा। जिसे ठीक रखनेकी जरूरत है वह है अन्तर्वृत्ति, सामञ्जस्यके लिये संकल्प पूर्ण रूपसे स्थापित करना होगा। कार्यका परिवर्तन यथार्थ उपाय नहीं। घरमें अच्छे वायुमण्डल या बुरे वायुमण्डलका विचार भी एक ऐसी चीज है जिसे प्रश्रय नहीं देना चाहिये। मनुष्यको अपना निजी वायुमण्डल बनाना होगा जिसमें दूसरे प्रभाव प्रवेश ही न पा सकें और माताजीके साथ अन्तर्मिलन एवं घनिष्ठताके द्वारा वह ऐसा सदा ही कर सकता है।

२-१०-१९३५

* * *

तुमने जो लिखा है वह निःसन्देह ठीक है। कार्यकर्त्ताओंके मनमें ये बहुत ही गलत विचार हैं, यह मनोवृत्ति बिलकुल ठीक नहीं। परन्तु हमें काम साधकोंकी सन्तुष्टिके लिये नहीं करना वरन् असलमें इसलिये करना है कि वह माताजीका काम है, भगवान्‌का काम है, और अतएव उसे अच्छी तरह तथा ठीक ढंगसे करना है। यदि कार्यकर्त्ता तथा दूसरे लोग सन्तुष्ट नहीं होते तो भी उसे अच्छी तरह और ठीक ढंगसे करना है। जब उनकी प्रकृति बदलेगी और वे अपनी भूल देख पायंगें तब वे सत्यको पहचान कर अपनी मनोवृत्ति बदल लेंगे। कुछ लोगोंमें सदिच्छा है और उन्हें केवल अधिक साफ-साफ देखना सीखना हे और अपने मानसिक मिथ्या-निर्णयोंसे मुक्त होना है। दूसरे लोग अधिक तमोग्रस्त तथा अहंपूर्ण हैं और उन्हें ठीक सन्तुलन प्राप्त करनेमें अधिक समय लगेगा। जबतक वैसा नहीं हो जाता तबतक हमें शान्त दृढ़ता, दृढ़ निश्चय और महान् धैर्यके साथ आगे बढ़ते जाना होगा।

आश्रमका कार्य और माताजीका कार्य

अगर यह माताजीका कार्य नहीं है तो और किसका है? जो कुछ तुम करते हो उस सबको तुम्हें माताजीके कार्यके रूपमें ही करना चाहिये। आश्रममें होनेवाले सभी कार्य माताजीके हैं।

वे सभी कार्य, ध्यान, "वार्त्तालाप"*का पढ़ना, अंग्रेजी सीखना इत्यादि अच्छे हैं। तुम उनमेंसे किसी कार्यको उसे माताजीको उत्सर्ग करके कर सकते हो।

ध्यानका अर्थ है अपने-आपको माताजीकी ओर खोलना, अपनी अभीप्सा के ऊपर एकाग्र होना तथा क्रिया करने और अपनेको रूपान्तरित करनेके लिये अपने अन्दर माताजीकी शक्तिका आह्वान करना।

१८-९-१९३२

माताजीके द्वारा कार्यकी अनुमति देनेके कारण

हां, यह ठीक है। माताजी स्वयं भोजनके रूपमें भोजनकी परवा नहीं करतीं; परन्तु वह 'अ' को भेंटकी सामग्रीके रूपमें उसे तैयार करने देती हैं। कामके बारेमें भी यही बात है—यद्यपि कर्मका अपना निजी महत्त्व है। 'य' और 'ज' को कोई शारीरिक या व्यावहारिक बाहरी कार्य नहीं दिया गया है क्योंकि उस दिशामें उनकी शक्ति नहीं प्रवाहित हो सकती और न वे उसे कर सकेंगे—इस कारण नहीं कि सबके लिये स्थूल और व्यावहारिक कार्यकी शिक्षा देना अच्छा नहीं है। आदर्श परिस्थितियोंमें सत्ताकी बहुमुखी प्रवृत्ति ही सबसे उत्तम अवस्था होगी—परन्तु अभी भी यह सर्वदा व्यवहार्य नहीं है।

२६-९-१९३३

'कर्तव्यं कर्म' और माताजी द्वारा स्वीकृत कार्य

> प्र०– क्या यह कहा जा सकता है कि माताजी द्वारा स्वीकृत सभी कार्य "कर्तव्यं कर्म" हैं?

उ०– यदि साधकका प्रबल आग्रह हो या प्रबल इच्छा हो तो माताजी 'हां', या 'जैसा चाहो करो' कह सकती हैं अथवा जिस चीजकी प्रार्थना या मांगकी जाय उसे अपनी मंजूरी दे सकती हैं। परन्तु इससे वह चीज "कर्तव्यं कर्म" नहीं बन जाती, बल्कि महज एक ऐसी चीज होती है जिसे साधक कर सकता है। फिर, अगर कोई कार्य स्वार्थशून्य हो या आपत्तिजनक न हो और कोई व्यक्ति माताजीसे पूछे कि वह उसे कर सकता है या नहीं, और वे अनुमति

*Conversation with the Mother, जिसका हिन्दी अनुवाद 'मातृवाणी', प्रथम भाग है।—अनुवादक

दे दें तो भी वह उसे "कर्तव्यं कर्म" के पदपर नहीं उठा ले जाता।

३१-७-१९३७

* * *

प्र०– अबतक मेरा विश्वास यही था कि माताजी द्वारा स्वीकृत सभी कार्य माताजीके कार्य हैं और उनके लिये किया हुआ कार्य हमारा "कर्तव्यं कर्म" है। क्या ऐसा नहीं है? यदि कोई व्यक्ति अपने परिवार, देश और समाजके प्रति अपने सभी कर्त्तव्योंको छोड़ दे और सच्चाईके साथ केवल भगवान्के लिये, माताजीकी पूजाके रूपमें, कार्य करे तो क्या वह माताजीके लिये कार्य नहीं कर रहा है और क्या वह उसका "कर्तव्यं कर्म" नहीं है? बाहर इस बातका निर्णय करना कठिन हो सकता है, पर यहां, माताजीकी जीवन्त उपस्थितिमें, क्या यह एक सुनिश्चित तथ्य नहीं है? यदि नहीं, तो फिर "कर्तव्यं कर्म" का वास्तवमें क्या तात्पर्य है?

उ०– मुझसे पूछा गया था कि हमारे द्वारा किया हुआ ऐसा प्रत्येक कार्य, जिसके लिये माताजीकी आज्ञा हो, 'कर्तव्यं कर्म' है या नहीं। लोग विभिन्न कारणोंसे प्रेरित होकर अनगिनत चीजोंके लिये आज्ञा मांगते हैं—इसका मतलब यह नहीं है कि माताजी इन सभी चीजोंके लिये स्वयं अपनी इच्छाके अनुसार आज्ञा देती हैं। जो कार्य माताजीका दिया हुआ है वह उनका कार्य है—यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि जो कोई कार्य सच्चाईके साथ माताजीकी भेंटके रूपमें किया गया है वह भी उनका कार्य है। परन्तु 'कर्म' के अन्दर सभी प्रकारकी क्रियाएं आ जाती हैं, केवल कार्य ही नहीं।

३१-७-१९३७

माताजीके लिये प्रचार-कार्य

माताजी प्रचारको बहुत मूल्य नहीं देतीं, पर फिर भी उस तरहका कार्य उनका कार्य हो सकता है। केवल उसे आना चाहिये उनकी प्रेरणासे, किया जाना चाहिये शान्तिके साथ, नाप-तौल करके, जिस तरह वे चाहती हैं उस तरह। यह कार्य माताजीके संकल्पके साथ युक्त होकर आन्तर सत्ताके द्वारा किया जाना चाहिये, प्राणगत मनके उत्सुक आवेगके द्वारा नहीं। साधककी पहली

आवश्यकता है अपनी निजी आध्यात्मिक उन्नति और अनुभूतिके लिये सबसे अधिक एकाग्र होना — दूसरोंको सहायता करनेके लिये उत्सुक होनेसे मनुष्य आन्तरिक कार्यसे अलग हट जाता है। स्वयं आत्मामें वर्द्धित होना ही सबसे बड़ी सहायता है जो मनुष्य दूसरोंको दे सकता है, क्योंकि उस अवस्थामें कुछ चीज अपने-आप ही आसपासके लोगोंकी ओर प्रवाहित होती है और उनकी सहायता करती है।

९-४-१९३७

माताजीकी स्वीकृति और सफलताकी संभावनाएं

स्वीकृति या आज्ञा! लोगोंके दिमागमें यह घुस जाता है कि उन्हें गाना-बजाना चाहिये क्योंकि यह एक फैशन है अथवा उन्हें यह बहुत अधिक पसन्द है। और शायद माताजी भी इसकी अनुमति दे दें और वे कहें "बहुत अच्छा, कोशिश करो।" इसका यह मतलब नहीं है कि संगीतज्ञ — अथवा प्रसंगके अनुसार कवि या चित्रकार — होना उनके भाग्यमें लिखा है अथवा उनकी नियति है। सम्भवत: जो लोग प्रयत्न करते हैं उनमें एक खिल उठे और दूसरे झड़ जायं। 'अ' चित्रकारी आरम्भ करता है और आरम्भमें केवल काल्पनिक उत्साह दिखाता है, कुछ समय बाद वह अद्भुत कार्य कर दिखाता है। 'य' चतुरतापूर्ण सुगम चीजें करता है; एक दिन वह गहराईमें उतरने लगता है और एक घड़े जाते हुए भावी चित्रकारकी रूपरेखा दिखाई देने लगती है; दूसरे — खैर, वे प्रगति नहीं करते। परन्तु वे कोशिश कर सकते हैं — कम-से-कम वे चित्रकलाके विषयमें कुछ बातें तो सीख ही जायेंगे।

मई, १९३५

कार्यमें भूलोंके प्रति माताजीका मनोभाव

प्र०— कल माताजीने जो कुछ कहा उससे प्रतीत होता है कि काममें होनेवाली अपनी भूलोंको हमें कोई महत्त्व नहीं देना चाहिये और दूसरोंकी भूलोंकी ओर न तो ध्यान देना चाहिये न उन्हें सुधारना चाहिये। फिर, चूंकि भौतिक जगत् कई जगतोंमेंसे केवल एक जगत् है, सम्पूर्ण अभिव्यक्तिका केवल एक छोटा-सा भाग है, इसलिये क्या हमें भौतिक चीजों, भौतिक कार्य तथा उसके ब्योरोंको बहुत ही कम महत्त्व नहीं देना चाहिये?

उ०– माताजीका यह कहना था कि कार्यमें होनेवाली भूलोंको वे पूरी तरह जानती हैं, परन्तु उन सब चीजोंकी ओर, बाहरी बुद्धिसे नहीं बल्कि एक आन्तरिक दृष्टिसे देखते हुए उनके अन्दर एक विशिष्ट 'शक्ति' को उन्हें कार्यान्वित करना है और इसलिये वे प्रायः ही अपूर्णताओं और भूलोंकी उपेक्षा करना आवश्यक समझती हैं। पर इसका यह अर्थ हर्गिज नहीं है कि साधक-कार्यकर्त्ता जहां जिम्मेदार हो वहां वह इस बातकी परवा ही न करे कि उसके कार्यमें भूलें हैं या नहीं। अगर दूसरे साधक भूलें करें तो उसके लिये वे जिम्मेदार हैं, हम उन्हें देख सकते और स्वयं वैसी भूलोंसे बच सकते हैं, मगर एक साधक दूसरेकी भूलोंको तबतक नहीं सुधार सकता जबतक वह उसकी जिम्मेदारी न हो — प्रत्येक व्यक्तिको स्वयं अपने-आपको, अपने दोषों और भूलोंको सुधारना चाहिये।

हम यहां इस भौतिक जगत्में हैं, दूसरे जगतोंमें नहीं हैं, सिर्फ उनके साथ हमारा एक आन्तरिक सम्बन्ध है। हमारा जीवन और कार्य भी यहीं हैं, इसलिये भौतिक जगत् और चीजोंकी उपेक्षा करनेसे काम नहीं चल सकता, यद्यपि हमें आसक्ति और वासनाके द्वारा उनसे चिपकना और बंधना नहीं चाहिये। हमें दूसरे जगतों (लोकों) की प्रकृति और शक्तियोंका, जहांतक इस जगत्के साथ वे लोक सम्बन्धित हैं, ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और हम यहांके कार्यमें सहायता करने और उसे ऊंचा उठानेमें उनका उपयोग भी कर सकते हैं। फिर भी कार्यका क्षेत्र यहीं है, कहीं और नहीं।

२१-८-१९३६

बाहरी संगठन और भीतरी सामंजस्य

भूलें उन लोगोंके कारण आती हैं जो कार्यके अन्दर अपने अहंकार, अपने व्यक्तिगत भाव (पसन्दगी और नापसन्दगी), अपनी प्रतिष्ठा अथवा अपनी सुविधाके बोध, गर्व, अधिकार करनेकी भावना आदिको ले आते हैं। ठीक पथ है यह अनुभव करना कि कर्म श्रीमांका है — केवल तुम्हारा नहीं, बल्कि दूसरोंका काम भी — और उसे ऐसे भावके साथ सम्पन्न करना कि वहां एक साधारण सामंजस्य बना रहे। सामंजस्य केवल बाहरी संगठनके द्वारा ही नहीं लाया जा सकता, यद्यपि क्रमशः पूर्ण करनेवाले एक बाहरी संगठनकी भी आवश्यकता है; भीतरी सामंजस्य तो होना ही चाहिये अन्यथा संघर्ष और अव्यवस्था बराबर ही बनी रहेंगी।

* * *

प्र०— आपने लिखा है, "सामंजस्य केवल बाहरी संगठनके द्वारा ही नहीं लाया जा सकता...... भीतरी सामंजस्य तो होना ही चाहिये अन्यथा संघर्ष और अव्यवस्था बराबर ही बनी रहेंगी।" वह भीतरी सामंजस्य क्या है?

उ०— माताजीके अन्दर एकत्व

२१-४-१९३३

* * *

माताजीकी विजय मूलतः प्रत्येक साधककी अपने ऊपर विजय है। केवल उस दशामें ही कार्यका कोई बाहरी रूप सामंजस्यपूर्ण परिपूर्णतातक पहुँच सकता है।

१२-११-१९३७

* * *

इन चीजोंका उपाय है माताजीका अधिकाधिक चिन्तन करना और, माताजीसे पृथक् रूपमें, दूसरोंके तुम्हारे साथ सम्बन्धोंके बारेमें कम-से-कम सोचना। जिस प्रकार 'क्ष' यत्न कर रहा है उसी प्रकार तुम्हें भी दूसरोंसे माताजीके भीतर, माताजीके साथ अपनी एकताकी चेतनाके भीतर ही मिलनेका यत्न करना चाहिये, न कि किसी पृथक् व्यक्तिगत सम्बन्धमें। ऐसा करनेपर कठिनाइयां लुप्त हो जाती हैं और सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है—क्योंकि तब दूसरोंसे मिलनेका यत्न करके उन्हें प्रसन्न करनेकी आवश्यकता नहीं रहती —बल्कि दोनों या सभी माताजीके लिये अपने प्रेममें और उनके लिये अपने काममें मिलते हैं।

सबसे अधिक आवश्यक चीज

इस साधनाके लिये सबसे अधिक आवश्यक चीज है शान्ति, स्थिरता, विशेषकर प्राणके अन्दर—एक ऐसी शान्ति जो परिस्थितियों या पारिपार्श्विक अवस्थाओं के ऊपर निर्भर नहीं करती बल्कि एक उच्चतर चेतनाके साथ,—जो कि भगवान्‌की, श्रीमांकी चेतना है—आन्तर संस्पर्श बनाये रखनेपर निर्भर करती है। जिन लोगोंमें वह नहीं है अथवा जो उसे पानेकी अभीप्सा नहीं करते,

वे यहां आ सकते हैं और आश्रममें दस या बीस वर्षोंतक रह सकते हैं और फिर भी वे सदाकी भांति बेचैनी और संघर्षोंसे भरे रह सकते हैं—जो लोग अपने मन और प्राणको श्रीमांकी शक्ति और शान्तिकी ओर खोलते हैं वे अत्यन्त कठिन और दुःखदायी कार्य तथा अत्यन्त बुरी परिस्थितियोंमें भी उसे प्राप्त करते हैं।

अक्तूबर, १९३३

साधारण संग-साथ और नयी चेतनाके अन्दर एकता

आश्रमके सदस्योंके बीच साधारण कोटिका मानवीय संग-साथ हो, इस बातपर माताजीने जोर नहीं डाला है (यद्यपि सद्भाव, परस्पर सम्मान और शिष्टता बराबर ही रहनी चाहिये), क्योंकि वह हमारा उद्देश्य नहीं है; हमारा उद्देश्य है एक नयी चेतनामें एकत्व प्राप्त करना, और उसके लिये सबसे पहली चीज यह है कि प्रत्येक व्यक्ति उस नयी चेतनामें पहुँचने तथा उसमें एकता अनुभव करनेके लिये साधना करे।

३१-१०-१९३५

योगमें प्राणिक संबन्धोंके लिये कोई स्थान नहीं

इस योगका सारा मूलतत्त्व है अपने-आपको सम्पूर्ण रूपसे केवल भगवान्‌को ही दे देना, किसी और व्यक्ति एवं वस्तुको नहीं, और भगवती मातृशक्तिके साथ एकत्वके द्वारा अपने अन्दर विज्ञानमय भगवान्‌की समस्त विश्वातीत ज्योति, शक्ति, विशालता, शान्ति, पवित्रता, सत्य-चेतना और आनन्दको उतार लाना। अतएव इस योगमें दूसरोंके साथ प्राणिक संबन्धों या आदान-प्रदानोंके लिये कोई स्थान नहीं हो सकता; ऐसा कोई भी सम्बन्ध या आदान-प्रदान अन्तरात्माको तुरन्त ही निम्नतर चेतना और उसकी निम्नतर प्रकृतिके साथ बांध देता है, भगवान्‌के साथ सच्चे और पूर्ण एकत्वमें बाधा पहुँचाता है और अतिमानसिक सत्य-चेतनाकी ओर आरोहण तथा अतिमानसिक ईश्वरी शक्तिका अवरोहण इन दोनोंमें रुकावट डालता है।

* * *

माताजी इसके लिये दबाव डाल रही हैं कि कामवासनाकी कठिनाई साधकोंमेंसे

दूर हो जाय — क्योंकि वह बड़ी भारी बाधा है। इसलिये उसे हटना ही होगा।

२९-१०-१९३४

अन्दर रहना सीखना

अपने अन्दर माताजीके साथ रहना, उनकी चेतनाके साथ सम्पर्कमें रहना और दूसरोंसे केवल अपनी बाहरी स्थूल सत्ताके द्वारा ही मिलना तुम्हें सीखना होगा।

* * *

यदि ऐसा है तो बहुत सम्भवतः उसका कारण यह है कि तुम अपनी अन्तःसत्तासे बाहर रह रहे हो, अपनेको बाहरी सम्पर्कोंसे विचलित होने दे रहे हो। मनुष्य स्थायी ढंगका सुख तबतक नहीं प्राप्त कर सकता जबतक वह भीतर न रहने लगे। अपने-आपका, अपनी धारणाओं, पसन्दगियों, वेदनों और रुचियों-अरुचियोंका कुछ भी विचार किये बिना कर्म और क्रिया-चेष्टाको माताजीके अर्पण करना होगा, केवल उन्हींके लिये करना होगा। यदि व्यक्तिकी आंखें इन पूर्वोक्ति चीजोंपर गड़ी हों तो पग-पगपर वह मन या प्राणमें कुछ रगड़ अनुभव करेगा अथवा यदि ये अपेक्षाकृत शान्त हों तो शरीर एवं स्नायुओंमें। शान्ति और आनन्द तो केवल तभी स्थायी हो सकते हैं यदि वह भीतर माताजीके साथ रहे।

२-१-१९३७

* * *

यह बिलकुल ठीक है। किन्तु मैंने जो लिखा था वह केवल तुम्हारे लिये ही एक नियमके रूपमें नहीं नियत किया गया था। वह एक ऐसा नियम है जिसका पालन हर एकको करना चाहिये, 'क्ष' तथा अन्य प्रत्येक व्यक्तिको भी। क्योंकि जब कर्म और क्रिया-चेष्टा इस प्रकारसे, अपने व्यक्तिगत विचारों और व्यक्तिगत हृद्भावोंपर आग्रह किये बिना, अपने-आपका विचार किये बिना केवल भगवान्‌के लिये किये जाते हैं तभी कर्म पूर्ण रूपसे साधना बन पाता है और आन्तर तथा बाह्य प्रकृति सामंजस्य प्राप्त कर सकती हैं। इससे आन्तर सत्ताके लिये यह अधिक सम्भव हो जाता है कि वह बाहरी कार्यको अपने हाथमें लेकर

आलोकित करे और अपने पीछे स्थित माताजीकी-शक्तिसे सचेतन हो जाय जो उसे उसके कार्योंमें मार्ग दिखा रही है।

३-१-१९३७

* * *

समय-विभाग निश्चित करना सम्भव या वांछनीय नहीं — तुम्हें अपनी दिन-चर्या अपने-आप इस ढंगसे व्यवस्थित करनी होगी कि दिनका अच्छे-से-अच्छा उपयोग हो और फिर माताजीको सूचना दे देनी होगी कि तुम इसे कैसे करते हो।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है आन्तरिक तौरपर माताजीकी ओर और केवल उन्हींकी ओर मुड़े रहना, बहुत-सारे बाहरी सम्पर्कोंसे बचना इस कार्यमें सहायताके लिये ही आवश्यक है — किन्तु लोगोंके साथ सम्पर्कमात्रसे बचना न तो आवश्यक है न वांछनीय। आवश्यक है इन सम्पर्कोंको ठीक मनोवृत्ति और ठीक चेतनाके साथ ग्रहण करना, अपने-आपको बाहर नहीं फेंकना — उन्हें ऊपरी सतहकी चीजें समझना, उनमें किसी प्रकारसे भी आसक्त या अति-ग्रस्त न होना।

हां, निःसन्देह, वह एक आन्तरिक एकाग्रतापूर्ण अवस्था थी जिसमें तुम माताजीके साथ सम्पर्कमें आ सके। फूल सदा ही चेतनाके किसी भागमें उद्घाटन (सामान्यतया चैत्य उद्घाटन) को सूचित करते हैं।

२८-१०-१९३३

पूर्ण एकान्तवासके लिये माताजीकी अस्वीकृति

माताजी पूर्ण एकान्तवासकी भावनाको एकदम मंजूर नहीं करतीं। इससे संयम नहीं प्राप्त होता; केवल संयमका भ्रम होता है क्योंकि कुछ समयके लिये ही असुविधा उत्पन्न करनेवाले कारण दूर होते हैं। बाहरी वस्तुओंके संस्पर्शमें रहते हुए जो संयम स्थापित किया जाता है केवल वही सच्चा होता है। तुम्हें एक सुदृढ़ संकल्प और अभ्यासके द्वारा अन्दरसे उसी संयमको स्थापित करना चाहिये। अत्यधिक मिलने-जुलने और अत्यधिक बातचीतसे बचना चाहिये, पर पूर्ण एकान्तवास आवश्यक चीज नहीं है। इससे अबतक किसी भी आदमीको अपेक्षित फल नहीं प्राप्त हुआ है।

२७-११-१९३६

साधकोंके साथ व्यवहार करनेके माताजीके तरीकोंमें भेद

तुमने अपने गानेकी बात लिखी है। तुम अच्छी तरह जानते हो कि हम लोग उसे मंजूर करते हैं, और मैंने बराबर जोर दिया है कि तुम्हारे लिये उसकी और साथ ही तुम्हारी कविताकी भी आवश्यकता है। परन्तु माताजीने 'अ' के गानेकी एकदम मनाही कर दी है। अतएव तुम देखते हो कि संगीतके विषयमें कुछ लोगोंके लिये तो वे उदासीन हैं या उसे निरुत्साहित भी करती हैं, दूसरोंके लिये, जैसे 'ब', 'स' तथा अन्य लोगोंको उसकी अनुमति देती हैं। कुछ दिनोंतक उन्होंने सामूहिक वाद्यों (Concerts) को प्रोत्साहित किया, फिर पीछे उन्होंने उन्हें बन्द कर दिया। तुमने 'स'के लिये की गयी मनाही और सामूहिक वाद्योंको बन्द कर देनेसे यह सिद्धान्त निकाला है कि माताजीको संगीत पसन्द नहीं है अथवा भारतीय संगीत पसन्द नहीं है अथवा उनके विचारमें संगीत साधनाके लिये बुरा है, तथा उसी ढंगकी अन्यान्य नाना प्रकारकी अद्भुत मानसिक प्रतिक्रियाएं व्यक्त की हैं। माताजीने 'अ' को इस कारण मना किया कि जहां संगीत तुम्हारे लिये अच्छा था वहां वह 'अ' के लिये आध्यात्मिक विष था —ज्योंही उसने संगीत तथा श्रोताओंका विचार करना शुरू किया त्योंही उसकी प्रकृतिका सब प्रकारका भद्दापन और अनाध्यात्मिकता (अध्यात्मविरोधी भावना) ऊपर उठ आयी। तुम देख सकते हो कि वह अब उसके द्वारा क्या कर रहा है। फिर वही बात, यद्यपि थोड़े परिवर्तनके साथ, सामूहिक वाद्योंकी है। उन्होंने उन्हें इस कारण बन्द कर दिया कि उन्होंने देखा कि विरोधी शक्तियां वातावरणमें आ रही हैं, जिनका स्वयं संगीतसे कोई सम्बन्ध नहीं है, इसमें उनका उद्देश्य मानसिक नहीं था। ऐसे ही कारणोंसे वे 'द' की तरहके बड़े सार्वजनिक प्रदर्शनोंसे अलग हो गयीं। दूसरी ओर उन्होंने टाउन हालमें चित्रोंकी प्रदर्शनीका समर्थन किया और स्वयं उसकी योजना बनायी। अतएव तुम देखोगे कि यहां कोई मानसिक नियम नहीं है, बल्कि प्रत्येक प्रसंगमें पथप्रदर्शन आध्यात्मिक कारणोंसे निर्धारित होता है जो कठोर नहीं हैं। इसमें दूसरा कोई विचार नहीं, कोई नियम नहीं; संगीत, चित्रकला, कविता और दूसरी बहुतसी प्रवृत्तियां, जो मन और प्राणकी हैं, आध्यात्मिक विकास या कार्यके अंगके रूपमें और आध्यात्मिक उद्देश्यके लिये व्यवहृत हो सकती हैं: "यह उस मनोभावपर निर्भर करता है जिसके साथ ये चीजेंकी जाती हैं।"

यह बात स्थापित हो जानेपर, ये चीजें व्यक्तिके मनोभाव, उसकी प्रकृति, उसकी प्रकृतिकी आवश्यकताओं, अवस्थाओं और परिस्थितियोंपर निर्भर करती हैं।

* * *

माताजी हमारे अन्दर दिव्य सत्यके अनुसार और प्रत्येक स्वभावकी और प्रकृति-के प्रत्येक स्तरकी आवश्यकताके अनुसार साधना करती हैं। यह कोई सुनिश्चित पद्धति नहीं है।

१३-६-१६३३

* * *

बस, अपनी निजी उन्नतिकी ही बात सोचो और उस विषयमें माताजी तुम्हें जो पथ दिखाती हैं उसीका अनुसरण करो। दूसरोंको भी बस वैसा ही करने दो; श्रीमां उनकी आवश्यकता और उनकी प्रकृतिके अनुसार उन्हें पथ दिखाने और सहायता करनेके लिये मौजूद हैं। माताजी दूसरोंके साथ जो तरीका अपनाती हैं वह यदि तुम्हारे साथ अपनाये हुए तरीके से भिन्न या उलटा प्रतीत हो तो इससे कुछ भी नहीं आता-जाता। उसके लिये वही ठीक तरीका है जैसे कि यह तुम्हारे लिये ठीक है।

२५-१०-१६३२

* * *

माताजी बहुत अधिक तेज और चुभते हुए शब्दोंमें उन्हीं लोगोंको कुछ कहती या लिखती हैं जिन्हें वे तेजीसे योगमार्गमें आगे बढ़ाना चाहती हैं, क्योंकि वे इसके योग्य होते हैं, और वे दबाव और स्पष्टताके कारण न तो नाराज होते हैं न दुःखी, बल्कि प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वे अनुभवसे यह जानते हैं कि इससे उन्हें अपनी बाधाओंको देखने और उनमें परिवर्तन ले आनेमें सहायता मिलती है। यदि तुम तेजीसे उन्नति करना चाहो तो तुम्हें अभिमान, दुःख, आहत भाव, आत्मख्यापनके लिये तर्ककी खोज, मुक्त करनेके लिये दिये गये स्पर्शके विरुद्ध चिल्लाहट आदिकी इस प्राणगत प्रतिक्रियासे छुटकारा पाना होगा — कारण, जबतक ये सब चीजें तुम्हारे अन्दर हैं तबतक प्राण-प्रकृति द्वारा पैदा की हुई बाधाओंके ऊपर स्पष्ट और दृढ़ रूपमें कार्य करना हमारे लिये कठिन है।

तुम्हारे और 'अ' के बीचके भेदके विषयमें: माताजीने जो तुम्हें चेतावनी दी थी कि अत्यधिक बातचीत करना, अनाप-शनाप बातें और गप्पे हांकना, सामाजिक बातोंमें अपने-आपको बिखेर देना अच्छा नहीं, वह चेतनावनी पूरा माने रखती थी और अब भी ठीक है; जब तुम इन सब चीजोंमें संलग्न होते

हो तब तुम अपने-आपको एक बहुत तुच्छ और अज्ञानपूर्ण चेतनामें फेंक देते हो जिसमें तुम्हारे प्राणगत दोष खुले रूपमें कार्य करते हैं और इस कारण अपनी आन्तर चेतनामें तुमने जो कुछ विकसित किया है उसमेंसे तुम्हारे बाहर निकल आनेकी सम्भावना हो जाती है। इसी कारण हमने कहा था कि 'अ' के घर जानेपर तुमने यदि इन चीजोंके विरुद्ध एक प्रतिक्रिया अनुभव की थी तो वह तुम्हारे अन्दर—तुम्हारी प्राणिक और स्नायविक सत्तामें चैत्य वेदन-शीलताके आनेका चिह्न थी, और हमारा मतलब था कि वह सब अच्छेके लिये था। परन्तु दूसरोंके साथ व्यवहार करते समय, इन चीजोंसे अलग होनेके समय तुम्हें किसी श्रेष्ठताकी भावनाको अपने अन्दर नहीं घुसने देना चाहिये, न अपने व्यवहार या भावके द्वारा उनके ऊपर अस्वीकृति या दोषारोपणका भाव लादना चाहिये और न बदलनेके लिये उनपर दवाव ही डालना चाहिये। इन चीजोंसे जो तुम पीछे हटते हो यह तुम्हारी अपनी व्यक्तिगत आन्तरिक आवश्यकताके लिये है, बस इतना ही। जहांतक उनका प्रश्न है, इन विषयोंमें वे जो कुछ, सही या गलत, करते हैं वह या तो उनका अपना मामला है, या हमारा। हम उस समय उनके लिये जो आवश्यक और सम्भव समझते हैं उसीके अनुसार उनके साथ व्यवहार करेंगे, और इस उद्देश्यके लिये हम केवल विभिन्न लोगोंके साथ विभिन्न रूपोंमें ही व्यवहार नहीं करते, न सिर्फ यह कि एकको वह काम करने देते हैं जिसे दूसरोंके लिये मना किया करते हैं, बल्कि उसी मनुष्यके साथ विभिन्न समयोंपर विभिन्न रूपोंमें भी व्यवहार कर सकते हैं, आज वह चीज करने देंगे या उसके लिये उत्साहित भी करेंगे जिसके लिये कल मनाही कर देंगे...। मानव प्राणी और प्रकृतिके साथ ऐसे मानसिक नियमोंके द्वारा व्यवहार नहीं किया जा सकता जो प्रत्येक व्यक्तिके लिये एक समान लागू हों। अगर ऐसा होता तो फिर गुरुकी आवश्यकता ही न होती, प्रत्येक आदमी सैंडो (Sandow) के व्यायामके नियमोंकी तरह अपने सामने यौगिक नियमोंका अपना चार्ट (chart) रख लेता और जबतक पूर्ण सिद्ध नहीं हो जाता तबतक उनका अनुसरण करता रहता!

२५-१०-१९३२

* * *

प्र०— माताजी उन लोगोंसे मुँह मोड़ती नहीं दिखाई देतीं जो सच्चे नहीं हैं। बहुधा ही वे उन्हें उनकी इच्छानुसार कार्य करने देती हैं।

उ०— यह माताजीका कार्य है। केवल वही कह सकती हैं कि लोगोंके साथ व्यवहार करनेका कौन-सा तरीका ठीक है। यदि उन्हें मनुष्योंके दोषोंके अनुसार उनके साथ व्यवहार करना पड़े तो आश्रममें मुश्किलसे आधा दर्जन लोग रह जायंगे।

२६-३-१९३३

* * *

माताजी जो कुछ करती हैं वह साधककी भलाई और साधनाकी उन्नतिके लिये होता है।

९-१२-१९३५

* * *

> प्र०— प्राणिक सत्ताको हम यह कैसे समझा सकते हैं कि माताजी कभी पक्षपात नहीं करतीं?

उ०— एक उपाय है माताजीमें पूर्ण श्रद्धा रखना — दूसरा है यह विश्वास रखना कि वे तुमसे अधिक ज्ञानी हैं और जो कुछ भी वे करती हैं उसके लिये उनके पास ऐसे कारण अवश्य होंगे जो तुम्हारे मनके निर्णयोंसे अच्छे हों।

२२-३-१९३४

* * *

> प्र०— मेरा विश्वास है कि माताजी जो कुछ भी करती हैं उसका कुछ कारण होता है, और जो वे करती हैं वह हर एकको आवश्यकता के अनुसार होता है, किन्तु प्राण इसपर विश्वास नहीं करता, और मनमें भी यह बात अभी अच्छी तरहसे नहीं जम पायी। मनमें यह कैसे दृढ़तापूर्वक जम सकती है जिससे वह किसी भी प्रलोभनके आगे झुके नहीं?

उ०— यह उसमें जमनी चाहिये — बस इतना ही। जबतक प्राण और मन अपनेको माताजीसे अधिक बुद्धिमान् तथा उनके विषयमें निर्णय करनेके योग्य

समझते हैं तबतक तुम इन मूर्खताओंके लुप्त होनेकी कैसे आशा कर सकते हो?

२२-३-१९३४

* * *

प्र०— क्या भौतिक मन माताजीके व्यवहारोंको ठीक-ठीक समझ सकता है?

उ०— तबतक नहीं समझ सकता जबतक वह सच्ची चेतना और ऊपरसे आनेवाले ज्ञानसे आलोकित न हो जाय।

४-७-१९३६

माताजी द्वारा महाकालीकी पद्धतिका प्रयोग

ये सभी चीजें निर्भर करती हैं व्यक्ति, अवस्था और परिस्थितियोंके ऊपर। तुमने जिस पद्धतिकी बात लिखी है उसका अर्थात् महाकालीकी पद्धतिका उपयोग माताजी करती हैं —

1. उन लोगोंके लिये जिनमें उन्नति करनेकी महान् उत्सुकता होती है और जिनके प्राणतकमें, कहीं-न-कहीं मूलगत सच्चाई होती है;

2. उन लोगोंके लिये जिनके साथ वे घनिष्ठतापूर्वक मिलती हैं और जो, वे जानती हैं कि, उनकी कठोरतासे असन्तुष्ट नहीं होंगे या उसका गलत अर्थ नहीं समझेंगे अथवा यह नहीं मान बैठेंगे कि माताजीने उनकी ओरसे अपनी दयालुता या कृपा हटा ली है, बल्कि उसे सच्ची कृपा और अपनी साधनाके लिये एक सहायता स्वीकार करेंगे।

फिर दूसरे लोग हैं जो इस पद्धतिको बर्दाश्त नहीं कर सकते — अगर उसे जारी रखा जाय तो वे गलतफहमीके अन्दर हजारों मील दूर जा गिरेंगे, विद्रोह करेंगे और निराश हो जायेंगे। माताजी लोगोंके लिये बस यही चाहती हैं कि उन्हें अपने अन्तरात्माके लिये पूरा-पूरा सुयोग प्राप्त हो, फिर पद्धति चाहे छोटी और तेज हो या लम्बी और टेढ़ी-मेढ़ी। प्रत्येक मनुष्यके साथ उन्हें उसके स्वभावके अनुसार ही व्यवहार करना पड़ता है।

९-५-१९३३

* * *

यदि तुम माताजीकी डांट-डपटसे डरते हो तो तुम उन्नति कैसे करोगे? जो लोग शीघ्र उन्नति करना चाहते हैं वे महाकालीकी मारतकका स्वागत करते हैं, क्योंकि वह उन्हें अधिक तेजीके साथ योगमार्गपर धकेल ले जाती है।

* * *

प्र०— क्या माताजीके साथ ऐसा सम्बन्ध रखना सम्भव है जिसमें वे, मेरी भाव-भावनाओंका किसी भी प्रकारका विचार किये बिना, मेरी गलती सुधारने और मुझे यह बतानेमें अपनेको स्वतन्त्र अनुभव करें कि मुझे क्या करना चाहिये और क्या नहीं?

उ०— निश्चय ही, जब भागवत चेतना पूर्णतया उपलब्ध हो जायगी तब माताजी-की और साधककी इच्छामें कोई भेद नहीं रहेगा।

एक ऐसे सम्बन्धके स्थापित होनेके लिये जिसमें माताजी वैसा कर सकें जैसा तुमने कहा है, साधकको उनके महाकाली-रूपसे भयभीत नहीं होना होगा और केवल मधुरताकी ही मांग नहीं करनी होगी। उसे महाकालीके प्रहारोंको आशीर्वादके रूपमें ग्रहण करनेमें समर्थ होना होगा। उसे उनकी दिव्य दृष्टि, उनके निर्णय और वाणीमें भी विश्वास करना होगा अन्यथा जब वे उसके अहंको अप्रिय लगनेवाली कोई बात कहेंगी या करेंगी तो उसका अहं रूठ जायगा, अपना समर्थन करेगा और उन्हें गाली देगा इत्यादि, जैसी कि आश्रममें बहुतोंकी आदत है, जब माताजी उनकी पसन्दके अनुसार नहीं करतीं तो वे ऐसा ही करते हैं। ऐसे लोग यहां बहुत ही कम हैं जो इस वृत्तिको, अपूर्ण रूपमें ही सही, अपना सकें, परन्तु उन्हींके साथ ही माताजीका ऐसा सम्बन्ध होता है। दूसरोंके साथ, जिनकी प्रकृति इससे भिन्न है वे भिन्न रूपमें व्यवहार करनेके सिवा और कर ही क्या सकती हैं—क्योंकि उन्हें हर एकके साथ उसकी प्रकृतिके अनुसार ही व्यवहार करना होता है।

श्रीमांकी कार्यविधि

तुमने यह मांग पेश की है कि माताजीको प्रत्येक चीजके विषयमें योजना बनाकर तुम्हारे लिये एक कार्यक्रम निश्चित कर देना चाहिये जिसका तुम अवश्यमेव पालन करो; पर उस मांगको पूरा करनेमें कठिनाई यह है कि अधिकतर विषयों में श्रीमांका कार्य करनेका तरीका इसके एकदम विरुद्ध है। अत्यन्त भौतिक

विषयोंमें तुम्हें एक कार्यक्रम बनाना होता है जिसमें समयका ठीक-ठीक उपयोग किया जा सके, नहीं तो सब कुछ गोलमाल और अनिश्चयताका एक सागर बन जाता है। भौतिक वस्तुओंकी व्यवस्थाके लिये भी बंधे-बंधाये नियम बनाने पड़ते हैं जबतक कि लोग इतनी काफी मात्रामें विकसित न हो जायं कि बिना नियमके ही वे ठीक-ठीक ढंगसे उनके साथ व्यवहार कर सकें। परन्तु जिन सब चीजोंके विषयमें तुमने लिखा है वे एकदम भिन्न हैं; उनका सम्बन्ध तुम्हारे अपने आन्तर विकाससे, तुम्हारी निजी साधनासे है। सच पूछा जाय तो बाहरी चीजोंके विषयमें भी श्रीमाताजी अपने मनके द्वारा कोई योजना नहीं बनातीं और जो कुछ करना है उसका कोई मानसिक नक्शा और नियम नहीं बनातीं; वे बस यह देखती हैं कि प्रत्येक मनुष्यके लिये क्या करना उचित है और फिर प्रत्येक मनुष्यके स्वभावके अनुसार उसे व्यवस्थित और विकसित करती हैं। और आन्तरिक विकास और साधनाके विषयमें तो यह और भी अधिक असम्भव है कि पूरे-पूरे ब्योरेके साथ एक सुनिश्चित योजना तैयार कर ली जाय और यह कहा जाय कि "सर्वदा तुम यहां, वहां, इस ढंगसे पैर रखना अथवा यही लकीर है और दूसरी कोई नहीं।" तब तो चीजें इतनी अधिक बंध जायंगी और कठोर हो जायंगी कि कुछ भी करना सम्भव नहीं होगा; कोई भी सच्ची और उपयोगी क्रिया नहीं हो सकेगी।

अगर श्रीमांने तुमसे यह कहा था कि तुम उन्हें प्रत्येक बात बतलाते रहना तो यह इसलिये नहीं कहा था कि वे प्रत्येक ब्योरेके साथ तुम्हें निर्देश देती रहेंगी और तुम्हें उसे मानकर चलना होगा। यह तो इसलिये कहा गया था कि, इससे एक पूर्ण घनिष्ठता उत्पन्न हो सकेगी जिसमें तुम उनकी ओर सम्पूर्ण रूपसे उद्घाटित होंगे और इस तरह वे तुम्हारे अन्दर अधिकाधिक और लगातार तथा प्रत्येक मौकेपर भागवत शक्ति ढाल सकेंगी जो तुम्हारे अन्दर ज्योति बढ़ायेगी, तुम्हारे कार्यको पूर्ण बनायेगी, तुम्हारी प्रकृतिको मुक्त और विकसित करेगी। बस यही बात महत्त्वपूर्ण है; अन्य सब चीजें गौण हैं; केवल उतने ही अंशमें महत्त्वपूर्ण हैं जितने अंशमें वे इस बातमें सहायता करती अथवा बाधा डालती हैं। इसके अतिरिक्त, यह बात उन्हें इस विषयमें सहायता करेगी कि जहां कहीं आवश्यकता हो वहां वह आवश्यक निर्देश, आवश्यक सहायता या चेतावनी दे सकें, अवश्य ही बराबर शब्दोंके द्वारा नहीं, बल्कि अधिकांशमें मौन हस्तक्षेप और दबावके द्वारा। यही उन लोगोंके साथ उनका कार्य करनेका तरीका है जो उनकी ओर खुले हुए हैं; यह कोई जरूरी नहीं है कि प्रत्येक मुहूर्त्त और प्रत्येक ब्योरेमें साफ-साफ हुक्म दिया जाय। विशेषकर, अगर चैत्य चेतना उद्घाटित हो और साधक पूरी तरह उसमें निवास करता

हो तो वह तुरत सूचनाएं पकड़ लेती, चीजोंको स्पष्ट रूपमें देखती और सहायता, हस्तक्षेप, आवश्यक निर्देश या चेतावनीको ग्रहण करती है। वास्तवमें यही बहुत अधिक मात्रामें उस समय हो रहा था जब कि तुम्हारी चैत्य चेतना खूब सक्रिय थी, परन्तु तुम्हारे प्राणका एक भाग ऐसा था जिसमें तुम खुले हुए नहीं थे और जो बार-बार ऊपर उठ आता था, और बस इसीने गोलमाल और उपद्रव उत्पन्न किया है।

प्रत्येक चीज आन्तरिक अवस्थापर निर्भर करती है, और बाहरी क्रिया आन्तरिक अवस्थाको प्रकट या पुष्ट करने और उसे सक्रिय और फलदायी बनानेके लिये केवल एक साधन और सहायताके रूपमें ही उपयोगी होती है। अगर तुम कोई चीज ऊर्ध्वतम चैत्य चेतनासे अथवा ठीक-ठीक आन्तरिक स्पर्श बनाये रखकर करो या कहो तो वह फलोत्पादक होगी; अगर तुम उसी चीजको अपने मनसे या प्राणसे या किसी अनुचित या मिश्रित वातावरणमें करो या कहो तो वह बिलकुल बेकार हो सकती है। किसी उचित कार्यको प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक मुहूर्त्तमें उचित ढंगसे करनेके लिये मनुष्यको यथार्थ चेतनामें रहना होगा — उसे कोई ऐसे कठोर मानसिक नियमका अनुसरण करके नहीं कर सकता किसी परिस्थितिमें तो ठीक निकले और दूसरी परिस्थितिमें एकदम बेकार साबित हो। एक साधारण सिद्धान्त निश्चित किया जा सकता है अगर वह सत्यके साथ मेल खाता हो, पर उसके व्यवहारका निर्णय तो आन्तर चेतनाके द्वारा पग-पगपर यह देखते हुए ही करना होगा कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। अगर चैत्य पुरुष सबसे ऊपर हो, अगर पूरी सत्ता सम्पूर्ण रूपसे श्रीमांकी ओर मुड़ी हो और चैत्य पुरुषका अनुसरण करती हो तो फिर अधिकाधिक मात्रामें ऐसा किया जा सकता है।

अतएव सब कुछ साधनामें अनुसरण करने योग्य किसी मानसिक नियम पर निर्भर नहीं करता, बल्कि चैत्य चेतनाको फिरसे प्राप्त करने और उसकी ज्योतिको इस प्राणमय भागपर डालने और उस भागको पूर्णतः श्रीमांकी ओर मोड़ देनेपर आश्रित है। बात यह नहीं है कि 'अ' के पास तुम्हारे बहुत अधिक जाने का प्रश्न कोई महत्त्व नहीं रखता — वह काफी महत्त्वपूर्ण है — पर सम्पर्क सीमित करना केवल तभी उपयोगी है जब कि पुरानी गतिविधियोंकी इस दासतासे दूर हटनेमें तुम अपने इस प्राण-भागको सहायता देनेका उसे एक साधन बनाओ। यह एक ही बात सर्वत्र लागू होती है।

जिस प्रकारकी बाहरी आज्ञाकारितापर तुम जोर देते हो और प्रत्येक ब्योरेमें एक निर्देश चाहते हो — वह सब आत्मसमर्पणका मूल स्वरूप नहीं है, यद्यपि आज्ञाकारिता आत्मसमर्पणका स्वाभाविक फल और बाहरी शरीर

है। आत्मसमर्पण भीतरसे होता है और उसके लिये मन, प्राण और शरीरको, सबको माताजीकी ओर खोल देना और उन्हींको दे देना होता है ताकि वे उन्हें अपनी निजी वस्तुके रूपमें ग्रहण करें और उन्हें उनके उस सच्चे स्वरूपमें फिरसे गढ़ सकें जो कि भगवान्का एक अंश है; बाकी सब चीजें इसके परिणामस्वरूप आती हैं। उस समय प्रत्येक ब्योरेमें उनसे कोई बाहरी सन्देश या आज्ञा मांगनेकी आवश्यकता न होगी, सारी सत्ता ही उनकी इच्छाके अनुसार अनुभव करेगी और कार्य करेगी; उनकी अनुमति उस समय बस उस आन्तर एकत्वके ऊपर, उनकी इच्छाकी ग्रहणशीलता और आज्ञाकारिताके ऊपर मुहर-छापके रूपमें ही मांगी जायगी।

११-६-१९३२

सत्यके प्रति माताजीका आदरभाव

यह बात माताजीके कानोंमें पहुँची थी कि 'क्ष' ने उनके कमरेमें तुम्हारे काम करनेके विषयमें आपत्ति की थी, परन्तु उन्होंने उसे यह कहकर टाल दिया कि उसका कोई महत्त्व नहीं हो सकता। उस आपत्तिका माताजीके निर्णयके साथ कोई सम्बन्ध नहीं; वह निर्णय तो उससे एकदम स्वतन्त्र अन्य कारणोंसे किया गया था।

झूठ झूठ ही है उसे चाहे जो भी बोले। अन्य लोग जो कुछ समझते या कहते हैं उसे यदि तुम मूल्य देने लगो और माताजीकी किसी क्रियाके बारेमें उन लोगोंके बताये हुए उद्देश्यको तो सच मानो और अपने उद्देश्यके विषयमें कही हुई माताजीकी बातको असत्य मानो और किसी दूसरेकी बातको, जो सचको जान ही नहीं सकता, पक्का और सच्चा समझो और उसके आधारपर माताजीपर स्पष्टवादिताके अभावका दोषारोपण करो तो क्या उससे उत्पन्न कठिनाईके लिये हम दोषी हैं? यह प्रश्न वक्तव्यों या साधकोंकी व्याख्याओं, या अपने मनकी जल्दबाजी-भरी मान्यताओं या अनुमानों, या आवश्यक सूचना प्राप्त किये बिना अपने प्राण-पुरुषके वेदनोंपर विश्वास रखनेकी अपेक्षा कहीं अधिक माताजीपर विश्वास रखनेका है। यदि तुम इस स्वभावसे छुट्टी पा जाते तो सारी बातें बहुत अधिक आसान हो जातीं।

१५-५-१९३६

* * *

प्र०— भला आपकी यह सूक्ति "झूठ झूठ ही है" सबपर कैसे लागू हो सकती है? यह केवल उन्हींपर लागू हो सकती है जो नैतिक तथा सामाजिक विधि-विधानोंसे बंधे हैं, अथवा एक सिद्धान्तके रूपमें यह तभी लागू हो सकती है यदि झूठ बोलनेका उद्देश्य ही बुरा हो। यदि कोई उच्चतर उद्देश्य किसी चीजको छुपाने या शब्दों द्वारा गलत रूपमें प्रस्तुत करनेकी मांग करता है तो मैं उसे शायद ही झूठ कहूँ। उद्देश्य और आधार पूर्ण रूपसे अतिमानवीय हैं और वे उपर्युक्त श्रेणीमें नहीं आ सकते। मैं समझता हूँ श्रीकृष्ण सदा ठीक-ठीक सत्य बात नहीं कहा करते थे और उनकी आधी-झूठी बातें उनकी कहानियां सुननेवाले सभी लोगोंमें सदा समझ-दारीकी मुसकराहट पैदा करती हैं।

उ०— यदि माताजी कोई काम एक कारणसे करें और उससे एकदम भिन्न कारणसे, जो सचमुच उनका कारण नहीं था, उसे किया हुआ बतलावें तो मैं यह नहीं समझ पाता कि यह बात मिथ्यापनके अतिरिक्त और दूसरी चीज कैसे हो सकती है। कोई अतिमानवोचित उद्देश्य मिथ्यापनका मिथ्यापन होना दूर नहीं कर सकता। और फिर, तुम यदि सचमुच यह विश्वास करो कि भगवान् जो बात सत्य नहीं है उसे, उसके झूठ हुए बिना, कह सकते हैं और ऐसा करना भगवत्ताका एक अंग है, तो फिर जब तुम यह समझते हो कि माताजी ने ऐसा किया है तब भला तुम नाराज क्यों हो जाते हो, जिसे तुम अपने प्रति किया गया उनका अन्याय और कपटपूर्ण व्यवहार समझते हो उसके लिये तुम दुःखी और क्रुद्ध क्यों होते हो और यह रोना क्यों रोते हो कि उन्हें साफ-साफ कहना चाहिये था अदि-आदि? उसके बदले बल्कि तुम्हें यह समझना चाहिये था कि वे अतिमानवोचित उद्देश्योंसे ऐसा कर रही हैं और जो कुछ वे करें उसे प्रसन्नतासे स्वीकार करना चाहिये था। कम-से-कम ऐसी अवस्थामें यही न्यायसंगत बात मालूम होती है।

तुमने स्पष्ट ही इस बातको अपना आधार बनाया है कि भागवत चेतना अच्छाई और बुराईसे ऊपर है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वह तटस्थ रहकर बुरा और भला किया करती है। इसका बस यही अर्थ हो सकता है कि वह एक ज्योतिके द्वारा कार्य करती है और वह ज्योति मानवचेतनाके उस स्तरके परे होती है जो इन चीजोंके विषयमें मानवीय मानदण्ड निश्चित करता है। मनुष्य जिस बाहरी अच्छाईका अनुसरण करता है उससे कहीं महान् अच्छाईके लिये और उसके द्वारा वह कार्य करती है। फिर मनुष्य

जिस सत्यकी कल्पना करते हैं उससे कहीं अधिक महान् सत्यके अनुसार वह कार्य करती है। यही कारण है कि मनुष्यका मन भागवत कर्म और उसके उद्देश्योंको नहीं समझ सकता — उसे सबसे पहले एक उच्चतर चेतनामें ऊपर उठना चाहिये और भगवान्‌के साथ आध्यात्मिक सम्पर्क या एकत्व प्राप्त करना चाहिये। परन्तु इस बातको यदि कोई स्वीकार करे तो फिर वह अपने मानवीय मन द्वारा और अपने मानवीय दृष्टिकोणसे भागवत कार्यका विचार नहीं कर सकता। ये दोनों बातें एकदम असंगत होंगी।

परन्तु यह किसी ऐसी व्याख्याके अधीन नहीं आता। झूठे उद्देश्यका दोषा-रोपण करना किसी महत्तर सत्य और चेतनाका कार्य नहीं हो सकता। मौन रहना और अपने उद्देश्यको प्रकट न करना एक बात है — यह कहना कि मैंने उस उद्देश्यसे काम नहीं किया जब कि वास्तवमें मैंने वैसा ही किया, मौन नहीं है। वह मिथ्यापन है। यह विषय नैतिक दृष्टिसे नहीं वरन् आध्यात्मिक दृष्टिसे महत्त्व रखता है। माताजी सत्यका पूरा ख्याल रखती हैं और उन्होंने बराबर ही यह कहा है कि असत्य-भाषण और मिथ्याचार सिद्धिके मार्गमें भीषण बाधा उत्पन्न करते हैं। फिर भला वे स्वयं ऐसा कैसे कर सकती हैं?

कृष्णकी कही कोई असत्य या अर्द्ध-सत्य बात मुझे याद नहीं, इसलिये उस विषयपर मैं कुछ नहीं कह सकता। परन्तु महाभारत या भागवतके अनुसार उन्होंने ऐसा किया भी हो तो हम लोग न तो उस लेखसे और न उस आदर्शसे ही बंधे हुए हैं। मैं समझता हूँ राम और बुद्धने कोई झूठ बात नहीं कही।

१७-५-१९३६

* * *

यदि इस बन्धनसे तुमने अपनेको मुक्त कर लिया है तो यह अच्छा ही है। सत्यके प्रति प्रेम होना दिव्य गुण है, परन्तु इस तरहका सत्य बहुत मिलावटी माल होता है और उसके साथ कठोरता या भीषण क्रोध लगा होता है। सत्य उच्चारित शब्दके साथ अंधभावसे दृढ़ बने रहनेपर आग्रह नहीं करता — उदाहरणार्थ, एक आदमीको यह धारणा हो जाती है कि दूसरे आदमीने उसके प्रति घोर अपराध किया है और वह दूसरेसे कहता है कि वह उसे मार डालेगा और पीछे जब वह जान लेता है कि दूसरा निर्दोष है और उसने कोई अपराध नहीं किया तो भी वह अपने वचनको कार्यान्वित करता है। यदि कहे हुए शब्दपर अक्षरशः दृढ़ बने रहनेको सिद्धान्तके रूपमें ठीक-ठीक ग्रहण किया जाय तो उसका यही मतलब होगा। परन्तु सत्य, इसके विपरीत, यह मांग करता

है कि मनुष्य केवल वस्तुओंमें विद्यमान सत्यके तत्त्वसे ही चिपका रहे, और, ऊपरके उदाहरणमें, सत्यके तत्त्वकी मांग यह होगी कि उसे अपना प्रण तोड़ देना चाहिये, उसे पूरा नहीं करना चाहिये। यदि कोई मनुष्य ऐसी किसी चीजकी प्रतिज्ञा करे जो प्रेम और करुणाके तत्त्वके विरुद्ध हो, या भगवान्‌के प्रति आज्ञा-कारिता और समर्पणके भावके विरुद्ध हो तो उस प्रतिज्ञाका पालन करना सत्य नहीं है—क्योंकि वह तो मिथ्यापनका अनुसरण करनेकी प्रतिज्ञा होगी—और भला सत्यको मिथ्यापनका भक्त कैसे बनाया जा सकता है? वह तो दिव्य नहीं बल्कि आसुरिक सत्यवादिता होगी।

माताजीका जहांतक प्रश्न है, उनके अन्दर एक बार बनायी हुई व्यवस्थाके प्रति इस प्रकारकी अन्धी आसक्ति नहीं पायी जाती। उदाहरणार्थ, यदि उन्होंने किसी कहा कि दूसरी बार यदि तुम किसी भी रूपमें काम-वासनाके शिकार हुए तो तुम्हें आश्रम छोड़कर चले जाना पड़ेगा, और यदि वह आदमी शिकार हो गया पर उसने पश्चात्ताप किया तो हो सकता है कि वे भी नर्म हो जायं और अपनी धमकीके अनुसार कार्य करनेका आग्रह न करें। लोगोंसे मिलनेकी जो बातें हैं वे कोई प्रतिज्ञाएं, शर्त्तनामे या निश्चित कार्यक्रम नहीं हैं,—वे केवल व्यवस्थाएं हैं और बदली जा सकती हैं। यदि उन्होंने आधे घंटेके लिये व्यवस्था की है तो वे उसे तीन-चौथाई घंटा भी दे सकती हैं—अथवा उसे घटाकर बीस मिनटका भी कर सकती हैं। समयकी गतिमें एक प्रकारकी नमनीयताकी आवश्यकता है और जीवनका अभ्यास उसका अपनी गतिमें कठोर होना नहीं सहन कर सकता, अन्यथा जीवन या तो महज एक यन्त्रमें परिणत हो जायगा या टुकड़े-टुकड़े हो जायगा। परन्तु इस प्रसंगमें कोई इरादा नहीं था; वह विशुद्ध आकस्मिक घटना थी; किसी प्रमादवश तुम्हारा नाम सवेरेकी लिस्टमें नहीं लिखा गया और लिस्टके आदमी जब खतम हो गये तो माताजी दरवाजेपर चली आयीं। वे फिर वापस नहीं जा सकीं, क्योंकि बहुत अधिक देर हो चुकी थी और वह बड़ा लंबा तथा थकानेवाला प्रातःकाल था जो विरोधी शक्तियोंके साथ निरन्तर संघर्ष करनेमें बीता था और उन्हें भीतर आना था, जो कुछ अभी करना बाकी था उसे करना था तथा मेरे पास आकर जो कुछ हुआ था उसकी रिपोर्ट मुझे देनी थी।

परन्तु तुम्हारे लिये अज्ञात किसी कारणवश उन्होंने जान-बूझकर भी वैसा किया हो तो भी तुम्हारी प्रतिक्रिया समुचित नहीं थी। क्योंकि अपने योगके लिये तुमने जो आधार ग्रहण किया है वह है दिव्य इच्छाका अनुसरण करना, वह चाहे कुछ भी क्यों न हो। ये चीजें—ऊपरसे आकस्मिक मालूम होनेपर भी—तभी घटती हैं जब वे पहलेसे ही निर्धारित होती हैं और वे प्राण-सत्ताके

किसी भागके लिये, जिसे इस दुःखदायी प्रक्रियाके द्वारा परिवर्तन स्वीकार करना होता है, एक अग्निपरीक्षाके रूपमें आती हैं।

२८-९-१९३३

मनके द्वारा माताजीके कार्योंको परखनेकी निरर्थकता

स्पष्ट ही है। न तो प्रकृति न भवितव्यता और न भगवान् ही मानसिक तरीकेसे या मनके नियम या उसके मानदंडोंके अनुसार काम करते हैं—यही कारण है कि वैज्ञानिक और दार्शनिकको भी प्रकृति, नियति, भगवान्की पद्धति, इस सबमें एक रहस्य-सा प्रतीत होता है। माताजी मनके द्वारा कार्य नहीं करतीं, अतएव मनके द्वारा उनके कार्यका विचार करना निरर्थक है।

५-५-१९३६

* * *

श्रीमाताजी अपने शिष्योंके साथ इन सब मानसिक समस्याओंपर बहस नहीं करतीं। बुद्धिके साथ इन सब बातोंका मेल बैठानेकी चेष्टा करना बिलकुल व्यर्थ है। क्योंकि, यहां दो बातें हैं, एक तो है अज्ञान जिससे संघर्ष और असामंजस्य उत्पन्न होते हैं और दूसरी है गुप्त ज्योति, एकता, आनन्द और सामंजस्य। बुद्धि अज्ञानकी चीज है। केवल एक अधिक अच्छी चेतनामें प्रवेश करनेपर ही कोई ज्योति, आनन्द और एकत्वमें निवास कर सकता है और बाहरी असामंजस्य और संघर्षसे अछूता रह सकता है। अतएव चेतनाका वह परिवर्तन ही एकमात्र चीज है जो मूल्य रखती है, बुद्धिके साथ मेल बैठानेसे कुछ भी अन्तर नहीं पड़ेगा।

माताजीके शब्दोंको गलत रूपमें पेश करना

केवल 'अ' ही नहीं, बल्कि बहुतेरे या अधिकतर लोग ऐसे हैं जो इस तरह (माताजी द्वारा कही हुई) बातोंको बदल देते हैं—यह मानव-प्रकृतिकी प्रायः विश्वव्यापी प्रवृत्ति है। बेईमानीके कारण वह या अन्य लोग ऐसा नहीं करते —बल्कि इसलिये करते हैं कि जब वे सुनते हैं तब उनका मन शान्त नहीं होता, बल्कि सक्रिय होता है और उनके मनका विचार उनकी सुनी हुई बातके साथ मिल जाता है और वह उसे दूसरा ही मोड़ या आकार या रंग दे देता

है। बहुत बार प्राण भी हस्तक्षेप करता है और अपनी कामना या सुविधाके अनुसार उसे अतिरंजित करता या नये रूपमें ढाल देता है। ऐसा बहुत अधिक अंशमें सचेतनकी अपेक्षा अचेतन रूपमें ही होता है।

वर्तमान प्रसंगमें, माताजीने बिलकुल साधारण रूपमें ही बात की थी, न तो 'य' के विषयमें कुछ कहा था न 'ज' के विषयमें घटित बातके विषयमें। उनके कहनेका मतलब यह था कि जो कुछ याद रहना चाहिये वह याद नहीं रहता, क्योंकि कोई प्रबल तात्कालिक कामना स्मृति-शक्तिको तबतक पीछे ढकेल रखती है जबतक कि वह पूरी नहीं हो जाती, और, स्मृति यदि आये तो, वह केवल उसके बाद ही आती है। स्पष्ट ही 'अ' ने अपने विचारोंको जोड़ दिया, विशेषकर उसने 'य' के कार्यके ऊपर उसे प्रयुक्त किया और सोचा कि माताजीने यह कहा है कि वैसा जान-बूझकर किया गया था — उसीको 'य'ने याद रखा और फिर अपनी कामनाको पूरी करनेके लिये वह सत्यसम्बन्धी अपने सचेतन बोधके विरुद्ध चली गयी। माताजीने वह बात नहीं कही थी और न उनके साधारण कथनका वह अर्थ ही था।

३०-३-१९३३

* * *

जब माताजी सीधे तुमसे कुछ कहें तभी तुम कह सकते हो "माताजीने कहा है"।

९-७-१९३३

"सब कुछ माताजीसे आने" के सिद्धान्तके खतरे

तुमने जो कुछ लिखा है वह अपने-आपमें निरपवाद रूपमें सच है — आरम्भमें साधकोंके सामने यह प्रस्ताव रखा भी गया था — किन्तु कठिनाई भी निश्चित रूपसे यहीं है, प्रकृतिके अन्दर पूर्ण सच्चाई होनेमें ही। थोड़े-से लोग इस अवस्था तक ऊपर उठनेमें समर्थ हुए हैं और कुछ लोगोंने केवल सुदूर निकटता (यदि यह वर्णन स्वीकार किया जा सके) प्राप्त की है। अपूर्ण सच्चाईके अलावा भी एक कठिनाई यह है कि अहंभाव और कामनाके द्वारा मस्तिष्क आच्छादित हो जाता है तथा यह कल्पना करने लगता है कि वह ठीक वही चीज कर रहा है जब कि वह कोई दूसरी ही चीज करता होता है। यही कारण है कि मैंने "सब कुछ माताजीके यहांसे आने" के सिद्धान्तके खतरेकी बात कही थी।

ऐसे लोग हैं जिन्होंने इस बातको इस प्रकार लिया है कि जो कुछ अहंकार या प्राणसे आता है वह सब माताजीके यहांसे आता है, उन्हीकी अन्तःप्रेरणा होता है या उन्हींका दिया हुआ होता है। फिर कुछ दूसरे लोग ऐसे हैं जिन्होंने स्वतन्त्र रूपमें उसी पुरानी लीकपर चलनेके लिये इसे एक बहानेके रूपमें ग्रहण किया है और जो यह कहते हैं कि जब माताजी चाहेंगी तब सारी बातें बदल जायंगी। कुछ ऐसे लोग भी थे जिन्होंने इसी आधारपर अपने अन्दर एक आन्तरिक माताजीका निर्माण कर लिया, उसके आदेशों तथा अहंकार और कामनाके बढ़ावेको यहांपर विद्यमान माताजीके विरोधी आदेशोंके मुकाबले रखा तथा यह समझने लगे कि ये बाहरी माताजी आखिरकार नयी हैं, सच्ची चीज तो वे भीतरी माँ ही हैं अथवा यह मानने लगे कि माताजी आन्तरिक आदेशोंका विरोध करके हमारी अग्निपरीक्षा ले रही हैं और यह देख रही हैं कि हम क्या करते हैं। सत्य तो सत्य ही रहता है, परन्तु मन और प्रकृतिको विकृत करनेवाली इस शक्तिको भी दृष्टिमें रखना चाहिये।

१७-१०-१९३६

माताजीका काम और समय

बात यह नहीं है कि तुम्हारी फ्रेंच भूलोंसे भरी होनेके कारण माताजी उसे शुद्ध नहीं करतीं, बल्कि इस कारण नहीं करतीं कि मैं, जहांतक सम्भव हो, उन्हें अपने ऊपर अधिक कार्य नहीं लेने देता। अब भी रातको पूरा विश्राम करनेके लिये उनके पास समय नहीं है और प्रायः सारी रात उन्हें कापियों, रिपोर्टों और चिट्ठियोंको लेकर, जो ढेर-की-ढेर उनके पास आया करती हैं, काम करना पड़ता है। फिर भी वे उन्हें सवेरे समयपर खतम नहीं कर पातीं। अगर उन सभी लोगोंकी, जिन्होंने अभी-अभी फ्रेंचमें लिखना आरम्भ किया है तथा अन्यान्य लोगोंकी भी, सभी चिट्ठियोंको उन्हें शुद्ध करना पड़े तो इसका अर्थ होगा घंटा-दो-घंटा और काम करना — फिर वे सवेरे ९ बजेतक ही कार्य समाप्त कर सकेंगी और साढ़े दस बजे नीचे उतरेंगी। अतएव मैं इसे बन्द करनेकी चेष्टा कर रहा हूँ।

* * *

माताजी समयके अभावके कारण कभी चिट्ठियां खोलने या किसी दूसरे कामसे नहीं कतरातीं; जब वे अस्वस्थ होती हैं या आराम करनेके लिये उनके पास

समय नहीं होता तो भी उनके पास जो भी काम आते हैं सबको पूरा करती हैं।

१५-२-१९३६

* * *

माताजी चाहती हैं कि जब वे छतपर घूमें तब लोग उनकी ओर न देखें, क्योंकि थोड़ी ताजी हवा खाने तथा शरीरके स्वास्थ्यके लिये थोड़ी हरकत करनेकी आवश्यकताके अतिरिक्त — केवल वही समय होता है जब वे स्वयं अपने ऊपर थोड़ी-सी एकाग्रता कर सकती हैं। अगर उन्हें उतने अधिक लोगोंकी पुकारका प्रत्युत्तर देना पड़े तो फिर वह एकाग्रता नहीं हो सकती। बातचीतके लिये जो वे तुम्हें समय देती हैं वह एकदम दूसरी बात है; वे स्वयं उसकी व्यवस्था करती हैं और वह उनके कार्यका ही एक अंग है; अतएव उसे बदलनेकी कोई जरूरत नहीं। जो बात कही गयी थी वह केवल छतपर टहलनेके विषयमें थी।

* * *

लोगोंसे मुलाकात करनेके लिये माताजीके पास बहुत थोड़ा समय है — उन्हें कितना काम करना पड़ता है! अतएव जब कोई प्रबल आवश्यकता आ पड़ती है केवल तभी वे मुलाकात करती हैं — जिन लोगोंको उनके साथ काम करना होता है, उनकी बात अलग है।

१९३३

माताजीसे मिलनेका ठीक तरीका

जब माताजी किसीके साथ मुलाकात करती हैं तब उनके पास जानेके लिये समुचित मनोभाव है अपनी सत्ताको पूर्ण रूपसे शान्त-स्थिर बनाये रखना और मनकी किसी क्रिया या प्राणकी किसी कामनाके बिना, केवल समर्पण-भाव तथा जो कुछ दिया जाय उसे स्वीकार करनेके लिये चैत्यपुरुषोचित तत्परताके साथ ग्रहण करनेके लिये खुले रहना।

२३-२-१९३२

* * *

जब कोई माताजीके पास आता है तब उसे इन सब चीजोंको मनमें लेकर नहीं आना चाहिये — बल्कि स्थिरता और ज्योतिमें एकमात्र उस चीजको उनसे लेनेके लिये आना चाहिये जिसे कि वह आत्मसात् कर सके।

१०-४-१९३४

* * *

जो लोग माताजीके पास भेंट-वार्ताके लिये आते हैं उनके साथ वे साधारणतया उनके शुरू करनेसे पहले बात नहीं करतीं। यदि उन्हें बात करनी पड़े तो वे बहुतोंको मुलाकात बिलकुल ही न दें; क्योंकि तब उनके पास समय ही नहीं होगा। और फिर, माताजी साधकोंकी चेतनापर अपना कार्य वाणी या उपदेशके द्वारा या प्रश्नोंके उत्तर देकर नहीं करतीं बल्कि एक ऐसे नीरव प्रभावके द्वारा करती हैं जिसकी ओर अपनेको खोलना उन्हें सीखना होता है।

जहांतक आश्रम-जीवनके लिये तुम्हारी तैयारीका प्रश्न है, यह तो तुम्हें अपनी प्रतिक्रियाओंसे, विशेषकर अपने परिवारके विषयमें प्रतिक्रियाओंसे, प्रत्यक्ष हो जाना चाहिये कि तुम तैयार नहीं हो — इन वेदनोंके द्वारा तुम दूर खींच ले जाये जाते और वह तुम्हारे लिये भीषण पतन होता। अपने विषयमें सच्ची बातका बताया जाना और विना प्रार्थना किये मार्गदर्शन प्राप्त करना — यह एक कृपा है जिसे साधक प्रसन्नतासे स्वीकार करते हैं — रोना-धोना और आघात अनुभव करना प्राणकी प्रतिक्रिया है जिसपर विजय पानी होगी। चैत्य रुदन, अन्दर गहराईमें स्थित अन्तरात्मासे फूटनेवाला रुदन, अन्तरात्माकी तीव्र चाहके आंसू, प्रकृतिके प्रतिरोधके लिये शोकके और आनन्द या प्रेम या भक्तिके अश्रु पतनका कारण नहीं होते, वे तो सहायक हो सकते हैं और आन्तर आत्माको खोलकर उसके पर्दोंके भीतरसे ऊपर ला सकते हैं; किन्तु इस रुदनमें कोई आयास या कष्ट नहीं होता, यह तो कोई बहुत गहरी और शान्त वस्तु होता है और अपने साथ पवित्रीकरण एवं मुक्तिकी अनुभूति लाता है। जो रोदन प्राणसे आता है और ठेस या अभिमान या निराशासे उत्पन्न होता है अथवा प्रकृतिको झकझोरता या विचलित कर देता है उसमें यह बात नहीं होती।

१६-३-१९३७

* * *

प्र०— कल माताजीसे मिलनेसे पहले ही मैं निम्नतर शक्तियोंको

निश्चित रूपसे झाड़ फेंकना चाहता हूँ। यदि मैं ऐसा न कर सका तो मैं उन्हें अपना मुँह नहीं दिखाना चाहता।

उ०— यह निम्नतर शक्तियोंका सुझाव है। वे तुम्हारे इस प्रकार अलग-थलग रहनेके लिये एक बहाना गढ़ना चाहती हैं।

* * *

प्र०— ऐसा प्रतीत होता है कि कल, अपने जन्मदिनपर, जब कि माताजीने मुझे भेंट-वार्ताका सुयोग दिया था, मैंने अपने विषयमें बहुत कुछ सीखा। वह सम्भवतः उनकी शक्तिकी सहायतासे प्राप्त हुआ एक प्रकारका अनुभवाश्रित ज्ञान हो। अब मैं अपनेको पहले की तरह उतना दुर्बल, असहाय या अपने दोषों एवं त्रुटियोंका दास नहीं अनुभव करता। बल्कि मेरे अन्दर एक बढ़ता हुआ विश्वास है कि मैं अपनी सारी निम्नतर प्रकृतिसे छुटकारा पा सकूँगा।

उ०— यह वही चीज है जिसे हम 'सचेतन होना' कहते हैं — एक ऐसी अनुभूति है जिसका आधार चैत्यपुरुष ही होता है, भले ही यह मनमें हो अथवा प्राण या भौतिक सत्तामें। इसमें सन्देह नहीं कि जिस शक्तिने इसे जगाया वह माताजी से आयी थी।

९-९-१९३७

* * *

पहलेसे ही तुम यह निश्चय क्यों कर लेते हो कि तुम्हारा जन्मदिवस निरर्थक हो गया। तुम्हें बस इन बुरी भावनाओं और बोधोंको दूर फेंक देना चाहिये जो बाहरी सत्ताके अभी अपूर्ण रूपसे शुद्ध हुए अंशसे आते हैं तथा तुम्हें वही उचित मनोभाव ग्रहण करना चाहिये जो तुम माताजीके पास आते समय बराबर बनाये रखते हो। दूसरे क्या भाव रखते या नहीं रखते हैं इस विषयका कोई विचार नहीं आना चाहिये — तुम्हारा सम्बन्ध माताजी और तुम्हारे बीचका सम्बन्ध है और उसका दूसरोंके साथ कोई मतलब नहीं। स्वयं अपने और भगवान्के सिवा और किसी चीजका अस्तित्व तुम्हारे लिये नहीं रहना चाहिये — तुम अपने अन्दर प्रवाहित होनेवाली उनकी शक्तिको बस ग्रहण करते रहो।

इस अवस्थाको अधिक अच्छे रूपमें प्राप्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि जो समय तुम्हारे हाथमें है उसे तुम वातचीतमें खर्च मत करो — विशेषकर यदि अवसादकी कोई चीज तुम्हारे अन्दर हो तो वह तर्क-वितर्क करनेमें समय नष्ट करेगी और उससे सच्ची चेतनाको प्राधान्य प्राप्त करनेमें सहायता नहीं मिल सकती। एकाग्र होओ, अपनेको उद्‌घाटित करो और अपने-आपको फिरसे चैत्य अवस्थामें माताजीको ले आने दो जिस अवस्थाके द्वारा वह ध्यान और नीरवतामें तुम्हारे अन्दर अपनी शक्ति ढालेंगी।

१६-५-१९३३

जन्मदिवसकी मुलाकातका तात्पर्य

प्र०— माताजी जो साधकोंसे उनके जन्मदिवसपर मुलाकात करती हैं उसका कोई विशेष मतलव है?

उ०— जन्मदिवसके विषयमें। जागतिक शक्तियोंकी क्रियाके अन्दर एक (वहुतोंमेंसे एक) छन्द होता है जो सूर्य और ग्रहोंके साथ सम्बन्धित होता है। वह छन्द साधककी सत्ताके अधिक नमनीय होनेकी सम्भावना होनेपर जन्मदिवसको सम्भवनीय नवरूपान्तरका दिवस बना देता है। इसी कारण माताजी लोगोंसे उनके जन्मदिवसपर मुलाकात करती हैं।

१८-५-१९३४

* * *

प्र०— आपने एक बार लिखा था कि अन्य दिनोंकी अपेक्षा जन्मदिवसपर साधकोंकी भौतिक सत्ता माताजीकी ओर अधिक खुली हुई और ग्रहणशील होती है। क्या इसी कारण माताजी हम लोगोंको जन्मदिवसके अवसरपर विशेष रूपसे आशीर्वाद देती हैं?

उ०— यह भौतिक जन्मदिन या शरीरके जन्मदिनका प्रश्न नहीं है — यह भीतरके नवजन्मकी वृद्धिके साथ-साथ जीवनमें एक नये वर्षके प्रारम्भका अवसर माना जाता है। यही अर्थ है जिस अर्थमें माताजी जन्मदिनको ग्रहण करती हैं।

७-१०-१९३६

स्वप्नमें माताजीके साथ मुलाकात

प्र०— बहुत दिनोंसे मैं माताजीसे मिलनेकी बात सोचा करता था, परन्तु मिलनेकी आज्ञा मांगनेमें हिचकिचाता था। गत रात स्वप्नमें उनसे मेरी मुलाकात हुई और उनके साथ मेरी बातचीत भी हुई। क्या वे सच्ची माँ थीं जिनसे मेरी मुलाकात हुई या वह मेरे स्वप्नाभिभूत मनकी गढ़ी हुई कोई आकृति थी ?

उ०— निस्सन्देह वे माताजी ही थीं जिनसे तुम्हारी भेंट हुई और यह भेंट उनसे मिलनेके विषयमें तुम्हारे विचारके कारण ही हुई होगी।

९-६-१९३५

* * *

प्र०— कृपा कर मुझे बतलाइये कि अतिभौतिक स्तरपर बार-बार माताजीके पास मेरे जानेका क्या मतलब है। क्या मेरा प्राण अपनी शक्तिको फिरसे ताजा बनानेके लिये, अपनी शुद्धि आदिके लिये जाता है ?

उ०— अगर साधक थोड़े सचेतन हों तो सभी इस प्रकार अपनी नींद और स्वप्नमें माताजीके पास आनेका अनुभव करते हैं। जो लोग साधक नहीं हैं अथवा जो लोग माताजीको जानते नहीं हैं वे लोग भी उनके पास आते हैं, पर वे इस विषयमें सचेतन नहीं होते। प्राण-लोक एक अतिभौतिक लोक है। प्राण अपने निजी लोकमें इधर-उधर घूमता है और भौतिक मन या उसकी चेतना या अनुभूतिसे सीमित नहीं होता।

१३-७-१९३७

* * *

यह (अतिभौतिक लोकमें माताजीके पास जाना) किसी भी उद्देश्यके लिये या विना किसी विशिष्ट उद्देश्यके भी हो सकता है—ऐसी बातोंका कोई

खास नियम नहीं है।

१४-७-१९३७

* * *

प्र०– मैंने दो बार स्वप्नमें देखा कि माताजी मुझे अपने हाथोंसे 'सूप' (तरकारीका रसा) दे रही हैं और मैं उनके चरणोंमें प्रणाम कर रहा हूँ। मैंने ऐसा क्यों देखा? माताजी जो 'रसा' हमें दिया करती थीं, उसका आध्यात्मिक अर्थ क्या है?

उ०– 'सूप' का इन्तजाम एक ऐसा साधन स्थापित करनेके लिये किया गया था जिससे साधक भौतिक चेतनामें किये गये आदान-प्रदानके द्वारा माताजीसे कुछ चीज ग्रहण कर सकें। सम्भवतः उसी पुराने संस्कारवश जब तुम्हारी भौतिक चेतना माताजीसे कोई चीज स्वप्नमें ग्रहण करती है तब वैसा देखती है।

२७-७-१९३३

ध्यानमें माताजीकी क्रिया

जब मैंने आश्रमके आन्तर मनकी बात कही थी तब मैंने संक्षिप्त रूपमें 'आश्रमके सदस्योंके मनों' की बात कही थी और तब दलके समष्टिगत मनकी ओर मेरा ख्याल नहीं था। परन्तु ध्यानके समय श्रीमाताजीका कार्य एक ही साथ समष्टिगत और व्यष्टिगत दोनों होता है। वे आश्रमके वातावरणमें यथार्थ चेतना उतार लानेकी चेष्टा कर रही हैं—क्योंकि साधकोंके मन और प्राणका कार्य एक साधारण वातावरण उत्पन्न करता ही है। उन्होंने सन्ध्याके इस ध्यानको एक ऐसे छोटेसे अवसरके रूपमें लिया है जिसमें अवतरण करनेवाली दिव्य शक्तिकी एकमात्र सामर्थ्यके अन्दर सब लोग एकाग्र हों। साधकोंको यह अवश्य समझना चाहिये कि वे केवल एकाग्र होनेके लिये, केवल ग्रहण करनेके लिये, माताजीकी ओर केवल उद्घाटित होनेके लिये ही वहां हैं और दूसरी किसी चीजका कोई मूल्य नहीं।

नवम्बर, १९३४

* * *

अब ध्यान और बैठनेकी जगहकी बातपर आवें। माताजी यह ध्यान केवल इसलिये कराती हैं कि साधकोंमें वह सच्ची ज्योति और चेतना उतार लावें। वे यह नहीं चाहतीं कि उसे महज एक बाह्याचारमें पलट दिया जाय और न वे यह चाहती हैं कि वहांपर कोई व्यक्तिगत प्रश्न ही उठाया जाय। उसे एकमात्र ध्यान और एकाग्रता ही रहने देना चाहिये, वहां व्यक्तिगत या अन्य प्रकारकी कामनाओं या मांगों या भावनाओंको नहीं उठने देना चाहिये और उसे श्रीमांके उद्देश्यमें बाधक नहीं होने देना चाहिये।

२-११-१९३४

* * *

भौतिक उपस्थितिके द्वारा नहीं बल्कि ध्यानके समय माताजी जो एकाग्र होती हैं उससे उन लोगोंमें शान्ति उतरती है जो उसे ग्रहण करनेमें समर्थ होते हैं।

६-३-१९३७

* * *

यहां आदेश केवल माताजी ही दे सकती हैं।

माताजी तुमसे यह चाहेंगी कि तुम अहंभाव, क्रोध और दूसरोंके साथ कलहके समस्त भावोंको तथा इस या उस वस्तुकी मांगको ताकमें रखकर, केवल अपनी साधनाका ही विचार करते हुए और जो एकमात्र, सचमुचमें मूल्यवान् एवं आवश्यक वस्तुएं हैं उन्हें माताजीसे ग्रहण करनेके लिये अपनेको शान्त बनाकर ध्यान और प्रणाममें आओ।

२२-९-१९३६

* * *

> प्र०— जब मैं माताजीकी उपस्थितिमें ध्यान करनेका यत्न करता हूं तो वे क्या उतार ला रही हैं इत्यादिके विषयमें विचारपर विचार वेगसे आकर सदा ही विघ्न डालते हैं।

उ०— यह निरी मनकी एक बुरी आदत है, एक अशुद्ध क्रिया है। मनके लिये यह जरा भी लाभदायक नहीं कि वह यह पूछे या निश्चित रूपसे जाननेकी

चेष्टा करे कि माताजीकी क्या इच्छा है या वे क्या ला रही हैं—इससे केवल विघ्न ही होता है। उसे बस स्वयं शान्त और एकाग्र रहकर शक्तिको काम करने देना होगा।

११-१-१९३४

* * *

प्र०— एकाग्रताके समय मेरे अन्दर सब प्रकारके निरर्थक विचार और कामनाएं उठती रहती हैं, जिन्हें मैं बादमें भूल जाता हूँ। किस प्रकार मैं उन्हें याद कर माताजीकी ओर खोलूँ?

उ०— उसी समय अभीप्सा करो—वे स्वयं माताजीकी ओर खुल जायंगें।

२६-६-१९३३

* * *

प्र०— माताजीके साथ सामूहिक ध्यानके समय मेरी चेतना एक पूर्ण-निष्क्रिय अवस्थामें ऊपर उठ गई। मुझे ग्रीवातक अपने शरीरकी कोई सुध नहीं रही।

उ०— इसका अर्थ है कि सम्पूर्ण मन कुछ समयके लिये देह-बुद्धिकी कैदसे मुक्त हो गया और विशालतर आत्माकी निष्क्रियतामें मुक्त हो गया।

१६-८-१९३४

* * *

प्र०— मैं अनुभव करता हूँ कि जब माताजी ध्यानगृहमें ध्यान करानेके लिये नीचे उतरती हैं तब ध्यानगृहका वातावरण आश्रमके सभी मकानोंमें फैल जाता है। क्या मेरा अनुभव ठीक है?

उ०— यह स्वाभाविक है कि बात ऐसी ही हो; क्योंकि माताजीको यह अभ्यास हो गया है कि जब वे आन्तर कार्यपर एकाग्र होती हैं तब वे अपनी चेतनाको सहज भावसे सारे आश्रमके ऊपर फैला देती हैं। सो, जो आदमी अनुभव कर

सकता है वह इसे आश्रममें कहीं भी अनुभव करेगा, यद्यपि शामके ध्यान-जैसे अवसरोंपर पासके घरोंमें शायद अधिक तीव्रताके साथ अनुभव कर सकता है।

७-११-१९३४

प्रणामके समय माताजीकी क्रिया

प्र०— क्या प्रणामके समय माताजी अधिमानसके स्तरसे कार्य करती हैं ?

उ०— साधारण अधिमानससे नहीं बल्कि उससे ऊपरकी शक्तिसे। स्वभावतः ही अधिमानसको एक प्रणालिकाके रूपमें प्रयोगमें लाना होता है।

२२-११-१९३३

दर्शन और प्रणामका ठीक-ठीक उपयोग

दिव्य प्रेम और पूजाकी ओर अग्रसर होनेके लिये भौतिक साधनों (जैसे दर्शन और प्रणामके द्वारा स्पर्श) का उपयोग किया जा सकता है और किया जाता भी है; वे मानवीय दुर्बलताओंके लिये महज एक रियायतके रूपमें नहीं मंजूर किये गये हैं और न वास्तवमें यह बात ही है कि चैत्यपुरुषोचित पद्धतिके अन्दर ऐसी चीजोंके लिये कोई स्थान ही नहीं है। इसके विपरीत, भगवान्‌के पास पहुँचने, ज्योतिको ग्रहण करने और चैत्य सम्पर्कको भौतिक रूप देनेके लिये ये एक साधन हैं और जबतक ये उचित मनोभावके साथ किये जाते हैं और इनका व्यवहार वास्तविक उद्देश्यके लिये किया जाता है तबतक इनका स्थान है। जब इनका दुरुपयोग किया जाता है अथवा मनुष्यकी पहुँच उचित नहीं होती क्योंकि वह उदासीनता और तामसिकता या विद्रोह या शत्रुता या किसी स्थूल कामनासे कलुषित होती है, केवल तभी ये अनुपयोगी होते हैं और उलटा फल भी उत्पन्न कर सकते हैं —जैसा कि माताजीने सर्वदा ही लोगोंको साव-धान किया है और यह कारण बताया है कि क्यों वे प्रत्येक आदमीके लिये खुली छूट देना पसन्द नहीं करतीं।

* * *

किसी भी आदमीको न तो प्रणामको कोई बाह्य दैनिक क्रिया मानना चाहिये, न कोई अनिवार्य अनुष्ठान और न ही अपने-आपको यहां आनेके लिये बाध्य समझना चाहिये। प्रणामका उद्देश्य यह नहीं है कि साधक माताजीको एक बाहरी या नियमबद्ध दैनिक सम्मान अर्पित करें, बल्कि उद्देश्य यह है कि साधक माताजीके आशीर्वादके साथ-साथ उतनी आध्यात्मिक सहायता या प्रभाव ग्रहण कर सकें जितना कि उनकी अवस्थामें ग्रहण या आत्मसात् किया जा सकता है। उस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये शान्त-स्थिर और आत्म-समाहित वातावरण बनाये रखना आवश्यक है।

* * *

अगर तुम माताजीके दर्शनको कोई मूल्य देते हो तो अधिक अच्छा यह है कि तुम अन्तर्मुख (recueilli रकई) रहो। यदि उनका आना भोजन की न्याईं दैनिक कार्यक्रमका ही केवल एक व्यापार हो तो निःसन्देह उसका कोई महत्त्व नहीं।

Recueilli (रकई) का अर्थ है अन्तर्मुख, शान्त और आत्म-समाहित।

२४-७-१९३३

* * *

दर्शन करनेका सबसे उत्तम तरीका है अपने-आपको खूब एकाग्र और अचंचल बनाये रखना तथा माताजी जो कुछ दें उसे ग्रहण करनेके लिये खुला रहना।

१२-२-१९३७

रोगी और विक्षिप्त व्यक्तियोंको दर्शनके लिये लाना उचित नहीं

माताजी उस महिलाको मुलाकात नहीं दे सकतीं। अधिक-से-अधिक हम इतना ही स्वीकार कर सकते हैं कि उसे प्रस्तावित ढंगसे दर्शनके लिये लाया जा सकता है, किन्तु उसे बस आशीर्वाद लेते ही चल देना होगा, रुकना कतई नहीं होगा। रोगी या उन्मादी व्यक्तियोंको इलाजके लिये दर्शनार्थ लाना भूल है—दर्शनका प्रयोजन यह नहीं। यदि उनके लिये कुछ करना हो या किया जा सकता हो तो वह दूरसे ही किया जा सकता है। दर्शनके समय जो शक्ति कार्य करती है वह और ही प्रकारकी होती है और विक्षिप्त या दुर्बल मनवाला व्यक्ति उसे

ग्रहण अथवा आत्मसात् नहीं कर सकता—यदि वह ग्रहण कर भी ली जाय तो उक्त अशक्तताके कारण विपरीत परिणाम पैदा कर सकती है। यदि हम शक्तिको रोक लें तो दर्शन निरर्थक हो जाता है, और यदि उसे ऐसे लोग ग्रहण कर लें तो वह उनके लिये निरापद नहीं। इस प्रकारके कारण ही उस नियमके प्रेरक हैं जो कच्ची उम्रके बालकोंको दर्शनपर लानेकी मनाही करता है।

१३-८-१९३७

दूसरोंको प्रणाम करनेका गलत सुझाव

यह (दूसरोंको प्रणाम करनेकी इच्छा) कहीं दूसरी जगहसे आया हुआ एक गलत सुझाव है। यह बड़ा जरूरी है कि दूसरोंको प्रणाम करनेकी वृत्ति को न अपनाया जाय अथवा विचारतकमें भी दूसरोंको माताजीकी बराबरीका या उसके लगभग भी कोई स्थान एकदम न दिया जाय।

२७-७-१९३४

प्रणाम और माताजीका सम्पर्क

माताजीका सम्पर्क तो सारे दिन और सारी रात बना रहता है। यदि कोई सारे दिन अपने भीतर उनके साथ समुचित सम्पर्क बनाये रखे तो फिर प्रणाम अपना ठीक-ठीक फल उत्पन्न करेगा, क्योंकि उस समय तुम ग्रहण करनेकी ठीक-ठीक अवस्थामें होगे। सारे दिनको प्रणामपर निर्भर रखना, समूचे आन्तरिक मनोभावको बाहरी सम्पर्कके अत्यन्त बाह्य स्वरूपपर निर्भर रखना सारी चीजको एकदम उलट-पुलट देना है। यही भौतिक मन और प्राणकी की हुई मौलिक भूल है जो सारी कठिनाईका कारण है।

१६-३-१९३५

* * *

यदि कोई भौतिक सम्पर्ककी आवश्यकताके बिना माताजीके आन्तरिक स्पर्श को अनुभव कर सके तो केवल तभी भौतिक सम्पर्कका सच्चा मूल्य वास्तव और सक्रिय रूपमें प्राप्त हो सकता है। अन्यथा यह खतरा है कि वह महज अस्वाभाविक उत्तेजक वस्तुके जैसा बन जायगा या स्वयं अपने लाभके लिये

माताजीसे प्राणशक्ति आहरण करनेका अवसर बन जायगा।

२-३-१९३७

* * *

यदि वे भौतिक स्पर्शपर इतना निर्भर करते हैं कि उसके बिना वे कुछ भी अनुभव नहीं कर पाते तो इसका यह मतलब है कि उन्होंने आन्तरिक सम्बन्धका विकास करनेके लिये उसका बिलकुल ही उपयोग नहीं किया है। यदि उन्होंने किया होता तो इतने वर्षों बाद वह आन्तरिक सम्बन्ध अवश्य मौजूद होता। आन्तरिक सम्बन्ध केवल आन्तरिक एकाग्रता और अभीप्साके द्वारा ही विकसित किया जा सकता है, प्रत्येक दिनके महज बाहरी प्रणामके द्वारा नहीं। अधिकतर लोग माताजीसे महज प्राण-शक्ति आहरण करते हैं और उसीपर जीते हैं— किन्तु प्रणामका उद्देश्य यह नहीं है।

४-३-१९३७

* * *

हां, परन्तु प्राणकी परीक्षा बहुत मूर्खतापूर्ण होती है। चाहे तुम माताजीको देखो या न देखो तब भी यदि तुम्हारी साधना चलती रहे तो यह इस बातको सूचित करेगा कि चैत्य सम्बन्ध स्थायी रूपसे बना हुआ है और सर्वदा कार्य कर रहा है और वह भौतिक सम्पर्कपर निर्भर नहीं करता। मालूम होता है कि तुम्हारा प्राण यह समझता है कि यदि तुम माताजीको न देखो तो तुम्हारी साधना अवश्य बन्द हो जायगी, परन्तु इसका तो केवल यही अर्थ होगा कि प्रेम और भक्तिको भौतिक सम्पर्ककी उत्तेजनाकी आवश्यकता होती है। किन्तु, उसके विपरीत, प्रेम और भक्तिकी सबसे बड़ी पहचान यह है कि उनकी आग लम्बी अनुपस्थितिमें भी उतने ही जोरसे जलती रहे, जितने जोरसे वह उपस्थितिमें जलती है। अगर तुम्हारी साधना प्रणामवाले दिनोंको और बिना प्रणामवाले दिनोंको भी चलती रहे तो फिर यह सिद्ध नहीं होता कि तुममें प्रेम और भक्ति नहीं हैं, बल्कि यह सिद्ध होता है कि वे इतने प्रबल हैं कि सभी परिस्थितियोंमें अपने-आप बने रह सकते हैं।

८-६-१९३६

* * *

प्र०— यह बड़ी विचित्र बात है कि जब माताजी हमसे मिलती हैं और घनिष्ठताके साथ हमसे बातें करती हैं उस समयकी अपेक्षा मैं प्रणामके समय उन्हें अधिक निकट अनुभव करता हूँ। क्या भौतिक मनके किसी दोषके कारण ऐसा होता है?

उ०— हां,—अथवा कम-से-कम भौतिक चेतनाके किसी भागकी किसी कमीके कारण।

३०-४-१६३४

* * *

प्र०— माताजीको प्रणाम करनेके ठीक बाद मैंने हृदयमें एक अकल्पनीय गहराईका अनुभव किया, साथ ही यह भी कि एक अग्नि फूट पड़ रही है।

उ०— यह निःसन्देह चैत्य गहराई और चैत्य अग्नि है।

५-५-१६३६

* * *

प्र०— जब माताजीने 'क्ष' को आशीर्वाद देनेके लिये उसके सिरपर अपना हाथ रखा तो मैंने अपने सिरपर उनका स्पर्श ठोस रूपमें अनुभव किया! यह कैसे होता है?

उ०— इससे पता चलता है कि तुम्हारी सूक्ष्म भौतिक सत्ता सचेतन बन रही है और उसने माताजीका स्पर्श एवं आशीर्वाद अनुभव किया जो वहां सदा ही विद्यमान है।

२०-३-१६३५

* * *

प्रणामके समय माताजीकी ओरसे एक स्पर्श सदा ही आ रहा होता है, उसे

ग्रहण करनेके लिये व्यक्तिको सचेतन और उन्मीलित होना होता है।

१४-११-१९३३

* * *

प्र०— क्या आश्रममें कुछ दूरीपर माताजीके प्रभावको उसी प्रकार ग्रहण करना सम्भव है जिस प्रकार हम प्रणामके समय ग्रहण करते हैं?

उ०— ग्रहण करना सम्भव तो है, पर उसी प्रकारसे नहीं। वहां एक चीजकी कमी रहती है, वह है भौतिक चेतनापर स्पर्श।

३०-५-१९३३

* * *

प्र०— सायंकाल जब मुझे देर हो जाती है और मैं माताजीके दर्शनसे चूक जाता हूँ तो क्या मैं उनका प्रकाश उसी प्रकार ग्रहण करता हूँ जिस प्रकार मैं वहां उपस्थित होनेपर करता?

उ०— तुम उनका प्रकाश सब समय ग्रहण कर सकते हो—यद्यपि भौतिक सान्निध्यकी अवस्थाकी अपेक्षा कम ठोस रूपमें।

१-९-१९३३

* * *

प्र०— आपने लिखा था: "आन्तरिक स्पर्शके बिना आन्तर सत्ता कार्य नहीं कर सकती।" मेरी समझमें नहीं आया कि इससे मेरे प्रश्नका समाधान कैसे हुआ। माताजीका जो आन्तरिक या सूक्ष्म स्पर्श मैंने पहले अनुभव किया था उसका वही प्रभाव नहीं हुआ जो प्रणामके समय उनके भौतिक स्पर्शका हुआ। पहला तो आया और क्रियात्मक दृष्टिसे कोई भी प्रभाव छोड़े बिना कुछ क्षणोंमें ही अदृश्य हो गया, जब कि दूसरेकी छाप, विषाद और प्रतिरोधके रहते भी, दीर्घकालतक बनी रही।

उ०– ऐसा इसलिये है कि तुम अपनी बाह्य सत्तामें रहते हो, अन्तःसत्तामें नहीं। पर जबतक तुम आन्तरिक स्पर्शकी ओर नहीं खुलते तबतक आन्तर सत्ता विकसित नहीं हो सकती।

३-२-१९३७

* * *

आन्तर स्पर्शका अर्थ है अन्तःसत्तामें अनुभूत माताजीका प्रभाव।

६-२-१९३६

* * *

> प्र०– जब मुझे अनुभव और साक्षात्कार हुए तो फिर मुझे आन्तर स्पर्शका संवेदन क्यों नहीं हुआ, क्योंकि यह कहा जाता है कि उसके बिना किसीको भी अनुभव (जो अन्तःसत्ताके विकासके ही फल हैं) प्राप्त नहीं हो सकते?

उ०– तुम्हें उसका संवेदन इसलिये नहीं हुआ कि अन्तःसत्ता उसकी ओर जागरित नहीं थी — उसने (अन्तःसत्ताने) केवल परिणामोंको ही अनुभव किया — और ये परिणाम स्वयं अन्तःसत्तामें नहीं बल्कि ऊर्ध्वस्थ आत्मामें अनुभूत हुए।

६-२-१९३७

भीतरी और बाहरी सम्पर्क

माताजीके साथ अपने भीतरी सम्पर्कको बढ़ने दो — यदि वह न हो तो बाहरी सम्पर्क अत्यधिक बढ़ जानेपर सहज ही विकृत होकर दैनिक कार्यक्रम बन जाता है।

* * *

मेरा मतलब है आन्तरिक सम्पर्क जिसमें या तो मनुष्य अपनेको उनके साथ एक या उनके सम्पर्कमें अनुभव करता है या उनकी उपस्थितिके विषयमें सचेतन

होता है अथवा कम-से-कम सदा उनकी ओर मुड़ा होता है।

१६-३-१९३५

* * *

प्र०— आज मुझे ऊपर माताजीके कमरेमें जानेकी बड़ी तीव्र इच्छा हुई थी जिससे कि मैं उनके समीप और घनिष्ठ सम्पर्कमें पहुँच सकूँ।

उ०— परन्तु माताजीके निकट आना 'भीतरी' कमरोंमें होना चाहिये, बाहरी कमरोंमें नहीं। क्योंकि भीतरी कमरोंमें मनुष्य सर्वदा प्रवेश कर सकता है और वहां स्थायी रूपसे रहनेकी व्यवस्था भी कर सकता है।

८-३-१९३५

* * *

प्र०— यह कैसी बात है कि आपको पत्र लिखते समय उच्चतर वस्तुएं बढ़ जाती और प्रबलतर हो जाती हैं?

उ०— मेरी समझमें इसका कारण यह है कि लिखनेकी क्रियामें या वस्तुतः उसके आरम्भमें तुम माताजीके और 'शक्ति'के सम्पर्कमें आ जाते हो।

१०-५-१९३६

श्रीमांके देनेके दो तरीके

माताजी दोनों तरीकोंसे देती हैं। आंखोंके द्वारा वे चैत्य पुरुषको देती हैं और हाथके द्वारा स्थूल सत्ताको।

२९-९-१९३२

* * *

स्पष्ट ही इसके साथ समयका कोई सम्बन्ध नहीं है। एक घंटेका स्पर्श हो

या एक क्षणका — जितना एकके द्वारा दिया जा सकता है उतना ही दूसरेके द्वारा भी।

१८-४-१९३५

***

माताजीने तुम्हें जो संक्षिप्त-सा ही आशीर्वाद दिया वह तुम्हारे किसी दोषके कारण नहीं; ऐसा उन्हें उन सभीके लिये करना होता है जो शुरूमें आते हैं क्योंकि उन्हें जल्दीसे अपने कामपर जाना पड़ता है। यदि तुम्हें देरतक आशीर्वाद चाहिये तो तुम्हें पीछे आना होगा। परन्तु जब तुम्हें शुरूमें आना पड़े तब भी यदि तुम शान्त और खुले रहो तो माताजीके संक्षिप्त-से आशीर्वादमेंसे भी उतना ही लाभ प्राप्त कर सकते हो।

माताजीके फूल देनेका तात्पर्य

प्र०— प्रतिदिन प्रणामके समय माताजी जो हमें फूल देती हैं उसका क्या अर्थ है?

उ०— उसका अर्थ है उस चीजको उपलब्ध करनेमें सहायता देना जिसका सूचक वह फूल होता है।

२८-४-१९३३

***

प्र०— क्या फूल महज प्रतीक ही हैं, उससे अधिक और कुछ नहीं? उदाहरणके लिये, क्या नीरवताका प्रतीक फूल नीरवताकी उपलब्धिमें सहायता कर सकता है?

उ०— जब माताजी फूलके अन्दर अपनी शक्ति भर देती हैं तभी वास्तवमें वह एक प्रतीकसे अधिक कुछ बनता है। उस समय, यदि उसे पानेवाले आदमी

में ग्रहणशीलता हो तो, वह बहुत प्रभावशाली हो सकता है।

१९-७-१९३७

* * *

प्र०– हम माताजीसे वह फूल नहीं पाते जो हमारे मनके मतानुसार हमें मिलना चाहिये।

उ०– स्पष्ट ही है कि वैसा नहीं होता — मन अपनी पसन्दगी या ख्यालके अनुसार या क्या होना चाहिये इस विषयकी किसी मानसिक भावनाके अनुसार इच्छा करता है; जो कुछ आवश्यक है उसे संबोधि द्वारा देखकर माताजी निर्णय करती हैं।

९-७-१९३४

माताजीका भौतिक सामीप्य और साधनामें उन्नति

यह समझना भूल है कि जो लोग शरीरसे माताजीके पास जाते हैं वे उन लोगोंकी अपेक्षा, जो प्रणाम या ध्यानके सिवा अन्य समय उनसे मुलाकात नहीं करते, पूर्णताके अपने लक्ष्यके कहीं अधिक निकट हैं। सब निर्भर करता है आन्तर सत्तापर और इस बातपर कि वह सत्ता किस प्रकार उनसे मिलती, उनकी शक्तिको ग्रहण करती और उससे लाभ उठाती है। निःसन्देह, यदि लोग अपने चैत्य पुरुषको प्रमुख स्थानमें रखकर उनसे मिलें, और केवल बाहरी चेतनामें ही न मिलें, तो बात दूसरी ही होगी, पर – ।

२९-७-१९३६

* * *

प्र०– बहुतसे लोग ऐसा विश्वास करते हैं कि जिन लोगोंको माताजी बार-बार मिलनेके लिये मौका देती हैं और प्रायः ही चीजें भेजती हैं वे उनके बहुत समीप हैं तथा तेजीसे उन्नति कर रहे हैं; परन्तु जिन लोगोंसे वे अक्सर नहीं मिलतीं या जिनके पास चीजें नहीं भेजतीं, उन्हें अपनी साधना करनेका केवल एक मौका ही दिया गया है। क्या यह विश्वास ठीक है?

उ०— यह सब निरर्थक बात है। जिन लोगोंको माताजी बहुत कम या कभी नहीं बुलातीं और जिन्हें कुछ नहीं भेजतीं उन लोगोंमें भी कुछ लोग अत्यन्त ऊंचे साधक हैं। वे लोग इसकी आशा भी नहीं करते — वे निरन्तर माताजीको अपने साथ अनुभव करते और सन्तुष्ट रहते हैं तथा और कोई चीज नहीं मांगते।

२७-७-१९३३

* * *

प्र०— आपने कहा है कि जो लोग आश्रमसे बाहर साधना करते हैं वे लोग इसे पूरी तरह नहीं कर सकते, क्योंकि आश्रममें माताजीके भौतिक सामीप्यमें रहना ही रूपान्तरकी सम्भावना उत्पन्न कर सकता है। इस बातको थोड़ा और आगे खींच ले जानेपर स्वभावतः ही यह सिद्धान्त निकलता है कि आश्रममें भी जो लोग शरीरसे माताजीके अधिक निकट निवास करते हैं और उनसे अधिक बार मिलते हैं वे भीतरी दलके लोग हैं, बाहरी रूपमें भी अधिक घनिष्ठ हैं, और इसलिये रूपान्तरके अधिक निकट हैं। यह ठीक है न?

उ०— आश्रममें रहना एक बात है और माताजीके साथ एक छोटी-सी चौहद्दीके अन्दर रहना दूसरी बात। तुम्हारा प्रतिपाद्य विषय बहुतेरे मानसिक तर्कोंकी तरह जीवनके वास्तविक तथ्योंके द्वारा खण्डित होता है। उस आधारपर यह तर्क किया जा सकता है कि माताजीके साथ एक ही मकानमें रहनेवाला 'अ' बाहर रहनेवाले 'ब' की अपेक्षा पूर्णताके अधिक निकट तथा 'स' या 'द' की अपेक्षा और भी अधिक निकट है। 'ई' प्रणामके समय तथा अपने जन्मदिनको छोड़कर माताजीके साथ कभी मुलाकात नहीं करती, इसलिये वह निश्चय ही एकदम पिछड़ी हुई साधिका होगी और 'फ' माताजीसे रोज पांच, दस, पन्द्रह या बीस मिनटतक बातें करता है इसलिये वह 'ई' से बहुत आगे बढ़ा हुआ होगा, पूर्णताकी ओर काफी आगे होगा। परन्तु ये बातें ठीक ऐसी नहीं हैं। इसलिये यह तर्क किसी बातमें नहीं ठहरता। साधनामें उन्नति करना या उच्च योग्यताका होना माताजीके निकट होने या अधिक बार उनसे मुलाकात करनेपर नहीं निर्भर करता।

३०-७-१९३६

* * *

प्र०— जो लोग बहुधा माताजीके पास जाते हैं वे बड़े ही सौभाग्य-शाली होंगे। क्या यह ठीक नहीं ?

उ०— अगर किसीके अन्दर कामना या मांग हो तो वह सब प्रकारके दावे, क्रोध, ईर्ष्या, निराशा, विद्रोह आदिको ले आती है जो साधनाको नष्ट कर देते हैं और उसमें कोई सहायता नहीं पहुँचाते। कुछ दूसरोंके लिये माताजीका सामीप्य एक मिली-जुली चीज बन जाता है।

* * *

कुछ वर्ष पूर्व माताजी खुले तौरपर लोगोंको अपना भौतिक सम्पर्क प्रदान करती थीं। अगर साधकोंमें समुचित प्रतिक्रिया हुई होती तो क्या तुम समझते हो कि वे पीछे हट जातीं और उसे घटाकर कम-से-कम कर देतीं? निःसन्देह, अगर मनुष्य यह जानें कि किस भावमें उनसे चीजें ग्रहण करनी चाहियें तो भौतिक स्पर्श एक बहुत बड़ी चीज है—परन्तु उसके लिये निरन्तर शरीरसे निकट रहना आवश्यक नहीं है। बल्कि उससे बहुत जोरसे दबाव पड़ता है और उसे कितने आदमी सह सकते हैं?

२२-४-१९३३

* * *

यह अहं ही है जो यह चाहता है कि सबसे पहला या विशेष रूपसे चुना हुआ एकमात्र अकेला व्यक्ति होनेसे जो तुष्टि होती है वह मुझे प्राप्त हो। इस अहंमय प्राणिक मांग और इससे उत्पन्न सभी परिणामों और उपद्रवोंके कारण माताजीके लिये यह आवश्यक हो गया कि वे समीपताकी भौतिक अभिव्यक्तिको कम-से-कम कर दें।

१७-४-१९३५

* * *

बस, एक ही प्रधान बात है भीतरी मनोभावको बनाये रखना तथा सभी बाहरी परिस्थितियोंसे स्वतन्त्र रूपमें माताजीके साथ भीतरी सम्बन्ध स्थापित करना। यही वह चीज है जो सभी आवश्यक चीजोंको ले आती है। जो लोग योगमें

अत्यन्त गहराईतक पहुँचे हुए हैं वे वे लोग नहीं हैं जो भौतिक रूपमें माताजीसे सबसे अधिक मिलते-जुलते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो निरन्तर उनके सान्निध्य या एकत्वमें निवास करते हैं पर जो प्रणाम या शामके ध्यानके अतिरिक्त सालमें केवल एक बार ही उनके पास जाते हैं।

१३-११-१९३४

* * *

वर्तमान अवस्थामें शरीरसे माताजीके पास आनेकी अपेक्षा उनकी ओर अपनेको खोलकर अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है। कुछ लोग तो, जो यह आग्रह करते हैं कि माताजी उन्हें बुलावें, आगे बढ़नेकी अपेक्षा पीछे हटते हैं—क्योंकि वे इसका आग्रह करते हैं और इस तरह वे प्राणिक मांगका एक आधार स्थापित करते हैं जो माताजीके साथके सम्बन्धोंके लिये एक बालूकी भीतका काम करता है।

* * *

प्र०— क्या यह सच नहीं कि जो माताजीको बहुत अधिक बार देखता और उनसे बातचीत करता है वह उनकी उपस्थितिमें रहनेके कारण अधिक प्रकाश ग्रहण करता है?

उ०— नहीं। यह सम्पूर्ण रूपसे निर्भर करता है व्यक्तिकी अवस्था और उसके मनोभावके ऊपर। विशेषकर, अगर वे माताजीको देखनेका अथवा जब वे यह चाहें कि वे चले जायं तब रहनेका हठ करें या उनका मनोभाव खराब हो और वे उसे माताजीपर फेंकें तो माताजीसे मिलना उनके लिये बहुत हानिकारक होगा। माताजी उन्हें जो कुछ देती हैं उसीसे उनमेंसे प्रत्येक व्यक्तिको सन्तुष्ट रहना चाहिये, क्योंकि एकमात्र वही यह समझती हैं कि वे क्या ग्रहण कर सकते हैं और क्या नहीं। इस प्रकारकी मानसिक रचनाएं और प्राणिक मांगें बराबर ही मिथ्या होती हैं।

३-४-१९३३

* * *

यहांपर जरा गोलमाल है। माताजीकी कृपा एक चीज है, परिवर्त्तनके लिये पुकार दूसरी, और उनके सामीप्यका दबाव तो और भी भिन्न चीज है। जो लोग शरीरसे उनके निकट हैं वे किसी विशेष कृपा या प्रेमके कारण नहीं, बल्कि अपने कामकी आवश्यकताके कारण निकट हैं—इसी बातको यहां प्रत्येक व्यक्ति समझने या विश्वास करनेसे इनकार करता है, पर यही यथार्थ बात है कि सामीप्य अपने-आप एक दबावके रूपमें काम करता है, दूसरी किसी चीजके लिये न भी हो तो, इसलिये कि वे अपनी चेतनाको माताजीकी चेतनाके अनुकूल बनावें और इसका अर्थ है परिवर्तन; परन्तु ऐसा करना उनके लिये कठिन होता है, क्योंकि उन दोनों चेतनाओंके बीचका अन्तर, विशेषकर भौतिक स्तरपर, बहुत बड़ा है और वे कामके लिये इस भौतिक स्तरपर ही उनसे मिलते हैं।

२७-४-१९४४

* * *

प्र०– क्या यह सच नहीं है कि जो लोग शरीरसे माताजीके अत्यन्त समीप हैं वे वही व्यक्ति हैं जो उनकी ओर खुले हुए हैं, उनके संकल्पके साथ 'एक' बने हुए हैं और अपनी आन्तर सत्तामें उनके समीप हैं? क्या यह भी ठीक बात नहीं है कि शरीरसे माताजीके पास रहनेसे विशेष लाभ प्राप्त होते हैं?

उ०– माताजीके "संकल्पके साथ एक" होना या पूर्ण रूपसे खुल जाना इतना आसान नहीं है। शरीरसे नजदीक रहनेसे आगे बढ़नेके लिये, पूर्ण होनेके लिये निरन्तर दबाव पड़ता रहता है जिसका प्रत्युत्तर देनेमें आजतक कोई समर्थ नहीं हुआ है। इस विषयमें लोगोंने मानसिक विचार बना लिये हैं और वे सही नहीं हैं।

'अ' की मांग थी कि उसे भीतर रहने दिया जाय या सब समय (माताजीके कमरेमें) उसे आने-जानेकी स्वतन्त्रता दी जाय (जो किसी भी आदमीको, न तो 'ब' को, न 'स' को न और ही किसीको दी गयी है) और जो लोग वहां आते-जाते हैं उनके साथ उसे बराबरीका या उनसे ऊंचा स्थान दिया जाय। ऐसी मांग यह सूचित करती है कि जिन कारणोंसे (इसमें किसीपर विशेष कृपा या प्रेम करनेकी कोई बात नहीं है) इस बातकी आज्ञा दी जाती है उनके और साथ ही वस्तुओंकी उपयुक्तताके विषयमें भी उसमें पूरी नासमझी

है। अगर उसे इसकी आज्ञा दे दी गयी होती तो वह उसे थोड़े दिनोंतक भी सहन न कर पाती। 'ब' और 'स' की बात भिन्न है — उनको वहां विशेष काम करना होता है और उसी कारण उनका माताजीके पास आना या उनसे बार-बार मुलाकात करना आवश्यक होता है। साधनाकी दृष्टिसे बड़े होनेके साथ इसका बिलकुल ही कोई सम्बन्ध नहीं है, जिसकी ओर स्वयं तुमने भी 'द' आदिके उदाहरण देकर संकेत किया है।

७-३-१९३५

***

मेरा मतलब यह नहीं था कि शरीरके समीप रहना महत्त्वपूर्ण है बल्कि यह था कि इसे आसानीसे नहीं सहन किया जा सकता। प्रणामके समय स्पर्श प्राप्त करना और शरीरसे समीप रहना दोनोंका अर्थ एक नहीं है। शरीरसे समीप रहनेका मेरा मतलब था माताजीके साथ रहना या उनके साथ बार-बार भौतिक सम्पर्कमें आना....। समीपताको सहन करनेका जहांतक सम्बन्ध है, अधिकांश लोग यथासम्भव दबावकी ओरसे अपनेको बन्द करके ही साधारणतया उसे सहन करते हैं — जब वे वैसा नहीं कर पाते तब वे उससे घबड़ा जाते हैं। इस विषयकी सारी बात बस यही है।

५-८-१९३५

***

मेरा ख्याल है कि ये सब मानसिक रचनाएं हैं। तुम अपने मनमें यह गढ़ रहे हो कि 'क' को क्या अनुभव करना चाहिये। परन्तु सच पूछा जाय तो न तो 'क' की, न और किसीकी कठिनाइयां माताजीके पास आने या उनके साथ एक, दो या तीन घंटेतक बैठे रहनेसे दूर होती हैं। बहुत लोगोंने ऐसा किया है और जैसे वे आये वैसे ही दुःखी, निराश और विद्रोही बनकर चले गये। जो लोग माताजीसे भेंट किया करते हैं उनमेंसे कुछ लोगोंके सामने उतनी ही बुरी और उतनी अधिक कठिनाइयां हैं जितनी तुम्हारे सामने। यह भी सच नहीं है कि जिन लोगोंने माताजीके साथ अधिक बातचीत (मकानों, मरम्मतों, नौकरों आदिके विषयमें) की है उन्होंने माताजीको अधिक अच्छा समझा है। आरम्भके दिनोंमें लोग दूसरे ढंगसे माताजीके साथ बहुत अधिक मुलाकात किया करते थे, वे उनके साथ सब प्रकारके विषयोंपर बातें किया करते थे — पर उन लोगोंने

भी वास्तवमें माताजीको नहीं समझा था। मैं फिर कहता हूँ कि यह सब मनकी सृष्टि और गढ़ी-गढ़ाई कल्पना है तथा यथार्थ बातोंके साथ इसका कोई मेल नहीं। जब कोई भीतरसे माताजीकी ओर खुला होता है केवल तभी उनके 'सम्पर्क'से, भौतिक नहीं वरन् आध्यात्मिक या आन्तर सम्पर्कसे लाभ उठाता है, और फिर उनके विषयका महज एक विचार ही किसी भी गलत चीजको सुधार सकता है। उस समय भौतिक सम्पर्क भी सहायता कर सकता है, पर वह अनिवार्य नहीं है। रही उनको समझनेकी बात, सो कोई उन्हें केवल आध्यात्मिक चेतनामें प्रवेश करनेपर ही समझ सकता है, अथवा यदि मनमें न समझे तो कम-से-कम एक बढ़ते हुए एकत्वके द्वारा यह अनुभव कर सकता है कि वे क्या हैं और उसके अनुरूप कार्य कर सकता है।

४-८-१९३५

* * *

इस अर्थहीन भ्रांत विश्वासको वापस बुलाना या इसे आन्तरिक शान्तिको भंग करने देना एक बड़ी मूर्खता है,—क्योंकि दूसरी कोई बात वास्तविक और व्यावहारिक सत्यसे उतनी अधिक दूर नहीं हो सकती जितनी यह मान्यता कि जो लोग शरीरसे माताजीके निकट रहते हैं या बार-बार उनके पास जाते हैं वे दूसरोंकी अपेक्षा अधिक सुखी या अधिक सन्तुष्ट हैं—यह जरा भी सत्य नहीं है। अगर तुम केवल इस भ्रमसे छुटकारा पा जाओ तो कोई भी चीज दिव्य शान्तिकी वृद्धिको रोक नहीं सकती और न उस आन्तरिक सामीप्यमें ही बाधा पहुँचा सकती है जो इस आश्रममें लोगोंको दिव्य प्रसन्नता देनेवाली एकमात्र वस्तु है। प्रसन्नता अन्तरात्माकी सन्तुष्टिसे प्राप्त होती है, प्राणकी या शरीरकी सन्तुष्टिसे नहीं। प्राण कभी सन्तुष्ट नहीं होता; शरीर भी जो कुछ आसानीसे या बराबर पाता है उससे आकर्षित होना शीघ्र ही बन्द कर देता है। एकमात्र चैत्य पुरुष ही सच्ची प्रसन्नता और आनन्द ले आता है।

८-९-१९३४

'बिलकुल ठीक'। किसीको भी किसी वस्तु या व्यक्तिके प्रति ईर्ष्या करनेकी जरूरत नहीं, क्योंकि हर एकका [माताजीके साथ] सम्पर्कका अपना एक विशेष बिन्दु होता है जो दूसरे किसी भी व्यक्तिका नहीं होता—वह उस बिन्दुसे अलग होता है जो सबमें होता है।

४-१-१९३४

प्रणामके समयकी माताजीकी मुस्कान और स्पर्शके विषयमें भ्रांत धारणाएं

माताजी प्रत्येक आदमीके साथ अलग-अलग तरीकेसे, उसकी आवश्यकता और उसके स्वभावके अनुसार वर्ताव करती हैं, किसी कठोर मानसिक नियमके अनुसार नहीं करतीं। यह बात उनके लिये बिलकुल निरर्थक है कि वे प्रत्येक आदमीके साथ बस एक ही जैसा व्यवहार करें मानों सब लोग मशीन हों और उन्हें एक तरहसे ही छूना और चलाना जरूरी हो। इसका बिलकुल ही यह मतलब नहीं है कि वे एक आदमीको दूसरेसे अधिक प्यार करती हैं अथवा जिन्हें वह एक खास ढंगसे छूती हैं वे अधिक अच्छे या कम अच्छे साधक हैं। साधक इस ढंगसे क्यों विचार करते हैं क्योंकि वे अज्ञान और अहंकारसे भरे हैं। सच पूछा जाय तो उन्हें यह नहीं सोचना चाहिये कि माताजी एकपर अधिक कृपा करती हैं या दूसरेपर कम और न उन्हें जो कुछ वे करती हैं उसमें मुकाबला करना और उसका निरीक्षण करना चाहिये, बल्कि उसके बदले उन्हें प्रणामके समय बस इसी बातसे सम्बन्ध रखना चाहिये कि माताजीके प्रभावके प्रति स्वयं उनमें कितनी आध्यात्मिक ग्रहणशीलता है। प्रणाम इसीलिये है, अन्य चीजोंके लिये नहीं जिनका साधनाके साथ कोई सम्बन्ध नहीं।

ईर्ष्या और स्पर्द्धा मानव-स्वभावकी सामान्य चीजें हैं, पर ये ठीक वही चीजें हैं जिन्हें एक साधकको अपने अन्दरसे अवश्य निकाल फेंकना चाहिये। नहीं तो वह भला साधक ही किसलिये है? उसके यहां रहनेका उद्देश्य ही यह माना जाता है कि वह भगवान्‌की खोज करेगा—परन्तु भगवान्‌की खोजके अन्दर ईर्ष्या, स्पर्द्धा, क्रोध आदिके लिये कोई स्थान नहीं। ये सब अहंकारकी क्रियाएं हैं और भगवान्‌के साथ एकत्व प्राप्त करनेमें केवल बाधाएं ही उत्पन्न कर सकते हैं।

बहुत अच्छा हो यदि मनुष्य यह याद रखे कि वह भगवान्‌की खोज कर रहा है और उसे ही अपने जीवनकी सम्पूर्ण नियामक भावना और लक्ष्य बना ले। यही चीज माताजीको दूसरी किसी चीजसे कहीं अधिक प्रसन्न करती है; ये ईर्ष्या-द्वेष और स्पर्द्धा और उनकी कृपा पानेकी प्रतियोगिता आदि चीजें उन्हें केवल अप्रसन्न और दुःखी ही बना सकती हैं।

३१-१०-१९३५

***

प्र०— प्रणामके समारोहके समय मैं माताजीकी क्रियाके रहस्यकी थाह नहीं ले पाता : वे क्या देती हैं और कैसे मैं उसे ग्रहण करता हूँ। मेरे सिरपर उनके स्पर्शका या मेरी आंखोंमें उनके दृष्टि डालनेका आन्तरिक अर्थ क्या है ?

उ०— पहले तुम्हें आन्तरिक अन्तर्ज्ञानमय प्रतिक्रियाका विकास करना होगा— अर्थात् सोचने और देखनेकी क्रिया मनसे कम और अन्तश्चेतनासे अधिक करनी होगी। अधिकतर लोग सब कुछ मनसे करते हैं, किन्तु मन भला कैसे जान सकता है ? मन तो अपने ज्ञानके लिये इन्द्रियोंपर निर्भर करता है।

१०-७-१९३६

* * *

माताजीकी दृष्टि और आशीर्वाद देते हुए उनके हाथके विषयमें आश्रममें जो विचार फैला हुआ है वह पूर्ण रूपसे अयुक्तिसंगत, मिथ्या और मूर्खतापूर्ण भी है। मैंने सैकड़ों बार लोगोंको लिखा है कि यह सारी बात ही गलत है और उपद्रव खड़ा करनेकी दृष्टिसे किये गये विरोधी शक्तियोंके मिथ्या सुझावपर अवलम्बित है। माताजी अपनी नाराजगी दिखानेके लिये या साधकके किसी कृत्यके कारण मुस्कराना बन्द नहीं करतीं या अपनी मुस्कराहट या आशीर्वाद देनेका ढंग नहीं बदलतीं। वह, जैसा कि कुछ लोग नाराजगीके साथ विश्वास करते हैं, इस ढंगसे अपनी हंसी या आशीर्वादकी मात्रा नहीं ठीक करतीं जिससे प्रत्येक साधकके लिये उसके अच्छे या बुरे आचरणके अनुसार नम्बर प्राप्त हो जाय। इन परिवर्तनोंका उद्देश्य, एक ही श्रेणीके छात्रोंकी तरह, प्रत्येक साधकके लिये प्रतिद्वन्दितामें प्राप्त स्थान निश्चित करना नहीं है। ये सब विचार एकदम युक्तिविरुद्ध , नगण्य और अनाध्यात्मिक हैं। आश्रम कोई विद्यार्थियोंकी कक्षा नहीं है और न योग ही प्रतियोगितात्मक परीक्षा, (Competitive Examina- tion) है। यह सब संकीर्ण भौतिक मन और प्राणगत अहंकार तथा कामना-वासनाकी सृष्टि है। यदि साधक सच्चा आधार पाना चाहें और सच्ची उन्नति करना चाहें तो उन्हें इन विचारोंको एकदम अपने मनोंसे निकाल डालना चाहिये। परन्तु उनके मनको यह मिथ्यापन इतना प्रिय है कि जो कुछ मैं लिख सकता हूँ वह सब लिखनेपर भी वे इससे हठपूर्वक चिपके रहते हैं। तुम्हें इससे पूरी तरह छुटकारा पा लेना चाहिये। प्रणामके समय माताजी साधककी सहायता करनेके लिये अपनी शक्ति देती हैं— साधकका यह कर्तव्य है कि वह उसे

चुपचाप और सरल भावसे ग्रहण करे, इन मूर्खतापूर्ण विचारोंके द्वारा तथा यह सब देखनेमें ही उस अवसरको न खो दे कि कौन उनका हाथ और उनकी मुस्कराहट अधिक पाता है और कौन कम। यह सब अवश्य दूर होना चाहिये।

८-१२-१९३६

* * *

प्र०— प्रणामके समय माताजी अपने विशेष हाव-भावसे हमें क्या दिखाना चाहती हैं? क्या उनका हाव-भाव सम्बद्ध व्यक्तियोंके किसी कार्यको उनके पसन्द करने या न करनेको प्रकट करता है?

उ०— वे तुम्हें कुछ भी नहीं दिखाना चाहतीं; माताजीका हाव-भाव साधकोंके कार्यों या गलत कार्योंसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता। प्रणामका प्रयोजन यह नहीं कि व्यक्ति माताजीके हाव-भावको ध्यानसे देखे या यह देखे कि अमुक-अमुक व्यक्तिके साथ क्या करती हैं या किस प्रकार मुसकराती हैं अथवा अपने हाथके कितने भागसे आशीर्वाद देती हैं — साधकोंका इन चीजोंमें लगे रहना मूर्खतापूर्ण है और अधिकांशमें यह भ्रान्त अनुमानों एवं कल्पनाओंसे और बहुधा कौतूहल, गपशपकी इच्छा, आलोचना आदिसे भरा होता है। मनकी ऐसी अवस्था साधनामें बाधक ही होती है, सहायक नहीं। ठीक मनोभाव है आत्मोत्सर्गका भाव और माताजी जो कुछ देना चाहती हैं उसके प्रति सीधी-सादी और सरल ग्रहणशीलताका तथा सत्तामें उनकी क्रियाके प्रति क्षोभरहित तथा अक्षोभजनक उद्घाटनका भाव।

* * *

यह एकबारगी समझ लो कि माताजी प्रणामका उपयोग अपनी प्रसन्नता और अप्रसन्नता प्रकट करनेके लिये नहीं कर रहीं; वह इस प्रयोजनके लिये अभिप्रेत नहीं। वह एकमात्र अवस्था, जिसमें प्रणामके समय माताजीका मनोभाव साधकके कार्योंसे प्रभावित हो सकता है, तब उत्पन्न होती है जब कोई भारी विश्वास-घात या आध्यात्मिक जीवनके मुख्य नियमोंका उग्र भंग होता है...अथवा जब साधक माताजी और योगका सुनिश्चित रूपसे विरोधी बन गया होता है। परन्तु तब यह प्रणामके समय अप्रसन्नताका विशेष प्रकाशन नहीं बल्कि कृपाके दानका

वापिस ले लेना होता है जो एक बिलकुल भिन्न बात है।

* * *

बहुत-से साधकोंको यह सोचनेकी आदत है कि माताजी नाराज हैं, उन्हें मुसकान नहीं दे रहीं, कुपित हैं, जब कि बात इससे बिलकुल उलटी होती है। ऐसा साधारणतया तब होता है जब उनकी अपनी चेतना शान्त नहीं होती अथवा जब वे अपने दोषों या उन अशुद्ध क्रियाओं या गलत कार्योंके विषयमें सोच रहे होते हैं या उनसे सचेतन होते हैं जो उन्होंने किये हों। यह विचार कि माताजी कुपित हैं एक कल्पना ही है; यदि कोई ऐसी चीज हो जो सामान्यतया नहीं होती तो वह स्वयं साधकमें होती है, माताजीमें नहीं।

* * *

माताजीकी शक्ति सर्वथा सुचारु रूपसे और धीरे-से उतर सकती है—उसके लिये हृदयके धड़कने, सिरमें चक्कर आने या जी मतलानेकी कोई जरूरत नहीं।

माताजी तुमपर जरा भी गुस्से नहीं थीं। मैं समझता हूँ तुमने आशा की थी कि वे गुस्से होंगी और फिर वैसी ही तुम उन्हें देखते हो? सभी साधक ऐसा ही करते हैं—और माताजीके चेहरे या ढंगमें अपनी ही कल्पनाकी चीजोंको देखनेकी इस आदतसे मैं उन्हें अभी मुक्त नहीं कर पाया।

* * *

प्र०—हम तो इसपर बहुत अधिक निर्भर करते हैं कि माताजीके तरीकोंमें हमारे लिये उनका प्रेम प्रकट होता दीखता है या नहीं? हमें लगता है कि इसे पानेपर हम उन्नति कर सकते हैं।

उ०—प्रेमके भौतिक प्रकाशनकी यह मांग मिटनी ही चाहिये। यह साधनाके मार्गमें एक भयङ्कर रोड़ा है। इस मांगकी तुष्टिके द्वारा की गई प्रगति एक असुरक्षित प्रगति है जो इसे लानेवाली शक्तिके द्वारा ही किसी भी क्षण नष्ट

की जा सकती है।

८-१०-१९३५

* * *

प्र०— मैंने सुना है कि बहुत-सी साधिकाएं माताजीसे इतना अधिक प्रेम करती हैं कि वे उनके लिये मर-मिटनेको तैयार हैं। परन्तु यदि उनसे माताजीका प्रेम भौतिक रूपमें कतई प्रकट न हो तो वे उनसे प्रेम नहीं कर पातीं और कुछ-एक तो विद्रोह, रोना-धोना या उपवास तक शुरू कर देती हैं।

उ०— यह तो स्व-प्रेम ही है जो उनसे ऐसा कराता है। यह बिलकुल उसी प्रकारका प्राणिक प्रेम है जो लोगोंमें बाहरी दुनियामें होता है (किसीसे अपने ही लिये प्रेम करना, अपने प्रेमपात्रके लिये नहीं)। यहां साधनामें भला उसका क्या लाभ? वह केवल बाधक ही हो सकता है।

१५-१०-१९३५

* * *

वास्तवमें मन नहीं बल्कि निम्नतर प्राण प्रणामके बाद विक्षुब्ध हो उठता है —बाकी सब चीजें सुझावोंके रूपमें अन्दर आती हैं, क्योंकि इस विक्षोभके द्वारा उनके लिये दरवाजा खुल गया होता है। साधना नष्ट करनेके लिये विरोधी शक्तिके पास कुछ निश्चित युक्तियां हैं और उनमेंसे एक है निम्नतर प्राणमें इस धारणाका होना कि प्रणामके समय पूर्ण रूपसे आशीर्वाद नहीं मिला है या मुस्कराहट नहीं मिली है या ठीक तरहकी मुस्कराहट नहीं मिली है या माताजीका चेहरा गंभीर और कठोर था। जो कोई इस भावको अपने अन्दर आने देता है उसीके मनमें तुरत विद्रोह, अवसाद या असन्तोषके सुझाव आ घुसते हैं। उसके लिये बस यही करना आवश्यक है कि इस भावको स्वीकार करनेकी समस्त वृत्तिको यह जानते हुए कि यह विरोधी शक्तिके यहांसे आई हुई विषकी बूंद है, धैर्यपूर्वक निकाल फेंका जाय।

२८-७-१९३६

* * *

निश्चय ही तुम्हारी कल्पना ही तुम्हें यह समझाती है कि माताजी प्रणामके समय तुम्हारे प्रति 'उदासीन' या 'कठोर' थीं। माताजी तो, इसके विरुद्ध, तुम्हें सहायता करनेके लिये आशीर्वाद देती हुई विशेष रूपसे एकाग्र हुई थीं। यहांपर कुछ साधक ऐसे हैं जो, जब-जब माताजी एकाग्र होती हैं तब-तब यह पूछते हैं कि "आज आप मेरे ऊपर नाराज और कठोर क्यों थीं?" फिर कुछ दूसरे लोग ऐसे हैं जो, नित्यके साधारण व़र्तावमें जरा-सा भी अन्तर पड़ा कि, चिल्ला उठते हैं और यह मान बैठते हैं कि निश्चय ही उसमें माताजीका कोई उद्देश्य होगा और वह उद्देश्य निश्चय ही उनके प्रतिकूल होगा, उदासीनता या अप्रसन्नताका कोई उद्देश्य होगा, और बहुत बार जब वे उन्हें उत्साह देनेके लिये रोजसे अधिक हंसती हैं तब वे उन्हें लिखते हैं कि आज आप बहुत गंभीर थीं और जरा भी नहीं हंसी। इस छूतकी बीमारीको अपने पास मत फटकने दो और उनके जैसा मत बनो; क्योंकि जो सहायता दी जाती है उसके लिये यह बात बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न करती है और प्राणगत भीषण उपद्रवोंके लिये दरवाजा खोल देती है। विश्वास और भरोसा रखते हुए महज श्रीमांकी सहायता की ओर अपनेको खोलो, यही उनसे अपनेको बहुत दूर अनुभव न करनेका सबसे अच्छा उपाय है।

श्रीमांको उस समय यह नहीं मालूम था कि 'अ' के साथ तुम्हारी बातचीत हुई थी। अतएव तुम्हारा यह अनुमान है कि वही उनकी काल्पनिक नाराजगी का कारण होगा, बिलकुल निराधार है। यह समझना एकदम गलत है कि माता-जी साधकोंपर अप्रसन्न और क्रुद्ध होती हैं और उस भावको अपने कार्योंके द्वारा प्रणामके समय प्रकट करती हैं। भगवान् या श्रीमांके विषयमें ऐसे विचार बनाना एक बहुत बड़ी भूल है और तुम्हें ऐसी बातके चंगुलमें नहीं फंसना चाहिये।

५-७-१९३५

* * *

प्रणामके समय जब माताजी नहीं हंसती-मुस्करातीं तो उसका कारण कोई नहीं होता; बल्कि करीब-करीब हर प्रसंगमें ऐसा कारण होता है जिसका साधक के किसी कार्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता,—जो क्रिया हो रही है उसमें तल्लीन या एकाग्र होनेके कारण यह होता है। जैसा कि तुम कहते हो, उससे

कुछ भी नहीं आता-जाता — मुख्य बात यह है कि जो ग्रहण करनेकी चीज है उसे ग्रहण किया जाय।

४-११-१९३४

* * *

यह समझना भूल है कि माताजीके न मुस्करानेका मतलब है उनकी अप्रसन्नता या साधकके अन्दरकी किसी अनुचित चीजकी नामंजूरी। अधिकतर यह महज तल्लीनताका या आन्तरिक एकाग्रताका चिह्न होता है। इस मौकेपर माताजी तुम्हारे अन्तरात्मासे एक प्रश्न पूछ रही थीं।

३१-७-१९३८

* * *

यह बहुत शोचनीय बात है कि तुमने इस विचारको अपने अन्दर आने तथा तुम्हें अस्तव्यस्त करने दिया कि माताजी तुम्हारे साथ कड़ाईसे व्यवहार कर रही हैं। ये विचार कभी सच्चे नहीं होते और जब कभी कोई साधक इनमें ग्रस्त हो जाता है तो पुरानी चेष्टाएं उसपर सदा ही आक्रमण करती हैं। माताजी का प्रेम और दया तुम्हारे लिये सदा वैसे-के-वैसे रहे हैं और सदा वैसे-के-वैसे रहेंगे, अतः तुम्हें इस विचारको कभी प्रश्रय नहीं देना चाहिये कि वे अप्रसन्न या कठोर हैं। परन्तु चाहे जो भी भूलें या कठिनाइयां हों, हमारी सहायता तुम्हारे साथ रहेगी और माताजीकी शक्ति तुम्हें उनसे बाहर निकाल लाने और उस चैत्य उन्मीलन एवं शान्तिको फिरसे प्राप्त करानेके लिये कार्य करेगी जो तुम्हें इस बार बहुत दिनोंतक प्राप्त रहे और जो कुछ समय बाद अवश्य ही लौट आयेंगे तथा स्थायी हो जायंगे।

१९-११-१९३५

* * *

प्र०— जब लोग देखते हैं कि माताजी मुसकरानेकी जगह गंभीर दिखाई दे रही हैं तो वे व्याकुल हो उठते हैं। उन्हें यह अनुभव न करना कठिन लगता है कि उन्होंने किसी-न-किसी प्रकार माताजी-को नाराज किया है।

उ०— इस कठिनाईका सारा आधार ही गलत है। यह विचार गलत है कि यदि माताजी गंभीर हैं तो अवश्यमेव उसका कारण "मुझ" से उनकी किसी प्रकारकी व्यक्तिगत नाराजगी ही है — "मुझ" का मतलब है ऐसा हर एक साधक जो शिकायत करता है कि नाराजगीका कारण "मैं" ही हूँ। मैंने इन शिकायतोंपर सौ बार यह बात दुहरायी है कि असलमें ऐसा नहीं है, किन्तु कोई भी व्यक्ति इस विचारको छोड़ना नहीं चाहता — यह अहंके लिये इतना बहुमूल्य है। माताजीकी गम्भीरताका कारण होता है — किसी कार्यमें जिसे वे कर रही होती हैं एक प्रकारकी तल्लीनता अथवा, बहुत बार, वातावरणमें विद्यमान विरोधी शक्तियोंका कोई प्रबल आक्रमण।

१६-४-१६३५

* * *

प्र०— कभी-कभी माताजी हमपर मुसकानके साथ दृष्टि डालती हैं मानों वे प्रसन्न हों; किन्हीं और समयोंमें बिलकुल भिन्न प्रकारसे, कुछ गम्भीर ढंगसे।

उ०— ऐसा क्यों न हो? क्या माताजी गम्भीर, अपनेमें ही लीन नहीं हो सकतीं? अथवा क्या तुम सोचते हो कि साधकोंसे नाराजगी ही उन्हें ऐसा बना सकती है?

१८-६-१६३३

* * *

प्र०— जब लोग प्रणामके लिये माताजीके सामनेसे गुजर रहे होते हैं तो कभी-कभी व्यक्ति वातावरणसे एक प्रकारका विषाद पकड़ लेता है; वह मुख्यतया माताजीके मुसकराने या न मुसकरानेसे सम्बद्ध होता है।

उ०— उसका कारण यह है कि बहुत-से साधक इस विचारसे ओतप्रोत हैं। माताजीसे कुछ ग्रहण करनेके लिये शान्त और एकाग्र रहनेके स्थानपर वे यह देखनेके लिये उनपर दृष्टि डाल रहे होते हैं कि वे मुसकराती हैं या नहीं अथवा कैसे मुसकराती हैं या क्या करती हैं। अतएव वायुमण्डल इसी चीजसे भरा है।

६-१०-१६३३

* * *

प्र०— जब भौतिक सत्ताका श्रीमांकी दृष्टिसे मिलन होता है तो वह उनकी मुसकानकी आवश्यकता अनुभव करती है। क्या यह एक प्रकारकी कामना है?

उ०— हां। जब मुसकान प्राप्त न हो तो तुम्हारे अन्दर किसी प्रकारकी खलबली नहीं होनी चाहिये (यह जानते हुए कि उसका अभाव अप्रसन्नताका या इस प्रकारकी किसी भी वस्तुका चिह्न नहीं) —तब उसे प्राप्त करनेका आनन्द अधिक शुद्ध होगा।

११-१२-१९३३

***

निश्चय ही तुम्हें अपने प्राणकी मांगको और तुम्हारी साधनामें वह जो गड़बड़ी उत्पन्न कर रही है उसको दूर फेंक देना चाहिये। माताजी सबकी ओर मुस्कराती हैं; यह बात नहीं है कि कुछ लोगोंके लिये उसे रोक लेती और दूसरोंको बांटती हैं। लोग जो अन्यथा समझते हैं उसका कारण यह होता है कि कोई प्राणगत विक्षोभ, अवसाद या मांग अथवा ईर्ष्या, द्वेष या प्रतियोगिता करनेकी कोई भावना उनकी दृष्टिको विकृत कर देती है।

२७-२-१९३३

***

उस दिन माताजी किसीके लिये नहीं मुस्कराईं। वह व्यक्तिगत रूपसे तुम्हारे लिये ही नहीं था। एक विशेष प्रकारकी शक्ति उनके अन्दर कार्य कर रही थी जिसने सामान्य तरीकेसे कार्य नहीं किया।

१०-४-१९३४

***

यदि माताजी प्रणामके समय साधकके सिरपर अपना हाथ नहीं रखतीं तो इसका मतलब यह नहीं है कि वे नाराज हैं—उसके एकदम दूसरे कारण हो सकते हैं। लोगोंका यही विचार है पर वे इस विषयमें एकदम गलत हैं। कुछ दिन हुए माताजीने दो दिनोंतक प्रणामके समय एक साधिकाके सिरपर

अपना हाथ नहीं रखा। लोगोंने उसकी खिल्ली उड़ायी और उसे नीची नजरसे देखा। परन्तु सच बात यह थी कि उसे अद्भुत अनुभूतियां हो रही थीं और प्रणामके समय साधारण दिनोंकी अपेक्षा वह माताजीसे अधिक शक्ति पा रही थी। यह समूची भावना ही एक भूल है।

२-८-१९३३

***

प्र०– यदि अहं माताजीके मुसकराने या हमारे सिरपर हाथ रखनेसे चूक जानेके अनुसार अपने विद्रोहका निश्चय करता है तो यह कैसी बात है कि कई बार वह उनके ऐसा करनेसे चूक जानेपर भी शांत रह पाता है?

उ०– अहं इन चीजोंके अनुसार कार्य तभी करता है जब वह प्रबल होता है; जब वह प्रबल नहीं होता या वहां होता ही नहीं तो ये प्रेरक भाव कोई प्रभाव नही उत्पन्न कर सकते। सारा प्रश्न यह है कि क्या सत्ताका नेतृत्व अहं करता है या और कोई भाग। यदि नेतृत्व उच्चतर चेतना करती हो तो चाहे माताजी जरा भी न मुसकरायें या हाथ बिलकुल न रखें तो भी अहंमय प्रतिक्रिया कतई नहीं होगी। एक बार एक साधिकाके साथ ऐसा ही हुआ क्योंकि माताजी समाधिमें थीं — परिणाम यह हुआ कि उस साधिकाको उससे अधिक बल एवं आनन्द प्राप्त हुआ जो माताजीके पूरा हाथ रखनेपर उसे पहले कभी भी प्राप्त हुआ था।

११-११-१९३५

***

प्र०– कल ऐसा हुआ कि प्रणामके समय माताजीने मुझे मेरे सिरपर हाथ रखकर आशीर्वाद नहीं दिया। किन्तु मैं प्रतिदिनकी अपेक्षा अधिक आनन्दित और प्रफुल्लित हुआ। इससे मुझे अधिक आह्लाद क्यों मिला? ऐसा केवल मेरे साथ ही क्यों होता है?

उ०– ऐसी बात नहीं। दूसरोंके साथ भी ऐसा हो चुका है। उनमेंसे कम-से-कम एक (साधिका) को ऐसा भान हुआ था। उसे एक ऐसे अवसरपर माताजी-

की शक्ति प्रतिदिनकी और साधारण अवसरोंकी अपेक्षा भी अधिक अपने अन्दर प्रवाहित होती अनुभूत हुई थी।

* * *

यह ठीक नहीं है। ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें माताजी बिलकुल नहीं मुस्कुराईं और न (समाधिमें रहनेके कारण) हाथ ही रखा, फिर भी समुचित और ग्रहणशील मनोभाव बनाये रखनेके कारण साधकने पहलेके किसी भी समयसे बहुत अधिक ग्रहण किया।

* * *

माताजीकी रहस्यपूर्ण मुस्कानके विषयमें तुम्हारा ख्याल तुम्हारी अपनी कल्पना है—माताजी कहती हैं कि वह अत्यन्त करुणाके साथ मुस्कुराई थीं और उन्होंने तुम्हारे प्रति यथासम्भव अत्यन्त साहाय्यपूर्ण मनोभाव ही ग्रहण किया था। मैंने तुम्हें पहले भी लिखा था कि तुम्हें अपने और श्रीमांके बीच इन सब कल्पनाओंको कभी नहीं रखना चाहिये; क्योंकि जो सहायता दी जाती है उसे ये तुमसे दूर धकेल देती हैं। ये कल्पनाएं और तुम्हारे ऊपर उनका प्रभाव—ये सब उन्हीं प्राणमय शक्तियोंके सुझाव हैं जो तुम्हें इसलिये उद्विग्न कर रही हैं कि तुम इस उपद्रवसे मुक्त न हो जाओ।

मेरी सहायता और श्रीमांकी सहायता मौजूद है—तुम्हें बस इन सबसे मुक्त होनेके लिये उसकी ओर अपनेको खोल रखना होगा।

२७-३-१९३३

* * *

तुम ऐसा क्यों सोचते हो कि माताजी नाराज होंगी? हमने स्वयं तुमसे कहा है कि प्रत्येक चीज साफ-साफ लिखो और कोई चीज मत छिपाओ—सो, इसकी जरा भी सम्भावना नहीं है कि जो कुछ तुम लिखोगे उससे वे असन्तुष्ट होंगी। इसके अलावा, वे साधना और मानवीय प्रकृतिकी कठिनाइयोंको खूब अच्छी तरह जानती हैं और अगर साधकमें सदिच्छा और सच्ची अभीप्सा हो, जैसी कि तुममें है, तो किसी क्षण कोई ठोकर खाने या भूल कर बैठनेकी कारण साधकके प्रति उनके मनोभावमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। माताजीका

ख्याल है कि तुम्हें गलत धारणा हो गयी होगी कि उन्होंने बस थोड़ा-सा ही हाथ रखा —— क्योंकि उन्होंने ठीक वैसा ही तुम्हारे साथ किया जैसा कि बराबर करती हैं और ऐसा कोई कारण नहीं था जिससे उसमें कोई परिवर्तन हो।

१७-४-१९३३

* * *

मैं बिलकुल नहीं समझ पाता कि तुम यह क्यों सोचते हो कि, चाहे किसी भी कारणसे क्यों न हो, माताजी तुमसे नाराज थीं। वे तुम्हारे साथ जैसी रहा करती हैं, ठीक वैसी ही थीं। अगर तुमने कोई भूल भी की तो भी अब उनकी प्रवृत्ति यही है कि वे भूलोंकी उपेक्षा करें और सब कुछ ठीक करनेके लिये दिव्य ज्योति तथा साधकके चैत्य पुरुषके दबावके अधीन छोड़ दें। परन्तु तुमने जो 'अ' के साथ फ्रेंच क्लास बन्द कर देना चाहा था उसके कारण या ऐसे ही किसी तुच्छ कारणसे भला वे क्या कभी नाराज होंगी? तुम अपना क्लास जारी रखोगे या बन्द कर दोगे —— यह एक ऐसे ब्योरेकी बात है जिसे तुम्हारे मनकी अवस्था तथा तुम्हारी साधनाकी अवस्थाको देखते हुए तै करना होगा और यह दोनों ही दृष्टियोंसे तै की जा सकती है। यह आश्चर्यकी बात है कि तुम यह समझो कि ऐसी मामूली बातपर भी माताजी नाराजी दिखा सकती हैं। तुम्हें इस तरहकी स्नायविक दुर्बलतासे मुक्त होना चाहिये और कल्पनाओंके द्वारा अपनी अच्छी स्थितिको नहीं बिगाड़ना चाहिये —— कारण, यह बस एक कल्पना है क्योंकि इसके पीछे कोई भी सत्य नहीं। अधिक पूर्ण विश्वास बनाये रखो और जहां कोई कठिनाई नहीं है वहां अपने मनको कठिनाइयां पैदा मत करने दो।

* * *

चायके सम्बन्धमें माताजी तनिक भी नाराज नहीं थीं; उसके लिये भला वे क्यों नाराज होतीं? और वे तुम्हारे ऊपर भी एकदम नाराज नहीं थीं। रोजकी तरह ही वे तुम्हारी ओर मुस्कुराईं —— तुम शायद और कोई बात सोच रहे होगे और उसे देखा नहीं होगा। अतएव तुम्हारे उदास होनेका कोई कारण नहीं है —— तुम्हें इन सब विचारोंको एक ओर फेंक देना चाहिये, माताजी ऐसी तुच्छ बातोंपर नाराज नहीं हुआ करतीं।

३०-११-१९३३

* * *

एकदम ठीक, मैं कहता हूँ "माताजीका मुस्कुराना या न मुस्कुराना तुम्हारे अन्दरकी किसी चीजसे कोई सम्बन्ध नही रखता।" मैं यह भी कहता हूँ कि "तुम्हारा स्वयं सचेतन होना ही, माताजीका कोई असन्तोष नहीं, तुम्हें सचेतन बनाता है — उनकी महज उपस्थिति ही वह चीज है जो तुम्हारे लिये अपने विषयमें सचेतन होना सम्भव बनाती है, कोई नाराजी, कोई उदासी-भरी दृष्टि ऐसा नहीं करती।"

***

ऐसी कोई सम्भावना नहीं कि माताजी तुमपर वैसी "दृष्टि" डालें जिससे तुम डर रहे हो। अपनी ओरसे किसी ऐसी चीजकी कल्पना मत करो जो है ही नहीं — कितने ही लोग फिर भी ऐसा कर रहे हैं!

***

निस्सन्देह, यह पुरानी प्राण-सत्ताकी खड़ी की हुई पुरानी बाधा है जो दूर की जा रही है और उसीके कारण यह झुँझलाहट तथा माताजीकी अप्रसन्नताके विषयमें ये सुझाव उत्पन्न हो रहे हैं। क्योंकि, सच पूछा जाय तो, श्रीमांके मनमें तुम्हारे विरुद्ध किसी प्रकारका असन्तोष नहीं था और यह विचार साधारणतया साधकके मनमें दिया हुआ उस शक्तिका सुझाव होता है जो चले जानेकी इच्छा या कोई अन्य प्रकारका असन्तोष या अवसाद उत्पन्न करना चाहती है। यह एक अद्भुत ढंगका भ्रम है जिसने, मानो, आश्रमके वातावरणमें अपनी जड़ जमा ली है और यह व्यक्तिगत प्राण-सत्ताके द्वारा उतना पोषण नहीं पाता जितना कि उन शक्तियोंके द्वारा पाता है, जो अगर सम्भव हो तो, साधनाको ही भंग कर देनेके लिये उसपर कार्य करती हैं। इस चीजको तुम्हें जरा भी प्रश्रय नहीं देना चाहिये अन्यथा यह चाहे जितना भी उपद्रव खड़ा कर सकती है। समुचित नीदका अभाव स्वभावतः ही स्नायुओंमें थकावटकी एक अवस्था ले आता है और वह थकावट इन चीजोंके आनेमें सहायता करती है — क्योंकि ये चीजें भौतिक चेतनाके भीतरसे आक्रमण करती हैं और अगर किसी तरह वह थकावट उस चेतनाको तामसिक बना दे तो उनका प्रवेश करना अधिक आसान हो जाता है।

१५-९-१९३६

***

माताजीका रुख तुम्हारे प्रति किसी तरह बदला नहीं है और न वह तुमसे निराश ही हुई हैं —— वह तो स्वयं तुम्हारी ही मानसिक अवस्थासे आया हुआ एक सुझाव है और माताजीके ऊपर असन्तोष और अयोग्यताका अपना झूठा बोध आरोपित कर रहा है। अपना भाव बदलने या निराश होनेका उनके पास कोई कारण नहीं है, क्योंकि वे तुम्हारे अन्दरकी प्राणगत बाधाओंको हमेशासे जानती हैं और फिर भी उन्होंने आशा की थी, और अब भी करती हैं कि तुम इन्हें जीत सकोगे। कुछ चीजोंको, जो मानव-स्वभावके मूलमें ही निहित प्रतीत होती हैं, परिवर्तित करनेकी पुकार करना सबसे अच्छे साधकोंके लिये भी कठिन सिद्ध हो रहा है, परन्तु कठिनाईका होना असमर्थताका प्रमाण नहीं है। चले जानेकी ठीक इस प्रेरणाको ही तुम्हें अपने अन्दर घुसने न देना चाहिये —— क्योंकि जबतक ये शक्तियां यह समझती हैं कि वे ऐसा करा सकती हैं तबतक वे इस बातपर यथाशक्ति जोर देती रहेंगी। तुम्हें अपने उस अंगमें माताजीकी शक्तिकी ओर अधिक खुलना भी चाहिये और इसके लिये माताजीके असन्तोष या उनके प्रेमके अभावसे सम्बन्धित इस सुझावसे छुटकारा पाना आवश्यक है, क्योंकि यही प्रणामके समय प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। हमारी सहायता, सहारा, प्रेम सब पहलेकी तरह ही बराबर मौजूद हैं —— उनकी ओर अपनेको खुला रखो और उनकी सहायतासे इन सुझावोंको दूर भगाओ।

२६-१-१९३७

* * *

माताजीने ठीक रोजकी तरह ही अपना हाथ रखा था। और केवल इतना ही नहीं, बल्कि ज्यों ही उन्होंने देखा कि तुम्हारी आन्तर स्थितिको विशेष सहायता की आवश्यकता है त्यों ही उन्होंने सहायता देनेकी कोशिश की। परन्तु, जब कि तुम इस अवस्थामें हो, यह दुर्भाग्यकी बात है कि तुम दुःख-शोककी भावनामें इतने अधिक डूब गये हो कि ऐसा और कोई भी अनुभव नहीं कर पाते जो कि दुःख-कष्टमें सहायता या वृद्धि नहीं करता। हमारी सहायता सर्वदा तुम्हें प्राप्त है; ऐसा कोई कारण हर्गिज नहीं है कि हम उसे वापस ले लें। अगर कोई आश्रममें घोर विपत्तिमें होता है तो वह विपत्ति हमारे ऊपर पड़ती है और उसमें भी अधिक माताजीके ऊपर —— अतएव यह मानना मूर्खतापूर्ण है कि किसी आदमीका दुःख देखकर हमें आनन्द हो सकता है। दुःख-कष्ट, बीमारी, प्राणिक तूफान (कामना-वासना, विद्रोह, क्रोध) इत्यादि इतनी अधिक विपरीत चीजें हैं जिन्हें दूर करनेका हम प्रयास कर रहे हैं और इसलिये हमारे

कार्यमें बाधाएं हैं। जितना शीघ्र सम्भव हो, उनका अन्त कर देना ही एकमात्र संकल्प है जिसे हम रख सकते हैं, न कि उन्हें बनाये रखनेकी इच्छा।

काश, जब ये तूफान आते हैं तब तुम यदि कहीं अपने अन्दर इनसे अलग हट आनेकी शक्ति प्राप्त कर पाते, जो प्रेरणा या विचार उठते हैं उनके प्रवाहमें न बह जाते! तब ऐसी कोई चीज होती जो सहारेको अनुभव कर पाती और इन शक्तियोंके विरुद्ध प्रतिक्रिया करनेमें भी समर्थ होती।

२८-६-१९३५

* * *

यह पूर्णरूपसे गलत बात है कि आज माताजी तुम्हें दूर ठेल रही थीं। ऐसे दिन हो सकते हैं जब वे गम्भीरतामें डूब जायं और इसलिये बाह्य रूपमें उन्हें ध्यान न रहे कि उनका हाथ क्या कर रहा है। परन्तु आज तो उन्होंने विशेष रूपसे तुम्हारी ओर ध्यान दिया था और प्रणामके समय शान्ति और समता लाने और कठिनाईको दूर करनेके लिये तुम्हारे ऊपर वे शक्तिका प्रयोग कर रही थीं। यदि उन्होंने अपनी हथेली या अन्य किसी चीजसे कार्य किया भी हो तो वह इसी कार्यके लिये। इस विषयमें कोई भूल नहीं हो सकती, क्योंकि वे आज अपने कार्य और उद्देश्यके विषयमें विशेष रूपसे सचेतन थीं। हुआ यह होगा कि तुम्हारे अन्दरकी किसी चीजने दबावका अनुभव किया और हस्तक्षेप करके इस सुझावके द्वारा तुम्हारे भौतिक मनको प्रभावित किया होगा कि माताजी कठिनाईको नहीं, तुम्हें ही धकेल रही हैं। यह बहुत स्पष्ट उदाहरण है कि साधकोंके लिये गलत अनुमान करना और माताजी जो कुछ कर रही हों उसको उल्टे रूपमें समझना कितना आसान है। अनेक बार जब उन्होंने उनकी कठिनाइयोंको बाहर ढकेलते हुए उन्हें सहायता देनेके लिये अत्यधिक एकाग्रताकी तब उन्होंने (साधकोंने) उन्हें लिखा—"आज सवेरे आप मेरे प्रति बहुत कठोर और नाराज थीं।" इन गलत प्रतिक्रियाओंसे बचनेका एकमात्र उपाय यह है कि माताजीपर पूर्ण चैत्यपुरुषोचित आस्था रखी जाय और यह विश्वास किया जाय कि माताजी जो कुछ कर रही हैं वह सब उनके भलेके लिये है और भगवती माताके तत्त्वावधानमें उनके होनेके कारण कर रही हैं, उनके विरुद्ध कुछ नहीं कर रही हैं। तब इस तरहकी कोई भी बात घटित नहीं होगी। जो लोग ऐसा करेंगे वें उनकी एकाग्रताकी, अगर वे अपनी तल्लीनताके कारण हाथसे न छुएं या न मुस्कुरायें तो भी, पूरी सहायता प्राप्त कर सकते हैं। इसी कारण मैं लगातार साधकोंसे कहता आ रहा हूं कि प्रणामके

समय माताजीके बाह्य स्वरूप या क्रियाओंका वे अपना निजी अर्थ न लगावें —क्योंकि ये अर्थ सर्वदा ही गलत होंगे और निराधार अवसाद और आक्रमणके लिये दरवाजा खोल देंगे।

२३-१-१९३५

* * *

मुस्कान और स्पर्श-सम्बन्धी इस आवेशको जीतना होगा और इसका त्याग करना होगा, क्योंकि यह साधकोंको विचलित करने और उनकी उन्नतिको रोकनेके लिये विरोधी शक्तियोंका एक साधन बन गया है। मैंने बहुतसे ऐसे प्रसंग देखे हैं जिनमें साधक अच्छी तरह चल रहा है या यहांतक कि ऊंची अनुभूतियां पा रहा है और उसकी चेतनामें परिवर्तन आ रहा है और अकस्मात् उसकी कल्पना आ उपस्थित होती है और सब कुछ अस्त-व्यस्तता, विद्रोह, शोक-संताप और निराशामें परिणत हो जाता है और आन्तरिक कार्य रुक जाता है और खतरेमें पड़ जाता है। अधिकतर क्षेत्रोंमें इस आक्रमणके साथ-साथ इन्द्रियों-में भ्रम उत्पन्न होता है जिससे यदि माताजी रोजकी अपेक्षा अधिक मुस्कुराती हैं अथवा अपनी सारी शक्ति लगाकर आशीर्वाद देती हैं तो भी उनसे कहा जाता है कि "आप नहीं मुस्कुराईं, आपने स्पर्श नहीं किया" या "आपने मुश्किलसे स्पर्श किया।" फिर ऐसे उदाहरण भी बहुतेरे देखे गये हैं—माताजी मुझसे कहती हैं, "मैंने 'अ' को घबड़ाया हुआ देखा या उसकी ओर एक सुझाव आते हुए देखा और मैं उसकी ओर बहुत करुणाके साथ हंसी और उसे आशीर्वाद दिया", और फिर भी बादमें हम उससे एकदम उलटी बात, "आप नहीं मुस्कुराईं आदि" की स्थापना करनेवाला पत्र पाते हैं। और तुम सब माताजीपर झूठका आरोप करनेके लिये तैयार बैठे हो, क्योंकि तुमने समझा कि तुमने देखा और तुम्हारी इन्द्रियोंको कोई धोखा नहीं हो सकता! मानो विक्षुब्ध मन इंद्रिय-दर्शनको भी विकृत न करता हो! मानो मनोविज्ञानका यह एक सामान्य तथ्य न हो कि मनुष्य अपनी मानसिक स्थिति या विचारके अनुसार धारणा बनाता है! यदि मुस्कान या स्पर्श कम भी हों तो ये ऐसे उलाहनोंके कारण नहीं होने चाहियें यदि उनके पीछे कोई इरादा न हो और हमने तुम सबको बार-बार चेतावनी दी है कि उनमें एकदम कोई भी इरादा नहीं है। निःसन्देह, कारण यह है कि साधक माताजीके प्रति प्राणगत मानवीय प्रेमकी क्रियाओंका प्रयोग करते हैं और साधारण प्राणगत मानवीय प्रेम अविश्वास, गलतफहमी, ईर्ष्या, क्रोध और निराशा आदि विरोधी गतियोंसे भरा होता है। परन्तु योगमें

यह अत्यन्त अवांछनीय है—क्योंकि यहां माताजीपर विश्वास, उनके दिव्य प्रेमपर श्रद्धा रखना बहुत आवश्यक है; जो कोई चीज इसे अस्वीकार करती या विकृत करती है वह बाधाओं और अनुचित प्रतिक्रियाओंके लिये दरवाजा खोलती है। ऐसी बात नहीं कि प्राणमें प्रेम होना ही नहीं चाहिये। बल्कि उसे इन सब प्रतिक्रियाओंको दूर कर अपनेको शुद्ध करना चाहिये और चैत्य पुरुषके विश्वास और आस्थायुक्त आत्मदानको अपने अन्दर स्थापित करना चाहिये। तब फिर पूरी-पूरी उन्नति हो सकती है।

३०-६-१९३५

* * *

इन सब चीजोंका पूर्णरूपेण त्याग होना चाहिये। जब ये उठती हैं तब प्रायः ही चेतनाको इतना अधिक ऐंठ देती हैं कि कभी-कभी तो स्वयं दृष्टिको और बराबर ही बोधको भ्रमपूर्ण बना देती हैं। माताजीने निरन्तर देखा है कि जिन लोगोंकी ओर वे मुस्कुराई थी वे उनसे कहते हैं कि वे घूर रही थीं और कठोर थीं या वे असन्तुष्ट थीं जब कि उनमें कोई असन्तोष नहीं था। और फिर उसी आधारपर वे एकदम गलत रास्तेपर चले जाते हैं।

१०-४-१९३३

* * *

प्र०— मैं देखता हूँ कि हर सायंकाल कोई सत्ता यह कहती हुई मुझपर झूठे सुझाव फेंकती है; "भगवान् तुम्हें पसन्द नहीं करते।" हालमें उन सुझावोंकी आग्रह-शक्ति बढ़ गई है। मैं उन्हें बाहर फेंकनेके लिये भरसक यत्न करता हूँ पर कुछ भी सफलता नहीं मिलती। मेरी प्रार्थना है कि माताजी इस सत्ताको मेरे पास आनेसे सदाके लिये रोक दें!

वह सत्ता क्या है? किसी प्राणिक लोककी है क्या?

उ०— हां, वह प्राणिक लोकसे आनेवाली एक मिथ्यात्वकी सत्ता है जो यह यत्न करती है कि व्यक्ति उसके झूठे सुझावोंको सत्य मान ले और इस प्रकार उसकी चेतना गड़बड़ा जाय, वह सरल मार्ग छोड़ दे और या तो विषादमें पड़ जाय या फिर माताजीके विरुद्ध हो जाय। यदि तुम उसे सदा ही बाहर फेंकते

रहो, उसपर कान देने या विश्वास करनेसे इन्कार करते रहो तो वह लुप्त हो जायगी।

३०-३-१९३३

माताजीकी झूठी आलोचनाको सुनना उचित नहीं

'अ' को इस विषयमें सावधान कर देना लाभदायी हो सकता है कि वह (माताजीके विषयमें) इस तरहकी मूर्खतापूर्ण टिप्पणियां न सुने, भले ही वे किसी भी व्यक्तिकी क्यों न हों, और, अगर वह उन्हें सुने तो उनका प्रचार करनेका प्रयास न करे। वह बहुत अच्छी तरह उन्नति कर रहा था, क्योंकि उसने अपनेको माताजीकी ओर खोल रखा था; अगर वह इस तरहकी मूर्खता अपने मनमें घुसने दे तो वह उसे प्रभावित कर सकती है, माताजीकी ओरसे उसे बन्द कर सकती है और उसकी उन्नति रोक सकती है।

'ब' का जहांतक सम्बन्ध है, यदि (माताजीके विषयमें) उसने ऐसी बात कही या सोची तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इसी कारण वह हालमें इतनी अधिक बीमारी भोगता रहा है। यदि कोई विरोधी शक्तियोंका प्रचारकर्त्ता बन जाय और उनके मिथ्यापनको स्वीकार करे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उसके भीतर कोई चीज बिगड़ जाय।

७-१-१९३२

माताजीकी बीमारीके कारण

माताजीपर बहुत उग्र आक्रमण हुआ है और इस बातको दृष्टिमें रखते हुए कि २४ नवम्बरका दिन उनके लिये कितना आयासपूर्ण होगा उन्हें अपनी शक्तियोंका प्रयोग पूर्ण मितव्ययतासे करना होगा। इस बीच उनके लिये हर एकसे मिलने और सबके लिये द्वार खुला रखनेका प्रश्न बिलकुल नहीं उठता — एक प्रातःकाल ही इस प्रकारका कार्य करनेसे वे बिलकुल थककर चूर हो जायंगी। तुम्हें याद रखना होगा कि उनके लिये दूसरोंके साथ इस प्रकारका भौतिक सम्पर्क कोई निरी सामाजिक या घरेलू भेंट नहीं जिसमें कुछ-एक ऐसी ऊपरी क्रियाएं करनी होती हैं जिनमें कुछ इधर-उधर होनेपर भी कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। उनके लिये इसका अर्थ है एक प्रकारका आदान-प्रदान, अपनी शक्तियोंको दूसरोंपर उंडेलना और उनसे अच्छी, बुरी और मिश्रित वस्तुओंको ग्रहण करना। इस क्रिया में बहुधा समायोजन और

बहिष्करणका बड़ा भारी श्रम करना पड़ता है और इससे सभी व्यक्तियोंके तो नहीं पर बहुतोंके मामलेमें उनके शरीरपर कठोर तनाव पड़ता है। यदि केवल दो या तीन व्यक्तियोंका ही प्रश्न होता तो वह एक भिन्न बात होती; पर यहां तो सारे आश्रमका प्रश्न है, माताजीने अपने दरवाजे खोले नहीं कि यहांका प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी मांग लादनेके लिये तैयार बैठा है। निश्चय ही तुम, उनके स्वास्थ्य और सामर्थ्य लाभ करनेसे पहले, उनपर यह सब भार नहीं डालना चाहते! माताजीने अपने शरीर या स्वास्थ्यकी उसीकी खातिर कभी जरा भी परवा नहीं की और उनके शरीर या स्वास्थ्यकी जो क्षति हुई है उसका एक कारण यह उदासीनता ही रही है, चाहे है यह केवल एक बाहरी कारण ही। अतएव स्वयं कामके हितकी दृष्टिसे भी मुझे इस बातपर आग्रह करना होगा कि वे कार्यका पुनः आरम्भ धीमे-धीमे ही करें और शुरूमें केवल उतना ही काम करें जितना उनका स्वास्थ्य सहन कर सके। मुझे लगता है कि जो भी लोग उनका कुछ ख्याल करते हैं उन सबको उसी प्रकार अनुभव करना चाहिये जिस प्रकार मैं करता हूँ।

१२-११-१६३१

* * *

मैंने जल्दी ही लिखनेकी आशा की थी, परन्तु मैं लिख न सका। अतएव, चूंकि आज सवेरे यह पत्र तुम्हें भेजनेका मैंने वादा किया है इसलिये मैं अभी दूसरी बातके विषयमें, बस इतना ही दुहराऊंगा कि मैंने यह नहीं कहा है कि किसी भी अंशमें तुम या साधारण रूपमें साधकगण माताजीकी बीमारीके कारण थे। एक दूसरे आदमीको, जिसने उसी व्यक्तिगत स्थितिसे उसी तरहकी कुछ बात लिखी थी, मैंने उत्तर दिया था कि माताजीकी बीमारी विश्वगत शक्तियोंके साथ संघर्ष होनेके कारण हुई थी जो किसी व्यक्ति या व्यक्तिसमूहके दायरेसे बहुत परे था। मैंने भौतिक सम्पर्कके कारण माताजीपर जोर पड़नेकी बातके विषयमें जो लिखा था वह उनके फिरसे काम आरम्भ करनेसे सम्बन्ध रखता था —और उसका सम्बन्ध उन अवस्थाओंसे है जिनमें काम सबसे उत्तम रूपमें हो सकता है ताकि ये शक्तियां भविष्यमें लाभ न उठा सकें। विगत वर्षोंमें सम्भवतः वस्तुओंके अनिवार्य विकासके कारण अवस्थाएं विशेष रूपमें कठिन रही हैं, जिसके लिये मैं किसीको उत्तरदायी नहीं समझता; परन्तु अब जब कि साधना अत्यन्त भौतिक स्तरपर उतर आयी है जहां अभी भी विरोधी शक्तियां आघात कर सकती हैं, यह आवश्यक है कि कुछ परिवर्तन किया जाय और

वह परिवर्तन साधकोंके आन्तरिक मनोभावमें परिवर्तन आनेपर बहुत उत्तम रूपमें साधित हो सकता है; क्योंकि केवल वही इस समय — जबतक कि निश्चित रूपमें अतिमानसिक ज्योति और शक्तिका अवतरण नहीं हो जाता — बाहरी अवस्थाओंको अधिक आसान बना सकता है। परन्तु इस विषयमें मैं एक पत्रके पुछल्लेमें कुछ नहीं लिख सकता।

१६-११-१९३१

* * *

अभीतक मैंने माताजीकी बीमारीके विषयमें कुछ नहीं कहा है, क्योंकि इसके लिये इस बातपर विस्तारके साथ विचार करनेकी आवश्यकता होगी कि ऐसे कार्यके केंद्रमें जो लोग होते हैं उन्हें क्या-क्या होना होता है, मानवीय या पार्थिव प्रकृति और उसकी सीमाओंमेंसे उन्हें स्वयं अपने ऊपर क्या लेना होता है और रूपान्तरकी क़ितनी अधिक कठिनाइयोंको उन्हें सहना पड़ता है। यह सब अपने-आपमें मनकी समझमें आनेमें ही केवल कठिन नहीं है बल्कि इसे इस तरह लिखना भी मेरे लिये कठिन है जिसमें उन लोगोंकी भी समझमें यह आ जाय जिन्हें हमारी चेतना या हमारी अनुभूति प्राप्त नहीं है। मैं समझता हूँ कि इसे लिखना ही होगा, पर अभी मुझे न तो इसकी आवश्यक रूप-रेखा ही मिली है और न आवश्यक अवकाश।

१९-११-१९३१

* * *

माताजीपर श्रद्धा रखकर बीमारीसे मुक्त हो जाना साधकके लिये बहुत अधिक आसान है, स्वयं माताजीके लिये बीमारीसे मुक्त रहना उतना आसान नहीं —कारण, माताजीके कार्यका स्वरूप ही ऐसा है कि उन्हें साधकोंके साथ अपना तादात्म्य बनाये रखना पड़ता है, उनकी सभी कठिनाइयोंको वहन करना पड़ता है, उनकी प्रकृतिके सारे विषको अपने अन्दर ग्रहण करना पड़ता है और उसके साथ-साथ विराट् पार्थिव प्रकृतिकी समस्त कठिनाइयोंको, मृत्यु और रोगकी सम्भावनातकको अपने ऊपर लेना होता है जिससे कि मुकाबला करके उन्हें खतम किया जाय। अगर वे ऐसा न करतीं तो एक भी साधक इस योगकी साधना करनेमें समर्थ न होता। भगवान्‌को इसलिये मानवत्व ग्रहण करना पड़ता है कि मनुष्य भी भगवान्‌तक ऊपर उठ सके। यह एक सीधा-सा सत्य

हैं; पर मालूम होता है कि कोई भी यह समझ नहीं पाता कि भगवान् यह सब कर सकते हैं और फिर भी मनुष्यसे भिन्न बने रह सकते हैं — फिर भी वे भगवान् बने रह सकते हैं।

८-५-१९३३

* * *

प्र०— आश्रमके लोग यह विश्वास करते हैं कि उनकी कठिनाइयों और बीमारियोंको माताजी अपने ऊपर ले लेती हैं और इसलिये कभी-कभी उन्हें दुःख भोगना पड़ता है। परन्तु बात यदि ऐसी है तब तो, बहुतसे साधकोंसे उनके ऊपर ऐसी चीजोंकी भयंकर बाढ़-सी आ सकती है। मेरे मनमें यह विचार आता है कि इन कठिनाइयों और बीमारियोंमेंसे कुछको मैं अपने ऊपर ले लूं जिसमें मैं भी उनके साथ सुखपूर्वक दुःख भोग सकूं।

उ०— सुखपूर्वक? और चाहे कुछ हो, पर वह तुम्हारे या हमारे लिये कम-से-कम सुख तो हर्गिज न होगा। उसमें सुख नामकी कोई चीज न होगी।

यह एक सच्चे तथ्यका मानो भद्दा और स्थूल वर्णन है। अपना काम करनेके लिये माताजीको अपनी व्यक्तिगत सत्ता और चेतनाके अन्दर सभी साधकोंको लेना पड़ा; इस तरह व्यक्तिगत रूपसे (केवल निर्वैयक्तिक रूपसे ही नहीं) उनके अन्दर ले लिये जानेके कारण साधकोंके सभी संघर्ष और कठिनाइयां, उनकी बीमारियों आदिके साथ, इस रूपमें माताजीके ऊपर आ पड़ीं जिस रूपमें, यदि उन्होंने पृथक्त्वके आत्मसंरक्षणका त्याग न किया होता तो, न आयी होतीं। केवल दूसरोंकी बीमारियां ही उनके शरीरपर होनेवाले आक्रमणोंमें नहीं बदलीं — इनके विषयमें ज्यों ही वे देखतीं कि वे कहांसे और क्यों आयी हैं त्यों ही साधारणतया वे उन्हें दूर फेंक देतीं — बल्कि लोगोंकी आंतरिक कठिनाइयों, विद्रोहों, उनके विरुद्ध क्रोध और घृणाके उद्‌गारोंका भी वही या उससे भी बुरा प्रभाव पड़ा। उनके लिये केवल वही खतरा था (क्योंकि आन्तरिक कठिनाइयां आसानीसे जीती जा सकती हैं), पर जड़तत्त्व और शरीर हमारे योगके दुर्बल या संकटपूर्ण स्थल हैं, क्योंकि यह क्षेत्र आध्यात्मिक शक्ति द्वारा कभी जीता नहीं गया है, पुराने योगोंने या तो इसे यों ही छोड़ दिया या इसपर केवल छोटी-मोटी मानसिक और प्राणिक शक्तिका ही प्रयोग किया, साधारण आध्यात्मिक शक्तिका नहीं। यही कारण था कि आश्रम-वातावरणकी अत्यन्त बुरी

वह परिवर्तन साधकोंके आन्तरिक मनोभावमें परिवर्तन आनेपर बहुत उत्तम रूपमें साधित हो सकता है; क्योंकि केवल वही इस समय — जबतक कि निश्चित रूपमें अतिमानसिक ज्योति और शक्तिका अवतरण नहीं हो जाता — बाहरी अवस्थाओंको अधिक आसान बना सकता है। परन्तु इस विषयमें मैं एक पत्रके पुछल्लेमें कुछ नहीं लिख सकता।

१६-११-१९३१

* * *

अभीतक मैंने माताजीकी बीमारीके विषयमें कुछ नहीं कहा है, क्योंकि इसके लिये इस बातपर विस्तारके साथ विचार करनेकी आवश्यकता होगी कि ऐसे कार्यके केंद्रमें जो लोग होते हैं उन्हें क्या-क्या होना होता है, मानवीय या पार्थिव प्रकृति और उसकी सीमाओंमेंसे उन्हें स्वयं अपने ऊपर क्या लेना होता है और रूपान्तरकी कितनी अधिक कठिनाइयोंको उन्हें सहना पड़ता है। यह सब अपने-आपमें मनकी समझमें आनेमें ही केवल कठिन नहीं है बल्कि इसे इस तरह लिखना भी मेरे लिये कठिन है जिसमें उन लोगोंकी भी समझमें यह आ जाय जिन्हें हमारी चेतना या हमारी अनुभूति प्राप्त नहीं है। मैं समझता हूँ कि इसे लिखना ही होगा, पर अभी मुझे न तो इसकी आवश्यक रूप-रेखा ही मिली है और न आवश्यक अवकाश।

१९-११-१९३१

* * *

माताजीपर श्रद्धा रखकर बीमारीसे मुक्त हो जाना साधकके लिये बहुत अधिक आसान है, स्वयं माताजीके लिये बीमारीसे मुक्त रहना उतना आसान नहीं —कारण, माताजीके कार्यका स्वरूप ही ऐसा है कि उन्हें साधकोंके साथ अपना तादात्म्य बनाये रखना पड़ता है, उनकी सभी कठिनाइयोंको वहन करना पड़ता है, उनकी प्रकृतिके सारे विषको अपने अन्दर ग्रहण करना पड़ता है और उसके साथ-साथ विराट् पार्थिव प्रकृतिकी समस्त कठिनाइयोंको, मृत्यु और रोगकी सम्भावनातकको अपने ऊपर लेना होता है जिससे कि मुकाबला करके उन्हें खतम किया जाय। अगर वे ऐसा न करतीं तो एक भी साधक इस योग-की साधना करनेमें समर्थ न होता। भगवान्‌को इसलिये मानवत्व ग्रहण करना पड़ता है कि मनुष्य भी भगवान्‌तक ऊपर उठ सके। यह एक सीधा-सा सत्य

है; पर मालूम होता है कि कोई भी यह समझ नहीं पाता कि भगवान् यह सब कर सकते हैं और फिर भी मनुष्यसे भिन्न बने रह सकते हैं — फिर भी वे भगवान् बने रह सकते हैं।

८-५-१९३३

* * *

प्र०— आश्रमके लोग यह विश्वास करते हैं कि उनकी कठिनाइयों और बीमारियोंको माताजी अपने ऊपर ले लेती हैं और इसलिये कभी-कभी उन्हें दुःख भोगना पड़ता है। परन्तु बात यदि ऐसी है तब तो, बहुतसे साधकोंसे उनके ऊपर ऐसी चीजोंकी भयंकर बाढ़-सी आ सकती है। मेरे मनमें यह विचार आता है कि इन कठिनाइयों और बीमारियोंमेंसे कुछको मैं अपने ऊपर ले लूँ जिसमें मैं भी उनके साथ सुखपूर्वक दुःख भोग सकूँ।

उ०— सुखपूर्वक? और चाहे कुछ हो, पर वह तुम्हारे या हमारे लिये कम-से-कम सुख तो हर्गिज न होगा। उसमें सुख नामकी कोई चीज न होगी।

यह एक सच्चे तथ्यका मानो भद्दा और स्थूल वर्णन है। अपना काम करनेके लिये माताजीको अपनी व्यक्तिगत सत्ता और चेतनाके अन्दर सभी साधकोंको लेना पड़ा; इस तरह व्यक्तिगत रूपसे (केवल निर्वैयक्तिक रूपसे ही नहीं) उनके अन्दर ले लिये जानेके कारण साधकोंके सभी संघर्ष और कठिनाइयां, उनकी बीमारियों आदिके साथ, इस रूपमें माताजीके ऊपर आ पड़ीं जिस रूपमें, यदि उन्होंने पृथक्त्वके आत्मसंरक्षणका त्याग न किया होता तो, न आयी होतीं। केवल दूसरोंकी बीमारियां ही उनके शरीरपर होनेवाले आक्रमणोंमें नहीं बदलीं — इनके विषयमें ज्यों ही वे देखतीं कि वे कहांसे और क्यों आयी हैं त्यों ही साधारणतया वे उन्हें दूर फेंक देतीं — बल्कि लोगोंकी आंतरिक कठिनाइयों, विद्रोहों, उनके विरुद्ध क्रोध और घृणाके उद्गारोंका भी वही या उससे भी बुरा प्रभाव पड़ा। उनके लिये केवल वही खतरा था (क्योंकि आन्तरिक कठिनाइयां आसानीसे जीती जा सकती हैं), पर जड़तत्त्व और शरीर हमारे योगके दुर्बल या संकटपूर्ण स्थल हैं, क्योंकि यह क्षेत्र आध्यात्मिक शक्ति द्वारा कभी जीता नहीं गया है, पुराने योगोंने या तो इसे यों ही छोड़ दिया या इसपर केवल छोटी-मोटी मानसिक और प्राणिक शक्तिका ही प्रयोग किया, साधारण आध्यात्मिक शक्तिका नहीं। यही कारण था कि आश्रम-वातावरणकी अत्यन्त बुरी

अवस्थाके कारण उनके बहुत अधिक बीमार हो जानेके बाद मैंने उनपर दबाव डाला कि वे कुछ समय आंशिक एकान्तवास करें जिसमें उनपर पड़नेवाले दबावका अत्यन्त ठोस अंश कुछ कम हो जाय। स्वभावतः ही भौतिक स्तरपर पूरी विजय हो जानेपर सभी बातोंमें क्रांति आ जायगी, पर अभीतक तो यह संघर्षका ही क्षेत्र है।

३१-३-१९३४

* * *

> प्र०— क्या यह अनिवार्य नहीं है कि परिवर्तन और रूपांतरकी इस प्रक्रियामें ये बाधाएं, उपद्रव और विद्रोह प्रत्येक साधकके अन्दर उठ खड़े हों? क्या कोई आदमी अपनी साधनाके प्रारम्भमें ही इन सब चीजोंको दूर कर सकता है जिससे माताजीको स्वयं अपने ऊपर लेनेके लिये ये चीजें कम हो जायं?

उ०— पार्थिव चेतनाका स्वरूप और मनुष्य-जातिकी प्रकृति अभी जैसी है उसे देखते हुए ये चीजें कुछ अंशमें अनिवार्य हैं। केवल थोड़े-से लोग ही इनसे बचते हैं, उनमें महज कुछ मामूली विरोधी क्रियाएं होती हैं। परन्तु कुछ समय बाद ये चीजें दूर हो जानी चाहियें। व्यक्तियोंमेंसे तो ये इस प्रकार दूर हो जाती हैं—परन्तु इन्हें आश्रमके वातावरणमेंसे दूर करना बहुत कठिन प्रतीत होता है—एक-न-एक इन्हें बराबर लेता रहता है और उससे ये दूसरोंमें भी फैलनेकी चेष्टा करती हैं। निश्चय ही, इसका कारण यह है कि अज्ञानके अनुसार जीवनके तत्त्वोंमेंसे एक तत्त्व इनके पीछे विद्यमान है—वह है गहराई तक जड़ जमाये हुई प्राण-प्रकृतिकी एक प्रवृत्ति। परन्तु साधनाका उद्देश्य ही है उसे जीतना और उसके स्थानपर एक सत्यतर और दिव्यतर प्राण-शक्तिको ला बिठाना।

१-४-१९३४

* * *

जो कुछ तुमने देखा वह ठीक है; पर साधकका भाव यदि सच्चा चैत्य भाव हो तो माताजीको कोई कष्ट उठाना नहीं पड़ता; अपने ऊपर कोई चीज आये

बिना वे साधकोंपर कार्य कर सकती हैं।

२२-१-१९३७

* * *

माताजीपर फेंकी हुई साधकोंकी अशुद्धियोंके कारण ऐसा हुआ है।

भौतिक प्रकृतिका रूपान्तर होनेसे पहले इसका कोई उपाय निकालना सम्भव नहीं प्रतीत होता। यदि माताजी अपने और साधकोंके बीच एक आन्तरिक दीवाल खड़ी कर दें तो यह नहीं होगा, पर साधक माताजीसे कुछ भी पानेमें असमर्थ होंगे। अगर सब लोग अधिक सावधान होकर अपनी गम्भीरतर और उच्चतम चेतनाके साथ उनके पास आयें तो इन चीजोंके होनेकी सम्भावना कम होगी।

दूसरोंको सहायता करनेका खतरा उनकी कठिनाइयोंको अपने ऊपर लेनेका खतरा है। अगर कोई अपनेको पृथक् रखते हुए सहायता कर सके तो फिर ऐसा नहीं होता। परन्तु सहायता करनेके समय उस व्यक्तिको अंशतः या मूलतः अपने बृहत्तर आत्मामें ले लेनेकी प्रवृत्ति रहती है। यही चीज माताजीको साधकों-के साथ करनी पड़ती है और यही कारण है कि उन्हें कभी-कभी दुःख झेलना पड़ता है, क्योंकि कोई मनुष्य हमेशा किसी.........से सावधान नहीं रह सकता।

जब मनुष्य तल्लीन होता है या काममें लगा होता है तब सर्वदा ही यह कठिनाई होती है कि जिस व्यक्तिको सहायता दी जाती है वह तुम्हारी शक्तियोंको आहरण करने और खींचनेका अभ्यासी हो जाता है, वह तुम्हारे ऊपर नहीं छोड़ देता कि तुम जो दे सको या जो देना उचित हो बस उतना ही उसे दो। अन्य छोटी-छोटी बहुत-सी बातोंका सामना सहायता करनेवालेको करना पड़ता है।

२९-१-१९३५

* * *

ऐसे बहुत-से लोग हैं जिन्होंने अतीत कालमें ऐसा किया। मुझे मालूम नहीं कि वह अब भी ऐसा करता है। परन्तु माताजीपर फेंके गये सब बुरे विचार या उनपर मलिनताओंका फेंकना उनके शरीरपर प्रभाव डाल सकता है क्योंकि उन्होंने साधकोंको अपनी चेतनामें ले रखा है, वे इन चीजोंको उनके पास वापिस

भी नहीं भेज सकतीं क्योंकि इससे उन्हें ठेस पहुँच सकती है।

१७-३-१९३६

* * *

मलिनताओंको अपने अन्दर खींचनेकी माताजीको लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं — ठीक वैसे ही जैसे साधकको मलिनताको अपने अन्दर आनेके लिये निमन्त्रित करनेकी जरूरत नहीं। मलिनताको तो परे फेंकना है न कि भीतर खींचना।

१८-३-१९३६

* * *

कामनाओं, अपूर्णताओं, अपवित्रताओं, बीमारियों आदिको माताजीके ऊपर उतार फेंकनेकी भावना, जिसमें कि साधकोंके बदले स्वयं माताजी ही उनके फल भोगें, बड़ी ही विचित्र है। मेरी समझमें यह बात इस ईसाई आदर्शकी नकल है कि मनुष्य-जातिके लिये ईसा सूलीपर दुःख भोगते हैं। परन्तु इस रूपान्तर योगके साथ इस बातका कोई सम्बन्ध नहीं।

१-११-१९३६

माताजीकी अस्थायी कार्यनिवृत्तिके कारण

जबतक प्राण माताजीके सम्बन्धमें गलत दृष्टिकोणसे विचार करता रहेगा, —उदाहरणार्थ, यदि और जबतक वह उनके बारेमें इस बातके द्वारा निर्णय करनेपर आग्रह करेगा कि वे उसकी मांगोंका और उन्हें उसको क्या देना चाहिये इस विषयमें उसके विचारोंका क्या उत्तर देती हैं, तो और तबतक स्थूल मन और प्राणकी शङ्काएं, तरह-तरहकी उथल-पुथल और अस्तव्यस्तता सदा ही बनी रहेंगी। भगवान्पर अपने मनको या अपने प्राणकी इच्छाको न थोपना बल्कि उनकी इच्छाको ग्रहण करना तथा उसका अनुसरण करना ही साधनाकी सच्ची वृत्ति है। यह न कहना कि "यह मेरा हक और दावा है, मेरी मांग, कामना और आवश्यकता है, मुझे यह चीज क्यों नहीं मिलती ?", वरन् अपनेको दे देना, आत्म-समर्पण कर देना और भगवान् जो कुछ दें उसे, शोक या विद्रोह न करते हुए, हर्षपूर्वक ग्रहण करना ही ठीक ढंग है। तब व्यक्ति जो कुछ पायेगा

वह उसके लिये ठीक चीज होगी। यह सब तुम्हें अच्छी तरह मालूम है; तो फिर क्यों तुम निरन्तर अपने बाहरी प्राणको यह सब भुलाकर तुम्हें पुरानी अशुद्ध मनोवृत्तिकी ओर पीछे घसीट ले जानेकी अनुमति देते हो?

जहांतक यह प्रश्न है कि माताजी साधकोंसे सम्बद्ध अपने पुराने नित्य कार्यक्रम एवं दिनचर्या आदिसे विरत हो गई हैं उसके विषयमें यही कहना है कि वह कर्म और साधनाके लिये एक आवश्यक अवस्थामात्र है। प्रत्येक चीज गलत लीकपर पड़ गई थी, मिश्रित गतियों और भ्रान्त मनोवृत्तिसे भरी थी ——और परिणामतः सभी चीजें, पिंजरेमें बन्द गिलहरीकी तरह, उसी राजस-तामसिक घेरेमें चक्कर काट रही थीं और उससे बाहर निकलनेकी कोई सम्भावना ही नहीं थी। माताजीकी बीमारी एक प्रबल चेतावनी थी कि यह अवस्था और अधिक देरतक चलने नहीं दी जा सकती। माताजीके कार्य और सम्बन्धोंका एक नया आधार निर्मित करनेकी आवश्यकता है जिसमें ऐसा प्रतीत होगा कि साधकोंकी उन विगत भ्रान्त गतियोंको, जो परम सत्यके भौतिक (अन्नमय) प्रकृतिमें उतरनेके मार्गमें बाधा डाल रही थीं, अब और कभी अनुमति नहीं दी जायगी। आधारका निर्माण एक ही दिनमें नहीं हो सकता, पर (उक्त कार्य व सम्बन्धोंसे) पीछे हटकर स्थित होना माताजीके लिये आवश्यक था, अन्यथा उसका निर्माण करना ही असम्भव होता।

७-१२-१९३१

* * *

यह सच नहीं कि माताजी उत्तरोत्तर कार्यसे अवकाश ले रही हैं या कि वे मेरी तरह ही पूर्ण रूपसे भीतर चले जानेका कोई इरादा रखती हैं। विशेष सौभाग्य-शाली कुछ-एक लोगोंके विषयमें तुम्हारी टिप्पणियां मेरी समझसे बाहर हैं; ऐसा नहीं कि हम दूसरोंको तुच्छ समझकर उन इने-गिने लोगोंपर ही विश्वास कर रहे हैं अथवा जो कुछ हो रहा है वह सब उन्हें तो बता रहे हैं और तुमपर प्रकट नहीं कर रहे। यह तुम्हारी पुरानी शिकायत है जिसका कोई आधार नहीं। यदि कोई आदमी दावा करता है कि माताजी उसपर विशेष भरोसा करती हैं तो वह एक अहंमय दावा कर रहा है जिसे उचित नहीं ठहराया जा सकता। तुम्हारी असली बात यह मालूम होती है कि माताजी सूप देना और उसके साथके अन्य कार्य करना फिरसे क्यों शुरू नहीं कर रहीं। मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि क्यों उन्हें अपनी बीमारीके अनुभवने पुरानी दिनचर्यासे विरत होनेके लिये बाधित किया——जो अधिकतर साधकोंके लिये एक प्रकारकी

अर्ध-पुरोहितीय दिनचर्यासे अधिक कुछ नहीं रह गई थी। इसका कारण था साधकोंकी गलत मनोवृत्ति जिसने एक ऐसा वायुमण्डल पैदा कर दिया था जो योग-विरुद्ध चेष्टाओंसे भरा हुआ था और संकटकी ओर ले जा सकता था — जिसकी ओर ले जाना उसने शुरू भी कर दिया था। पुराने आधारपर ही सूप-वितरण शुरू करनेका अर्थ होगा पुरानी अवस्थाओंको वापिस ले आना और उसका अन्तिम रूप होगा गलत चेष्टाओंके उसी चक्रकी तथा उन्हीं परिणामोंकी पुनरावृत्ति। अपनी बीमारीके बाद इन सब अवस्थाओंको एक और ही आधारपर नये सिरेसे नियन्त्रित करनेके लिये माताजी धीमे-धीमे और सावधानीसे कदम उठाती आ रही हैं, पर वे ऐसा कोई कदम नहीं उठा सकतीं जो पुरानी अन्धकारमय क्रियाओंको वापिस आने दे — उन क्रियाओंको जिनमेंसे कुछ, मेरी समझमें, स्वयं तुम्हारी नजरमें भी आने लगी थीं। अगला कदम स्वयं साधकोंको उठाना है; (अपनी मनोवृत्तिके परिवर्तनसे, निम्नतर प्राणिक और भौतिक स्तरपर सच्ची चेतना में उठ जानेके दृढ़, निश्चयसे) उन्हें इस बातको सम्भव बनाना होगा कि उस स्तरपर ठीक ढंगसे और ठीक परिणाम-सहित माताजीके साथ एकत्व सम्भव हो जाय। इससे अधिक मैं अभी कुछ नहीं कह सकता; परन्तु आगे चलकर, व्यक्तियोकी ओर विशेष संकेत किये बिना जहांतक बन पड़ेगा वहांतक, अधिक स्पष्ट रूपमें लिखनेका मेरा पूरा विचार है; क्योंकि लोगोंके योगमें व्यक्तिगत चीजें भी होती हैं जिनके विषयमें बहुधा केवल उन्हींसे कहा जा सकता है, दूसरोंसे नहीं।

तुम्हारे अन्य प्रश्नोंपर मैं एक और पत्रमें विचार करूँगा। मैं केवल यही कहूँगा कि जो कुछ होता है वह "सबसे अधिक भलाईके लिये" इस अर्थमें ही होता है कि सब कठिनाइयोंके रहते भी अन्तमें भगवान्‌की ही विजय होगी — मेरी दृष्टि, मेरी श्रद्धा एवं मेरा आश्वासन यही रहा है और सदा यही रहेगा — यदि तुम इसे मेरे कहनेपर स्वीकार करनेको उद्यत हो। परन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि तुम्हारी उदासी और विषाद इस गतिविधिके लिये आवश्यक हैं! जितनी ही जल्दी वे फिर कभी न लौटनेके लिये तुमसे दूर हट जायं उतने ही अधिक आनन्दपूर्वक माताजी और मैं शिखरोंकी ओर जानेवाले ढालू मार्गपर अग्रसर हो पायेंगे और तुम्हारे लिये भी अपनी अभीष्ट वस्तु, पूर्ण भक्ति और आनन्दको प्राप्त करना उतना ही अधिक सुगम होगा।

२८-१२-१९३१

* * *

X

कठिनाइयोंमें माताजीकी सहायता

कठिनाइयोंमें माताजीकी सहायता

विजयका आश्वासन

इस विषयमें निस्संदिग्ध रहो कि तुम्हें इस पथपर ले जानेके लिये माताजी सदा तुम्हारे साथ रहेंगी। कठिनाइयां आती हैं और चली जाती हैं, पर, माताजी हैं तो विजय सुनिश्चित है।

१८-७-१९३६

***

जो मार्ग तुमने अब अपनाया है — सभी परिस्थितियोंमें माताजीको दृढ़तासे पकड़े रहना और किसी भी चीजके द्वारा अपनेको उस पथसे विचलित न होने देना — वह तुम्हें कठिनाइयोंका सच्चा हल प्राप्त करा देगा। कारण, ऐसा प्रतीत होता है कि चैत्य पुरुषने तुम्हारे अन्दर अपना काम शुरू कर दिया है।

२४-१२-१९३५

***

अटल रहो और एक ही दिशामें — माताजीकी ओर मुड़े रहो।

अवतरण और कठिनाइयां

प्र०— क्या यह सच है कि अतिमानसका अवतरण जितना ही पास आता जायगा उतना ही उन लोगोंकी कठिनाइयां अधिक बढ़ती जायंगी जिनमें उसे सबसे पहले उतरना है?

उ०— यह सच है, जबतक कि वे माताजीके प्रति इतने समर्पित, इतने चैत्यमय, इतने नमनीय और अहंमुक्त ही न हों कि उन्हें कठिनाइयोंसे बरी कर दिया जाय।

श्रीमांकी क्रियामें विश्वास

समस्त बाह्य रूपोंके पीछे होनेवाली श्रीमांकी क्रियामें तुम्हें अटल विश्वास बनाये रखना चाहिये, और फिर तुम देखोगे कि वह विश्वास तुम्हें पथपर सीधे लिये जा रहा है।

३१-८-१९३५

* * *

सब कुछ माताजीपर छोड़ देना, पूर्ण रूपसे उन्हींपर भरोसा रखना और उन्हें लक्ष्यकी ओर ले जानेवाले पथपर अपनेको ले जाने देना ही समुचित मनोभाव है।

२-३-१९३६

* * *

कोई आदमी केवल अपनी ही शक्ति या अच्छे गुणोंके द्वारा दिव्य रूपान्तर नहीं प्राप्त कर सकता; केवल दो चीजें हैं जिनका मूल्य है : कार्य करनेवाली माताजीकी शक्ति और उसकी ओर खुले रहनेका साधकका संकल्प तथा उनकी क्रियापर विश्वास। अपने संकल्प और विश्वासको बनाये रखो और बाकी चीजकी परवाह मत करो — वे केवल कठिनाइयां हैं जो साधनामें सबके सामने आती हैं।

१३-५-१९३६

* * *

यदि चैत्य पुरुषकी प्रकृति जाग्रत् हो जाय, अपने पीछे विद्यमान माताजीकी चेतना और शक्तिके द्वारा तुम्हारा पथप्रदर्शन करे तथा तुम्हारे अन्दर कार्य करे तो कुछ भी असम्भव नहीं है।

१९-१०-१९३५

* * *

यदि कोई माताजीमें पूरा विश्वास बनाये रखे और अपनी चैत्य-सत्ताको खोले रखे तो माताजीकी शक्ति सब कुछ करेगी और मनुष्यका बस इतना ही काम होगा कि वह अपनी अनुमति दे, अपनेको खोले रखे और अभीप्सा करे।

१२-११-१९३५

***

पश्चात्तापके द्वारा सब दोषों और भूलोंसे छुटकारा मिल जाता है। माताजीपर भरोसा, उनके प्रति आत्मदान — इन्हें यदि तुम बढ़ाओ तो ये तुम्हारी प्रकृतिमें परिवर्तन ले आयेंगे।

***

प्रगति चाहे तेज हो या धीमी, सर्वदा साधकका मनोभाव होना चाहिये माताजी पर सम्पूर्ण विश्वास और भरोसा। जिस तरह तुम यह समझते हो कि प्रगति तुम्हारे अपने प्रयास या गुणका परिणाम नहीं थी, बल्कि तुम्हारे माताजीपर भरोसा रखनेके समुचित मनोभाव तथा माताजीकी शक्तिकी क्रियाका परिणाम थी, ठीक उसी तरह तुम्हें यह नहीं समझना चाहिये कि कोई धीमापन या कठिनाई तुम्हारे अपने दोषके कारण थी, बल्कि भरोसा रखनेके इस मनोभावको ही बनाये रखनेकी कोशिश करनी चाहिये और माताजीकी शक्तिको कार्य करने देना चाहिये — धीरे हो या तेजीसे, उससे कुछ आता-जाता नहीं।

१४-११-१९३५

***

नहीं। सम्भवतः यह ऐसा इसलिये लगता है कि प्राण-चेतना या भौतिक चेतनाके कुछ अंशने इसे ऐसा ही रूप दिया है। यह पथ रेगिस्तान नहीं है और न तुम अकेले ही हो, क्योंकि श्रीमां तुम्हारे साथ हैं।

२-११-१९३३

श्रीमांका निश्चित मनोभाव

श्रीमाताजी कभी भविष्यकी कठिनाइयों, पतनों या विपत्तियोंकी बात नहीं

सोचतीं। उनका ध्यान सर्वदा एकाग्र होता है प्रेम और प्रकाशपर, कठिनाइयों और अधःपतनोंके ऊपर नहीं।

* * *

माताजी उच्चतर सद्वस्तुको जगत्‌में ले आती हैं—उसके बिना बाकी सब कुछ अज्ञानपूर्ण और मिथ्या है।

३-८-१९३४

सर्वदा करने लायक एक चीज

एक बार जब मनुष्य योगमार्गमें प्रवेश कर जाता है तब उसे केवल एक ही चीज करनी होती है—उसे दृढ़ताके साथ यह निश्चय करना होता है कि चाहे जो कुछ भी क्यों न हो, चाहे जो भी कठिनाइयां क्यों न उठ खड़ी हों, मैं अन्ततक अवश्य जाऊंगा। सच पूछा जाय तो कोई भी मनुष्य अपने निजी सामर्थ्यके द्वारा योगमें सिद्धि नहीं प्राप्त करता—सिद्धि तो उस महत्तर शक्तिके द्वारा आती है जो तुमसे ऊपर आसीन है—और समस्त अवस्था-विपर्ययोंमेंसे गुजरते हुए, लगातार उस शक्तिको पुकारते रहनेसे ही वह सिद्धि आती है। उस समय भी, जब कि तुम सक्रिय रूपसे अभीप्सा नहीं कर सकते, सहायताके लिये श्रीमांकी ओर मुड़े रहो—यही एकमात्र चीज है जिसे सर्वदा करना चाहिये।

३-१-१९३४

कठिनाईमें श्रीमांकी शक्तिपर विश्वास

बस आवश्यकता है अध्यवसायकी—निरुत्साहित हुए बिना आगे बढ़ते जानेकी और यह स्वीकार करनेकी कि प्रकृतिकी प्रक्रिया तथा श्रीमांकी शक्तिकी क्रिया कठिनाईके भीतरसे भी काम कर रही है और जो कुछ आवश्यक है उसे करेगी। हमारी अक्षमतासे कुछ नहीं आता-जाता—एक भी आदमी ऐसा नहीं जो अपनी प्रकृतिके भागोंमें अक्षम न हो—पर भागवती शक्ति भी विद्यमान है। अगर कोई उसपर विश्वास रखे तो अक्षमता क्षमतामें परिवर्तित हो जायगी।

उस समय स्वयं कठिनाई और संघर्ष भी सिद्धि प्राप्त करनेके साधन बन जाते हैं।

२७-५-१९३६

* * *

अपनी कठिनाइयोंपर सोच-विचार मत करते रहो। उन्हें माताजीपर छोड़ दो और उनकी शक्तिको अपने अन्दर कार्य करने दो जिससे वह उन्हें तुम्हारे अन्दरसे बाहर निकाल दे।

२२-३-१९३५

* * *

इस विचारको कभी आने और अपनेको परेशान मत करने दो कि "मैं समर्थ नहीं हूँ, मैं यथेष्ट प्रयास नहीं करता हूँ।" यह एक तामसिक सुझाव है जो अवसाद ले आता है और फिर अवसाद अनुचित शक्तियोंके आक्रमणके लिये दरवाजा खोल देता है। तुम्हारी स्थिति तो यह होनी चाहिये कि "जो कुछ मैं कर सकूँगा वह करूँगा; माताजीकी शक्ति, स्वयं श्रीभगवान् यह देखनेके लिये मौजूद हैं कि समुचित समयके अन्दर सब कुछ कर दिया जाय।"

४-११-१९३५

* * *

समुचित मनोभाव है घबड़ाना नहीं, शान्त-स्थिर बने रहना और विश्वास बनाये रखना। पर यह भी आवश्यक है कि श्रीमांकी सहायता ग्रहण की जाय और किसी भी कारणसे उनकी सहायतासे पीछे न हटा जाय। हमें कभी असमर्थता, प्रत्युत्तर देनेकी अयोग्यताके विचारोंमें नहीं लगे रहना चाहिये, दोषों और असफलताओंपर अत्यधिक ध्यान नहीं देना चाहिये और उन सबके कारण मनको दुःखी और शर्मिन्दा नहीं होने देना चाहिये। क्योंकि ये विचार और बोध अन्तमें कमजोर बनानेवाली चीजें बन जाते हैं। अगर कठिनाइयां हैं, ठोकरें लगती हैं या असफलताएं आती हैं तो उन्हें शान्त-स्थिर रहकर देखना चाहिये और उन्हें दूर करनेके लिये शान्तिके साथ, निरन्तर भागवत साहाय्य-को पुकारना चाहिये। कभी विचलित या दुःखी या निरुत्साहित नहीं होना

चाहिये। योग कोई सहज पथ नहीं है और प्रकृतिका सर्वांगीण परिवर्तन एक दिनमें नहीं किया जा सकता।

* * *

इस सबका कुछ लाभ नहीं—इस प्रकारकी शिकायतों, शङ्काओं आदिको ताकपर धर दो। तुम्हें उदास या विचलित हुए विना, माताजीकी शक्तियोंको ग्रहण करते हुए, उन्हें कार्य करने देते हुए, जो कुछ उनके मार्गमें आड़े आये उस सबको दूर फेंकते हुए पर अपनी किसी कठिनाई या दोषोंसे अथवा माताजी-की क्रियामें किसी प्रकारके विलम्ब या धीमेपनसे विचलित हुए बिना शान्त भावसे आगे बढ़ते जाना है।

२५-१०-१९३३

* * *

निराशा या अधीरताके इन सुझावोंको अपने अन्दर मत घुसने दो। माताजीकी शक्तिको कार्य करनेके लिये समय दो।

१२-६-१९३७

* * *

इस प्रकारका दुःख-शोक और निराशा सबसे बुरी बाधाएं हैं जिन्हें मनुष्य अपनी साधनामें खड़ा कर सकता है—इनमें कभी संलग्न नहीं होना चाहिये। मनुष्य स्वयं जिसे नहीं कर सकता उसे वह माताजीकी शक्तिको पुकारकर उससे करा सकता है। उसीको ग्रहण करना और उसे अपने अन्दर करने देना साधनामें सफलता पानेका सच्चा तरीका है।

* * *

अभी चाहे जो कठिनाइयां क्यों न मौजूद हों, इस बातका विश्वास रखो कि उनपर विजय प्राप्त होगी। बाहरी सत्ताके घबड़ानेका कोई कारण नहीं है—माताजीकी शक्ति और तुम्हारी भक्ति रास्तेमें आनेवाली सभी बाधाओंको पार करनेके लिये काफी होंगी।

* * *

निरुत्साहित होनेका कोई कारण नहीं है। प्रकृतिकी तैयारीके लिये तीन वर्षका समय बहुत अधिक नहीं है। प्रकृति साधारणतया उत्थान-पतनके भीतरसे होती हुई धीरे-धीरे उस अवस्थाके समीप पहुँचती है जहां निरन्तर उन्नति करना सम्भव हो जाता है। समस्त बाहरी रूपोंके पीछे होनेवाली माताजीकी क्रियाके प्रति अपने विश्वाससे दृढ़तापूर्वक चिपके रहना चाहिये और तब तुम देखोगे कि वह तुम्हें आगे बढ़ा ले जा रहा है।

३१-८-१९३५

* * *

तुम्हें शोक-ताप या निराशाके वशमें नहीं होना चाहिये — ऐसा करनेका कोई कारण नहीं। माताजीकी कृपा एक क्षणके लिये भी तुमसे अलग नहीं हुई है। दूसरोंके आक्रमणोंसे इस प्रकार अपनेको विचलित मत होने दो — तुम अच्छी तरह जानते हो कि किस उद्देश्यसे वे अपना कार्य करते हैं — और पीछे वे उस पथका अनुसरण दूरतक नहीं करेंगे जिसे उन्होंने क्रोधके आवेशमें ग्रहण किया था। माताजीका संरक्षण तुम्हारे ऊपर रहेगा और तुम्हें डरने या शोक करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। भगवान्पर विश्वास करो और इन सब चीजोंको एक विगत दुःस्वप्नकी न्याईं झाड़ फेंको। विश्वास रखो कि हमारा प्रेम और हमारी कृपा तुम्हारे साथ हैं।

* * *

तुमने सर्वदा ही अपने मन और संकल्पशक्तिकी क्रियापर अत्यधिक भरोसा रखा है — इसी कारण तुम उन्नति नहीं कर पाते। यदि तुम माताजीकी शक्ति पर चुपचाप भरोसा बनाये रखनेकी आदत डाल लो — महज अपने निजी प्रयासकी सहायता करनेके लिये उसे पुकारनेकी आदत नहीं — तो बाधा कम हो जायगी और अन्तमें एकदम दूर हो जायगी।

* * *

मनुष्य जितना ही अधिक माताजीकी क्रियाकी ओर खुला होता है उतनी ही आसानीसे कठिनाइयां हल हो जाती हैं और यथार्थ चीज सम्पन्न हो जाती है।

२१-९-१९३४

* * *

बिना पथ-प्रदर्शनके किये गये अपने व्यक्तिगत प्रयत्नोंके कारण ही तुम कठि-नाइयोंमें जा पड़े और ऐसी गर्म अवस्थामें पहुँच गये कि ध्यान आदि नहीं कर सके। मैंने तुमसे प्रयास बन्द कर देने और शान्त-स्थिर बने रहनेके लिये कहा और तुमने वैसा ही किया। मेरा उद्देश्य यह था कि तुम्हारे शान्त बने रहनेपर माताजीकी शक्तिके लिये तुम्हारे अन्दर कार्य करना और एक अच्छा आरम्भ तथा प्रारम्भिक अनुभूतियोंकी एक धारा स्थापित करना सम्भव होगा। इसका आना आरम्भ भी हो गया था, पर तुम्हारा मन यदि फिरसे सक्रिय हो जाय और स्वयं साधनाकी व्यवस्था करनेकी चेष्टा करे तो गोलमाल उत्पन्न होनेकी सम्भावना है। भागवत पथप्रदर्शन तभी उत्तम रूपमें कार्य करता है जब चैत्य पुरुष खुला हुआ और सामने हो (तुम्हारे चैत्य पुरुषने खुलना आरम्भ किया था), पर वह तब भी कार्य कर सकता है जब कि साधक उसके विषयमें या तो सचेतन न हो या उसे केवल उसके परिणामोंसे ही जानता हो।

कठिनाइयां और माताजीकी कृपा

प्र०– क्या इसपर विश्वास किया जा सकता है कि जब कठिनाइयां दूर नहीं होतीं तब भी माताजीकी कृपाशक्ति कार्य करती रहती है?

उ०– उस अवस्थामें तो प्रत्येक आदमी कह सकता है, "मेरी सभी कठिनाइयां तुरत दूर हो जानी चाहिये, मुझे तुरत-फुरत और बिना किसी कठिनाईके पूर्णता प्राप्त कर लेनी चाहिये, अन्यथा यह बात सिद्ध हो जाती है कि माताजीकी कृपा मेरे ऊपर नहीं है।"

२०-७-१९३३

* * *

तुम्हें इस सबको दूर फेंक देना चाहिये। ऐसी उदासी तुम्हें उस चीजकी ओरसे बन्द कर देगी जो माताजी तुम्हें दे रही हैं। ऐसे मनोभावके लिये जरा भी कोई समुचित कारण नहीं है। कठिनाइयोंका होना योग-जीवनकी एक जानी हुई बात है। अन्तिम विजय या भागवत कृपाकी कार्यकारितापर सन्देह करनेका वह कोई कारण नहीं।

४-२-१९३३

चैत्य विकास और माताजीकी कृपा

प्र०— माताजीकी कृपाके कार्य करनेका नियम क्या है?

उ०— साधक जितना चैत्य पुरुषको अधिक विकसित करता है उतना ही कृपा-शक्तिके लिये कार्य करना अधिक सम्भव होता है।

१३-८-१९३३

***

जो भाग माताजीके विषयमें सर्वदा सचेतन रहता है उसी भागका निरन्तर प्राधान्य प्राप्त करने योग्य वस्तु है—निस्सन्देह वह अंग चैत्य पुरुष है—क्योंकि वह चाहे फिलहाल ढका हुआ क्यों न हो, वह विरोधी सुझावोंके द्वारा पथभ्रष्ट नहीं हो सकता। एक बार यदि वह जागृत हो जाय तो वह हमेशा अन्धकारसे बाहर निकल आता है—यही बात अन्तमें लक्ष्यतक पहुँचनेका आश्वासन प्रदान करती है। परन्तु यदि चैत्य पुरुषको सामने बनाये रखा जाय या सभी परिस्थितियोंमें पीछेकी ओर उसे ज्ञानपूर्वक अनुभव भी किया जाय तो रास्तेकी मंजिल अपेक्षाकृत निरापद हो सकती है तथा अधिक सहज और सुरक्षित रूपमें पार की जा सकती है।

६-२-१९३७

***

जब बाहरी चीजोंके प्रति, उनके अपने कारण, कोई आसक्ति नहीं रहती और सब कुछ केवल माताजीके लिये ही होता है तथा अन्तरस्थ चैत्य पुरुषके द्वारा हमारा जीवन माताजीमें ही केंद्रित हो जाता है तभी आध्यात्मिक उपलब्धिके लिये सबसे उत्तम अवस्था उत्पन्न होती है।

११-११-१९३५

***

शरीरकी पवित्रताके बारेमें कभी चिन्ता मत करो। माताजीका प्रेम हृदय और शरीर दोनोंको पवित्र करता है—यदि आत्माकी अभीप्सा वहां विद्यमान

है तो शरीर भी पवित्र ही है। भूतकालमें जो कुछ हुआ उसका जरा भी महत्त्व नहीं।

माताजीकी सतत सहायता

माताजीकी सहायता हमेशा ही मौजूद है, पर तुम उसके विषयमें सचेतन नहीं हो — बस उसी समय सचेतन होते हो जब चैत्य पुरुष सक्रिय होता है और चेतना आच्छादित नहीं होती। सुझावोंका आना इस बातका प्रमाण नहीं है कि सहायता नहीं मिल रही है। सुझाव सभी लोगोंके पास आते हैं, यहांतक कि बड़े-से-बड़े साधकोंके या अवतारोंके पास भी आते हैं — जैसे कि वे बुद्ध या ईसाके पास आये थे। बाधाएं भी हैं — वे प्रकृतिका अंग हैं और उन्हें जीतना ही होगा। अभी जो अवस्था प्राप्त करनी है वह है सुझावोंको स्वीकार न करना, उन्हें सत्य या अपने निजी विचार न मानना, जिस उद्देश्यसे वे आये हैं उसे देखना और अपनेको उनसे अलग रखना। बाधाओंको इस प्रकार देखना होगा कि मानव-प्रकृतिकी मशीनके भीतर कुछ चीजें खराब हो गयी हैं जिन्हें बदल डालना होगा — उन्हें कभी पाप या अपकर्म नहीं समझना चाहिये जिसके कारण कि अपने विषयमें और साधनाके विषयमें निराशा आती है।

* * *

> प्र०— आज काम करते समय मैंने एक शान्तिपूर्ण शक्ति तथा बर्फकी तरह अपने सिरका स्पर्श करनेवाली एक चीजका अनुभव किया। उसके बाद एक तीव्र बोध और दर्शनके साथ मेरे अन्दर यह ज्ञान आया कि यद्यपि माताजी शरीरसे हमारे निकट नहीं हैं, फिर भी वे हमेशा हमारे पास और हमारे इर्दगिर्द मौजूद रहती हैं और अपने प्रेमपूर्ण हाथके स्पर्शसे सब प्रकारकी कठिनाइयोंको निरन्तर दूर हटाती रहती हैं। यह कोई दर्शन था या कोई उपलब्धि? किस चेतनाके द्वारा यह मुझे प्राप्त हुआ?

उ०— दर्शन और अनुभवसे युक्त यह एक उपलब्धि है। चैत्य और मनोमय दोनों चेतनाओंने मिलकर इसे उत्पन्न किया।

११-६-१९३३

स्पष्टवादिता और माताजीकी सहायता

जो लोग स्पष्टवादी नहीं हैं वे माताजीकी सहायतासे लाभ नहीं उठा सकते, क्योंकि वे स्वयं ही उसे वापस लौटा देते हैं। जबतक वे परिर्वतित नहीं हो जाते तबतक वे निम्नतर प्राण और भौतिक प्रकृतिके अन्दर अतिमानसिक ज्योति और सत्यके अवतरणकी आशा नहीं कर सकते; वें स्वयं अपने ही द्वारा उत्पन्न कीचड़में फंसे रहेंगे और उन्नति नहीं कर सकेंगे।

नवम्बर, १९२८

श्रीमांकी सहायतासे प्राणका परिवर्तन

माताजीकी सहायता उन लोगोंके लिये बराबर ही मौजूद रहती है जो उसे ग्रहण करनेके लिये इच्छुक हों। परन्तु तुम्हें अपनी प्राण-प्रकृतिके विषयमें सचेतन होना चाहिये और प्राण-प्रकृति परिर्वतित होनेके लिये अवश्य राजी होनी चाहिये। केवल इतना ही देखनेसे कोई लाभ नहीं कि वह अनिच्छुक है और जब उसके मार्गमें बाधा पहुँचाई जाती है तब वह तुम्हारे अन्दर अवसाद उत्पन्न करती है। प्राण-प्रकृति आरम्भमें हमेशा अनिच्छुक होती है और बराबर ही जब उसके मार्गमें बाधा पहुँचाई जाती है अथवा उसे परिर्वतित होनेके लिये कहा जाता है तब वह अपने विद्रोहके द्वारा या अनुमति देना अस्वीकार करके इस अवसादको उत्पन्न करती है। तुमको तबतक आग्रह करते रहना चाहिये जबतक कि वह सत्यको पहचान न ले और रूपान्तरित होने तथा श्रीमांकी सहायता और कृपा स्वीकार करनेके लिये इच्छुक न हो जाय। अगर मन सच्चा हो और चैत्य अभीप्सा सच्ची और पूर्ण हो तो फिर सदा ही प्राणको परिर्वतित होनेके लिये बाध्य किया जा सकता है।

१५-७-१९३२

* * *

यह विचार कि तुम असमर्थ हो, क्योंकि तुम्हारा प्राण अशुद्ध गतियोंको स्वीकृति देता रहता है, तुम्हारे मार्गमें बाधक है। तुम्हें अपने आन्तरिक संकल्प और माताजीकी ज्योतिको प्राणके ऊपर डालना होगा जिससे वह पंरिर्वतित हो, वह जो कुछ चाहे वही करनेके लिये उसे छोड़ न दिया जाय। अगर कोई आदमी 'असमर्थ' ही बन जाय और यंत्र-स्वरूप सत्ताके किसी भी अंशके द्वारा

परिचालित हो तो फिर परिवर्तन कैसे सम्भव होगा? श्रीमांकी शक्ति या चैत्य-पुरुष कार्य कर सकता है, पर इस शर्त्तपर कि सत्ताकी भी उसके लिये अनुमति हो। अगर प्राण को अपनी इच्छाके अनुसार कार्य करने दिया जाय तो वह सर्वदा अपनी पुरानी आदतोंका ही अनुसरण करेगा; उसे यह अनुभव कराना होगा कि उसे भी अवश्य परिवर्तित होना चाहिये।

* * *

मनकी शान्तिको एक समान और निरन्तर बनाये रखनेके लिये प्राणके अन्दर जो भाग अभी चंचल है उसे स्थिर-अचंचल बनाना होगा। उसे संयमित तो करना होगा, पर केवल संयम ही पर्याप्त नहीं। माताजीकी शक्तिको सर्वदा पुकारना होगा।

१०-४-१९३४

* * *

अब अपनी प्राण-सत्ताके द्वारपर माताजीका यह नोटिस लगा दो, "अब यहां किसी मिथ्यात्वका आना मना है।" और फिर वहां एक संतरी बैठा दो जो यह देखे कि इस नोटिसके अनुसार कार्य हो रहा है।

१८-५-१९३३

* * *

माताजी तुमसे जानेके लिये नहीं कह सकतीं, क्योंकि ऐसा कोई वास्तविक कारण नहीं जिससे कि तुम्हें यहांसे चले जाना चाहिये और ऐसा करना तुम्हारे लिये बहुत बुरा होगा और कामके लिये तथा अन्य हर चीजके लिये भी यह बुरा होगा। तुम्हें काम नहीं छोड़ना चाहिये — इसके लिये कारण बिलकुल वही हैं जो पहले थे और अब जो कुछ भी हुआ है उससे वे जरा भी नहीं बदले। निःसन्देह ईर्ष्या तुम्हारी प्रकृतिका एक महान् दोष है, पर वह तो यहां बहुतोंमें है, लगभग हर एक व्यक्तिकी प्रकृतिमें कोई-न-कोई गम्भीर दोष है जो उसके मार्गमें रोड़ा अटकाता और उसे कष्ट देता है। परन्तु काम एवं साधना छोड़ देना तथा माताजीको त्याग देना इसका इलाज नहीं। तुम्हारे पीछे कार्यरत माताजीकी सहायताके द्वारा तुम्हें तबतक काम और साधना करते जानी होगी

जबतक इस और अन्य सब बाधाओंसे छुटकारा न मिल जाय। यह हम तुमसे पहले ही कह चुके हैं कि इन चीजोंसे छुटकारा एक ही दिनमें नहीं हो सकता, पर यदि तुम लगे रहो और माताजीपर भरोसा रखो तो ये अब भी दूर हो जायंगी। विरोधी शक्तिको तुम्हें पथभ्रष्ट मत करने दो; समस्त विषादको परे फेंककर तबतक सीधे आगे बढ़ते जाओ जबतक कि लक्ष्यपर न पहुँच जाओ।

१७-७-१९३५

* * *

हमें यह सुनकर बहुत हर्ष हुआ है कि तुम पहलेसे अच्छे हो और 'क्ष' ने तुम्हारी सहायता करके तुम्हें संकटसे उबार लिया है। निश्चय ही इस ईर्ष्याको मिटना ही होगा और लेशमात्र भी शेष नहीं रहना होगा। इसमें सन्देह मत करो कि माताजीका प्रेम तुम्हारे साथ सदा ही है और रहेगा। उनकी कृपामें विश्वास रखो और यह सब कुछ तुम्हारे अन्दरसे निकल जायगा और तुम माताजीके सच्चे शिशुमात्र रह जाओगे जैसे तुम अपने मन और हृदयमें सदा ही हो।

१८-७-१९३५

* * *

माताजीकी तुम्हें त्याग देनेकी कतई इच्छा नहीं है और उनकी कभी यह इच्छा नहीं रही कि तुम उनसे दूर चले जाओ। तुम्हें अपने-आपको उनकी इच्छाके साथ समस्वरित करना होगा और तब सब कुछ ठीक चलेगा। उनका प्रेम तुम्हारा मार्गदर्शन करेगा और उनका संरक्षण प्रभावकारी होगा।

जबतक तुम अच्छे नहीं हो जाते तबतक विश्राम करो। सामर्थ्य लाभ करनेसे पहले कामपर जानेकी जल्दी मत करो।

१९-७-१९३५

कठिनाईमें माताजीको पुकारना

जब कठिनाइयां आयें तो अपने अन्दर अचंचल बने रहो और उन्हें दूर करनेके लिये माताजीकी शक्तिको पुकारो।

२६-८-१९३३

* * *

सदा माताजीको पुकारना और उसके साथ-साथ अभीप्सा करना और जब ज्योति आये तब उसे स्वीकार करना, कामना-वासना और प्रत्येक अन्धकारपूर्ण क्रियाका त्याग करना तथा उनसे अपनेको पृथक् रखना — यही प्रधान चीज है। परन्तु यदि कोई अन्य चीजोंको सफलतापूर्वक न कर सके तो भी उसे पुकारना चाहिये और बार-बार पुकारना चाहिये।

श्रीमांकी शक्तिको जब तुम अनुभव नहीं करते तब भी वह तुम्हारे साथ रहती है; स्थिर-अचंचल बने रहो और अपने प्रयासमें लगे रहो।

१५-६-१६३४

* * *

तुम्हें अपने-आपको इन छोटी-छोटी चीजोंसे चलायमान नहीं होने देना चाहिये। जिन गतिविधियोंके बारेमें तुमने शिकायत की है वे जब आयें तब यदि तुम शान्त रहो और अपने-आपको माताजीकी ओर खोलो तथा उन्हें पुकारो तो कुछ समय बाद तुम देखोगे कि तुम्हारे अन्दर एक प्रकारका परिवर्तन आने लग रहा है। ध्यान ही पर्याप्त नहीं; माताजीका चिन्तन करो और अपना काम तथा अपनी क्रिया-चेष्टा उन्हींको अर्पित करो, उससे तुम्हें अधिक अच्छी सहायता प्राप्त होगी।

७-४-१६३२

* * *

यदि तुम अपना संकल्प-बल न लगा सको तो फिर केवल एक ही रास्ता है —वह है शक्तिको पुकारना; केवल मनके द्वारा या मानसिक शब्दके द्वारा पुकारना भी एकदम निष्क्रिय बने रहने और आक्रमणके अधीन हो जानेकी अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा है,—क्योंकि, मानसिक पुकार यद्यपि तुरन्त सफल नहीं भी होती तो भी वह अन्तमें शक्तिको ले आती और फिर से चेतनाको खोल देती है। क्योंकि प्रत्येक चीज उसी पर निर्भर करती है। बहिर्मुखी चेतनाके अन्दर अन्धकार और दुःख-क्लेश हमेशा ही रह सकते हैं; किन्तु जितना ही अधिक अन्तर्मुखी चेतनाका राज्य बढ़ता जाता है उतना ही अधिक ये सब चीजें पीछे और बाहर धकेल दी जाती हैं, और पूर्ण अन्तर्मुखी चेतनामें ये चीजें नहीं रह सकतीं — अगर वे आती हैं तो मानो बाहरी स्पर्शके समान होती

हैं जो सत्ताके अन्दर निवास करनेमें असमर्थ होता है।

२१-८-१९३३

***

अगर कोई तेजीसे माताजीकी शक्तिको न भी पुकार सके तो भी उसे यह भरोसा बनाये रखना चाहिये कि वह जरूर आयगी।

२६-८-१९३६

***

भौतिक मन ही अपनेको अत्यधिक जड़ अनुभव करता है—पर, सत्ताका कोई भी अंश यदि माताजीकी ओर मुड़ जाय तो वह सहायता ले आनेके लिये पर्याप्त है।

२५-१-१९३४

***

यह एक तरहसे अवचेतन भौतिक सत्ताका एक भूत है और यही इन सब पुराने विचारोंको वापस ले आया है कि "मैं ठीक-ठीक पुकार नहीं सकता—मेरे अन्दर सच्ची अभीप्सा नहीं है इत्यादि।" अवसाद, स्मृति आदि भी उसी एक स्रोतसे आयी हैं। इन सब विचारोंमें डूबे रहनेसे कोई लाभ नहीं। अगर तुम माताजीको अपनी समझके अनुसार ठीक तरीकेसे न पुकार सको तो उन्हें किसी भी तरह पुकारो—यदि तुम उन्हें पुकार न सको तो इन सब चीजोंसे छुटकारा पानेकी इच्छा रखते हुए उनका चिन्तन करो। तुम्हारे अन्दर सच्ची अभीप्सा है या नहीं—इस बातकी दुश्चिंता करके परेशान मत होओ—चैत्य पुरुष चाहता है और यही पर्याप्त है। बाकी चीजें भागवत कृपाके ऊपर हैं जिसपर हमें दृढ़तापूर्वक निर्भर करना चाहिये—मनुष्यकी अपनी योग्यता, अपने गुण या अपनी क्षमताके द्वारा सिद्धि नहीं आती।

जो हो, मैं इस भूतको भगानेके लिये शक्ति भेजूंगा, पर तुम यदि इन सब अभ्यासगत विचारोंका त्याग कर सको तो इस आक्रमणको दूर करना अधिक आसान हो जायगा।

४-१-१९३७

***

इन सब कठिनाइयोंमें सर्वदा सबसे उत्तम बात है माताजीको कहना और सहायता-के लिये उन्हें पुकारना। सम्भवतः उसकी प्राण-सत्ताके अन्दर कोई चीज अपने संरक्षण और देख-भालके लिये किसीकी आवश्यकता अनुभव करती है — परन्तु तुम्हें इस भावनाका अभ्यस्त होना चाहिये कि वह आवश्यक नहीं है और उस व्यक्तिको माताजीकी देख-रेखमें छोड़ देना सबसे उत्तम है — अपने प्रेमके विषय-को उनके चरणोंमें समर्पित कर दो।

१५-११-१९३७

भीतरी और बाहरी वस्तुओंके लिये माताजीसे प्रार्थना

प्र०— आप कहते हैं, "जब कोई व्यक्ति एक साधक हो तो उसे साधनासे सम्बद्ध भीतरी वस्तुओंके लिये ही प्रार्थना करनी चाहिये और बाहरी वस्तुओंके लिये वहींतक प्रार्थना करनी चाहिये जहांतक वे साधनाके लिये और भागवत कर्मके लिये आवश्यक हों।" आपके इस कथनका पिछला भाग — बाहरी वस्तुओंके लिये प्रार्थना-वाला — मुझे स्पष्ट नहीं हुआ। क्या आप कृपा करके मुझे समझा सकते हैं?

उ०— सब कुछ इसपर निर्भर करता है कि क्या बाहरी वस्तुओंकी चाहना अपनी निजी सुख-सुविधा और निजी लाभ आदिके लिये की जाती है, या आध्या-त्मिक जीवनके अंगके रूपमें और कर्मकी सफलता तथा करणोंके विकास एवं सक्षमता आदिके लिये आवश्यक साधनोंके रूपमें। यह मुख्यतया आन्तरिक वृत्तिका प्रश्न है। उदाहरणार्थ, यदि तुम रसनाकी तृप्तिके निमित्त बढ़िया भोजन खरीदनेके लिये किसीसे पैसा मांगते हो तो यह बात साधकके लिये ठीक नहीं; यदि तुम माताजीको देने और उनके काममें सहायता करनेके लिये धन मांगते हो तो यह उचित है।

प्र०— मैं कई प्रकारकी प्रार्थनाएं यहां उद्धृत करता हूं जो मैं किया करता हूं, और मैं आभारी हूंगा यदि आप मुझे बतायें कि उनमेंसे कौन-सी बाह्य या आन्तरिक हैं, ठीक या गलत हैं, सहायक या बाधक हैं, अथवा उनमें क्या सुधार किया जाय जिससे वे पवित्र बन सकें :—

1. रातके समय जब मैं पढ़ने बैठता हूं और असमयपर मुझे

नींद आ घेरती है तो मैं माताजीसे प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे नींदके आक्रमणसे मुक्त करें।

उ०— यदि तुम्हारा पढ़ना साधनाका भाग है तो यह प्रार्थना बिलकुल ठीक है।

प्र०— 2. जब मैं सोने जाता हूँ तो माताजीसे प्रार्थना करता हूँ कि उनकी शक्ति नींदके समय मेरी साधनाको अपने हाथमें ले ले, मेरी नींदको सचेतन और प्रकाशमय बनाये, नींदमें मेरी रक्षा करे, मुझे माताजीके प्रति सचेतन बनाये रखे।
3. जब मैं नींदमें किसी समय जाग पड़ता हूँ तो माताजीसे प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरे साथ रहें और मेरी रक्षा करें।

उ०— ये दोनों साधनाका भाग हैं।

प्र०— भ्रमणके लिये जाते समय और भ्रमण करते समय मैं प्रार्थना करता हूँ कि माताजी मुझे अधिक व्यायाम करने तथा अधिक बल और स्वास्थ्य लाभ करनेकी शक्ति दें और फिर सहायताके लिये उन्हें धन्यवाद देता हूँ।

उ०— यदि बल और स्वास्थ्यकी प्रार्थना इसलिये की जाय कि वे साधनाके लिये तथा आधारकी पूर्णताके विकासके लिये आवश्यक हैं तो वह बिलकुल ठीक है।

प्र०— 5. जब मैं सैर करते समय रास्तेमें कोई कुत्ता देखता हूँ तो मैं तुरन्त माताजीसे प्रार्थना करता हूँ कि मुझे उसके आक्रमणसे बचायें और मेरा भय दूर करें।

उ०— रक्षाके लिये पुकार सदा ही उचित होती है। भय दूर करना साधनाका अंग है।

प्र०— 6. जब मैं खाना खाने जाता हूँ तो मैं प्रार्थना करता हूँ कि माताजीकी शक्ति मेरी सहायता करे जिससे मैं प्रत्येक ग्रास माताजीको अर्पित कर सकूँ, हर चीज आसानीसे हजम हो जाय, मैं अपनी चेतनामें पूर्ण समता और अनासक्ति का विकास कर सकूँ जो मुझे

किसी भी आहारको बिना किसी आग्रह या चाह या लोभ-लालसाके विश्वगत आनन्दके सम रसके साथ ग्रहण करनेके योग्य बनाये।

उ०– यह भी साधनाका अंग है।

प्र०– 7. जब मैं कामके लिये जाता हूँ तो प्रार्थना करता हूँ कि माताजीकी शक्ति मेरा काम अपने हाथमें ले ले, मेरी सहायता करे और प्रेम, भक्ति एवं हर्षके साथ, माताजीका स्मरण करते हुए, उनकी सहायता और सहारेका अनुभव करते हुए, बिना अहंकार या कामनाके, अच्छी तरह और सावधानीसे इसे करनेकी प्रेरणा दे।

उ०– यह भी।

प्र०– 8. कामके बीच भी, जब विराम होता है तो, मैं शक्ति, सहायता और सतत स्मृतिके लिये प्रार्थना करता हूँ।

उ०– यह भी।

ग०– 9. जब कोई बुरा या अपवित्र विचार, अवलोकन एवं संवेदन मेरे अन्दर पैदा होते हैं तो मैं उनके निवारणके लिये और पवित्रताके लिये प्रार्थना करता हूँ।

उ०– यह भी।

प्र०– 10. पढ़ते समय मैं यथासम्भव यह प्रार्थना करनेका यत्न करता हूँ कि सब कुछ जल्दी से समझ जाऊं, पूर्ण रूपसे ग्रहण और आत्म-सात् कर लूँ।

उ०– यदि यह साधनाके रूपमें या आधारके विकासके लिये है तो यह बिलकुल ठीक है।

प्र०– 11. जब मैं काममें कोई भूल करता हूँ तो प्रार्थना करता हूँ कि अधिक सचेतन, सतर्क और निष्प्रमाद बनूँ।

उ०— यह भी साधनाका भाग है।

प्र०— 12. जब मैं अपने मित्रके नाम प्रसादका पार्सल पंजीयित (रजिस्टर) कराने डाकखाने जाता हूँ तो प्रार्थना करता हूँ कि वह तुरन्त स्वीकार हो जाय और उसमें किसी प्रकारकी देर न लगे।

उ०— यह प्रार्थना की जा सकती है यदि समयके अपव्ययसे बचनेको साधनाके जीवनकी ठीक नियम-व्यवस्थाका अंग समझा जाय।

प्र०— 13. जब मैं ध्यानके लिये बैठता हूँ तो प्रार्थना करता हूँ कि माताजीकी शक्ति मेरी ध्यान-क्रियाको अपने हाथमें लेकर उसे गहरी, स्थिर एवं एकाग्र बनाये और विघ्नकारी विचारों, प्राणिक बेचैनी आदिके समस्त आक्रमणोंसे मुक्त करे।

उ०— यह साधनाका भाग है।

प्र०— 14. उदासी, कठिनाई, गलत सुझावों, सन्देह और जड़ताकी अवस्थामें, किसी भी अवसरपर या किसी भी घटनाके समय मैं माताजीसे प्रार्थना करता हूँ कि साहस और श्रद्धा बनाये रखूँ तथा उन सबका सामना कर उनपर विजय पाऊं।

उ०— यह भी।

प्र०— 15. अन्य सब समयोंमें, जहांतक मुझसे बन पड़ता है, मैं माताजीसे प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे अपनी शान्ति, शक्ति और ज्योति आदिसे भर दें, या फिर और किसी प्रकारकी अपेक्षित प्रार्थना करता हूँ, और मुझे सहायता, बल और सहारा देनेके लिये उन्हें धन्यवाद देता हूँ।

उ०— यह भी।

बार-बार आनेवाली कठिनाइयोंको दूर करना

प्र०– बार-बार आनेवाली अपनी कठिनाइयोंका मुकावला करनेका सही तरीका क्या है?

उ०– समता, त्याग और माताजीकी शक्तिको पुकारना।

१-८-१९३३

* * *

पुरानी मिलावट का बार-बार आनेवाला चक्कर रास्तेमें आ खड़ा होता है। उसे तोड़कर बाहर निकलना एक ऐसी आन्तरिक यौगिक स्थिरता और शान्ति प्राप्त करनेके लिये बहुत आवश्यक है जो इन सब चीजोंसे डावांडोल नहीं होती। यदि वह स्थापित हो जाय तो उसमें माताजीकी उपस्थितिको अनुभव करना, उनके पथप्रदर्शनकी ओर खुल जाना और आकस्मिक झांकियोंके द्वारा नहीं वरन् एक स्थायी उद्घाटन तथा विकासके अन्दर चैत्यपुरुषोचित अनुभव एवं आध्यात्मिक ज्योति और आनन्दका अवतरण प्राप्त करना सम्भव हो जायगा। उसके लिये सहायता तुम्हें प्राप्त होगी।

७-३-१९३७

* * *

बहुतसे आदमी इस अवस्थामें हैं (यह मानव-स्वभाव है) और स्वभावतः ही इससे बाहर आनेका एक मार्ग भी है — माताजीमें पूरा विश्वास रखकर आन्तर मनको (बाहरी मनके दुःखदायी बने रहनेपर भी) अचंचल बनाना और वहां से माताजीकी शान्ति और शक्तिको, जो तुम्हारे ऊपर सर्वदा विद्यमान है, आधार में बुलाना। एक बार, सचेतन रूपमें, वह वहां आ जाय तो अपने-आपको उसकी ओर खोले रखना होगा और अपनी पूरी सहायताके साथ, निरन्तर अपनी स्वीकृतिका अवलम्बन देते हुए तथा जो उस चीजसे भिन्न हो उस सबका ज्ञान-पूर्वक त्याग करते हुए उसे तबतक कार्य करने देना होगा जबतक कि समस्त आन्तर सत्ता धीर-स्थिर नहीं बन जाती और माताजीकी शक्ति, शान्ति, प्रसन्नता और उपस्थिति से नहीं भर जाती — तब बाहरी प्रकृति भी उसी पथका अनु-

सरण करनेके लिये बाध्य हो जायगी।

८-५-१९३३

बुरी अवस्थाओंसे बाहर निकलना

ये बुरी अवस्थाएं आन्तर स्थितिसे (बहुधा बहुत मामूली कारणसे) बाहरी चेतनामें गिर जानेकी अवस्थाएं हैं। जब ये आयें तब इनसे प्रभावित मत होओ, बल्कि धीर-स्थिर बने रहो, माताजीको पुकारो और भीतरकी ओर वापस चले जाओ।

२४-१-१९३६

* * *

समय-समयपर चेतनाका नीचे गिर आना सबके अन्दर घटित होता है। इसके कई कारण होते हैं, बाहरसे कोई स्पर्श आता है, प्राणमें, विशेषकर निम्नतर प्राणमें कोई चीज अभी अपरिवर्तित होती है या अधूरे रूपमें परिवर्तित होती है, प्रकृतिके भौतिक अंगोंसे कोई तमस् या अन्धकार उठ आता है। यह आए तो स्थिर बने रहो, माताजीकी ओर अपनेको खोलो, अच्छी अवस्थाओंको वापस बुलाओ और स्पष्ट तथा अक्षुब्ध विवेक-शक्तिके लिये अभीप्सा करो जो तुम्हारे अन्दर उस चीजका कारण तुम्हें दिखा दे जिसे ठीक करनेकी आवश्यकता है।

४-३-१९३२

आक्रमण समय माताजीकी सहायता

अज्ञानकी शक्तियां ही घेरा डालना आरम्भ करती हैं और फिर एक साथ आक्रमण करती हैं। प्रत्येक बार जब ऐसे आक्रमणको हटाकर दूर भगा दिया जाता है तब आधार साफ हो जाता है, मन, प्राण या शरीरमें या सत्ताके समीपवर्ती अंगोंमें माताजीके लिये एक नया क्षेत्र जीत लिया जाता है। प्राणमें माताजी द्वारा अधिकृत स्थान धीरे-धीरे बढ़ रहा है—इसका पता इस बातसे लगता है कि अब तुम इन चढ़ाइयोंका विरोध अधिक जोरके साथ कर रहे हो जो पहले तुम्हें एकदम अभिभूत कर डालती थीं।

ऐसे समयोंपर माताजीकी उपस्थिति और शक्तिका आवाहन करना ही

कठिनाईका मुकाबला करनेका सबसे अच्छा तरीका है।

जो माताजी सर्वदा तुम्हारे साथ और तुम्हारे अन्दर हैं उन्हींके साथ तुम बातचीत करते हो। बस एकमात्र आवश्यक बात है ठीक-ठीक सुनना जिससे कि कोई दूसरी वाणी बीचमें न आ जाय।

७-१२-१९३३

* * *

यदि तुमने माताजीकी ओर खुले रहनेका अभ्यास बना लिया है तो चाहे आक्रमण कितना भी प्रबल क्यों न हो, और यदि वह अभी तुम्हें परास्त भी कर डाले, तो भी वह तेजीसे निकल जायगा।

यदि तुम अचंचल बने रहो और शान्तिकी ओर तथा दिव्य शक्तिकी ओर खुले रहो तो शान्ति फिर वापस आ जायगी। एक बार जब दिव्य सत्यका कुछ अंश तुम्हारे अन्दर प्रकट हो चुका है, तो, चाहे अभी कुछ समयके लिये भले ही वह अशुद्ध गतियोंके बादलोंसे क्यों न ढक जाय, वह फिर भी आसमानमें चमकनेवाले सूर्यकी तरह हमेशा चमकने लगेगा। अतएव विश्वासके साथ प्रयासमें लगे रहो और कभी साहस मत खोओ।

१४-३-१९३२

* * *

प्र०— विद्रोही शक्तिकी क्रियाके कारण आनेवाले दुःख-कष्टसे बचनेका साधकोंके लिये सबसे उत्तम उपाय क्या है?

उ०— माताजीपर श्रद्धा और पूर्ण समर्पण।

१७-६-१९३३

* * *

प्र०— जब साधक रूपान्तरकी प्रक्रियामें अपनी प्रकृतिकी किसी कमजोरीकी उपेक्षा करते हैं तब क्या यह सम्भव नहीं है कि माताजी उस दुर्बलताको उन्हें दिखा दें, बजाय इसके कि विरोधी शक्तियोंके कमजोर स्थानपर किये गये दुःखदायी आघातके द्वारा वे उसे जानें?

उ०— अगर वे पर्याप्त रूपसे माताजीकी ओर खुले हों तो ऐसा किया जा सकता है —— लेकिन अधिकतर साधकोंमें बहुत अधिक अहंकार, श्रद्धाका अभाव, अंधता, स्वेच्छा और प्राणिक कामनाएं होती हैं —— ये ही चीजें उन्हें माताजीकी ओर से बन्द कर देती हैं और विरोधी शक्तियोंकी क्रियाका आवाहन करती हैं।

१७-६-१९३३

* * *

अज्ञानसे संबन्धित मानव-प्रकृतिके मानसिक और प्राणिक दोषोंको तबतक कार्य करनेका मौका दिया जाता है —— जैसे कि आसुरिक शक्तियोंके आक्रमणों और सुझावोंको भी अवसर दिया जाता है —— जबतक प्रकृतिमें कोई भी ऐसी चीज रहती है जो इन चीजोंका प्रत्युत्तर देती है। यदि माताजीके सामने ये चीजें तुममें उठती हैं तो इसका कारण यह है कि उस समय उनपर एक प्रबल दबाव डाला जाता है जिससे या तो वे निकल जायं या बने रहनेके लिये युद्ध करें। इसका उपाय है केवल माताजीकी ओर खुलना और अन्य सभी शक्तियोंका पूर्ण रूपसे और सर्वदा त्याग करना तथा जब वे सबसे अधिक क्रियाशील हों तब उनका सबसे अधिक त्याग करना। बाकी कार्य श्रद्धा, सरलता, अध्यवसाय आदिसे पूरा हो जायगा।

१६-११-१९३२

श्रीमां द्वारा परीक्षा

परीक्षा करनेकी भावना भी बहुत स्वस्थ भावना नहीं है और उसपर बहुत अधिक जोर नहीं देना चाहिये। भगवान्‌की ओरसे नहीं, बल्कि निम्नतर लोकोंकी —— मानसिक, प्राणिक और भौतिक लोकोंकी शक्तियोंकी ओरसे परीक्षाएं की जाती हैं और भगवान् उन्हें होने देते हैं, क्योंकि परीक्षा होना अन्तरात्माकी शिक्षाका एक अंग है और वह उसे अपने-आपको, अपनी शक्तियोंको तथा जिन सीमाओंको उसे पार करना है उनको जाननेमें सहायता करता है। माताजी प्रत्येक मुहूर्त्त तुम्हारी परीक्षा नहीं कर रही हैं, बल्कि परीक्षाओं और निम्नतर चेतनासे सम्बन्ध रखनेवाली कठिनाइयोंकी आवश्यकता से परे चले जानेमें तुम्हें प्रत्येक मुहूर्त्त सहायता कर रही हैं। अगर तुम हमेशा उस सहायताके विषयमें सचेतन रहो तो वह सभी आक्रमणोंके समय —— चाहे वे विरोधी शक्ति-

योंके हों या तुम्हारी अपनी निम्नतर प्रकृतिके —तुम्हारा सबसे अच्छा रक्षक साबित होगी।

सहायताके लिये की गयी पुकारोंका उत्तर देनेके लिये माताजीकी गुह्य क्रिया

अब अनुभवकी बात। निश्चय ही सहायताके लिये की गयी 'अ' की पुकार माताजीतक पहुँची थी, भले ही उसने अपने पत्रमें जिन सब ब्योरेकी बातोंका वर्णन किया है वे सब माताजीके भौतिक मनके सामने उपस्थित न भी हों। इस तरहकी पुकारें बराबर माताजीके पास आ रही हैं, कभी-कभी तो एक-पर-एक लगी हुई सैकड़ों आती हैं और सर्वदा ही उत्तर दिया जाता है। इनके अवसर नाना प्रकारके होते हैं, पर चाहे जिस आवश्यकताके कारण पुकार क्यों न की गयी हो, शक्ति उसका उत्तर देनेके लिये तैयार रहती है। गुह्य लोकमें इस क्रियाका यही सिद्धान्त है। यह साधारण मानवीय क्रिया-जैसी कोई चीज नहीं है और जो पुकारता है उसकी ओरसे कोई लिखित या मौखिक सन्देश भेजनेकी आवश्यकता नहीं होती; शक्तिको कार्यमें प्रवृत्त करनेके लिये चैत्य सत्ता द्वारा वार्त्तालाप करना ही पर्याप्त होता है। फिर यह कोई निर्वैयक्तिक शक्ति नहीं है और एक ऐसी दिव्य शक्तिका सुझाव, जो पुकारनेवाले किसी भी व्यक्तिको उत्तर देने और सन्तुष्ट करनेके लिये तैयार हो, यहां बिलकुल ही संगत नहीं बैठता। यह माताजीकी एक व्यक्तिगत चीज है और यदि उनमें यह शक्ति न होती और इस तरहकी क्रिया वे न कर सकतीं तो वे अपना काम करनेमें समर्थ न होतीं; परन्तु यह भौतिक स्तरपर की गयी बाहरी व्यावहारिक क्रियासे एकदम भिन्न है; और यद्यपि गुह्य क्रिया और भौतिक क्रिया मिल सकती हैं और मिलती भी हैं और गुह्य क्रिया भौतिक क्रियाको अत्यन्त फलप्रद बनाती है तो भी भौतिक स्तरकी पद्धतियां निश्चय ही एकदम भिन्न होती हैं। अब सहायता-प्राप्त व्यक्तिको काम करनेवाली शक्तिका बोध न होनेकी बात लें; अवश्य ही उसका जानना कार्यको फलप्रद बनानेमें बहुत अधिक मात्रामें सहायता करता, पर वह जानना अनिवार्य नहीं हो सकता; अगर वह न भी जाने कि कार्य कैसे हुआ है तो भी उसका फल होगा ही। उदाहरणार्थ, कलकत्ते-के तथा दूसरी जगहोंके तुम्हारे कार्यमें मेरी सहायता तुम्हारे साथ हमेशा थी और मेरी समझमें यह नहीं कहा जा सकता कि वह फलप्रद नहीं थी; परन्तु तुम्हें यदि किसी-न-किसी प्रकार इस बातका ज्ञान न भी होता कि मेरी सहायता

तुम्हारे साथ है तो भी वह उसी गुह्य स्वभावकी होती और उसका वही परिणाम होता।

२४-३-१९४६

***

प्र०— रातके एक वजेका समय था जब मेरे भाईने यन्त्रणाकारी पीड़ाकी अवस्थामें मुझे पुकारा और पूछा कि क्या श्रीअरविन्द उसे स्वस्थ कर सकते हैं। मैंने कुछ प्रसाद-के-फूल निकाले, जो मेरे पास थे, और उनसे उसके रोगाक्रान्त अंग को छुआ। और अहो! पीड़ा मिट गई और वह ठीक होने लगा। मैं जानना चाहता हूँ कि क्या आप इस बातसे सचेतन थे और आपने मेरी प्रार्थना सुनी थी।

उ०— ऐसे दृष्टान्तोंमें जो कुछ होता है वह यह है कि जब माताजी किसी व्यक्तिको स्वीकार कर लेती हैं तो वे अपनी सत्ताका कोई अंश उसके पास भेजती हैं और वह व्यक्ति जहां कहीं भी जाय वह अंश उसके साथ रहता है और यहां विराजमान माताजीके साथ सदा सम्पर्कमें रहता है। इसलिये जब वह कोई ऐसी चीज करता है जैसी तुमने श्रद्धा और भक्तिके साथ इस मामलेमें की तो वह चीज माताजीकी उस अंशविभूतिके द्वारा जो उस व्यक्तिके साथ होती हैं उनकी आन्तर या बाह्य चेतनामें पहुँचती है और उसके बदलेमें परिणाम पैदा करनेके लिये यहांसे 'शक्ति' जाती है।

माताजीके पुकारोंको सुननेके बारेमें गलत विचार

प्र०— जब 'क्ष' ने अपनी कठिनाईके बारेमें मुझसे शिकायत की तो मैंने उससे कहा कि माताजीकी सहायताको पुकारकर इसे दूर किया जा सकता है। परन्तु उसने तर्क किया कि उस-जैसी नवागन्तुकाकी पुकारें माताजी द्वारा सुनी जानेकी कोई आशा नहीं। पुराने और समुन्नत साधकोंसे इतनी अधिक पुकारें माताजीके पास जाती रहती हैं कि उस-जैसी आरम्भकर्त्री साधिकासे की जानेवाली नई पुकारें अरण्य-रोदन-मात्र होंगी और उस कोलाहलमें अनसुनी ही रह जायंगी। मैंने उत्तर दिया कि यदि हमारी पुकारोंके उत्तरमें माताजी

हमारे पास नहीं आतीं तो उसके लिये अवश्य उनके पास कुछ अपने ही कारण होंगे; और इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि जब वे आयेंगी तो ठहरनेके लिये आयेंगी। इस बीच हमारे अन्दर श्रद्धा और समता होनी चाहियें और हमें आवश्यक अवस्थाओंकी तैयारी करनी चाहिये। सम्भवतः उनके पास हमारे आदेशके अनुसार कार्य करनेकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करनेको है, और हम इस बातका आग्रह क्यों करें कि वे वह काम छोड़कर हमारी ओर ध्यान दें? ऐसा कभी सुननेमें नहीं आया कि जब किसीके द्वारा सीधे अपने हृदयसे सच्ची पुकार माताजीके पास भेजी जाती है तो वे उत्तर देनेमें चूक जाती हैं, क्योंकि स्वयं पुकारमें निहित शक्ति ही सूचित करती है कि वहां माताजी उपस्थित हैं। जब मैंने 'क्ष'से यह बात कही तो मैंने अपने ललाट-केन्द्रसे एक प्रबल दबाव और स्पन्दनोंको नीचे की ओर भौंहोंके बीच आते अनुभव किया। इसका क्या कारण है?

उ०– 'क्ष' के तर्क कोई विशेष युक्तियुक्त नहीं; तुम्हारे अधिक अच्छे हैं, यद्यपि सर्वथा निर्दोष नहीं। माताजी भौतिक मनसे सीमित नहीं, अतएव चाहे उनके पास "अधिक महत्त्वपूर्ण" कार्य करनेको हो फिर भी वह अरण्यसे या और कहीं से भी आनेवाली पुकारको सुननेके मार्गमें जरा भी बाधक नहीं होगा। साथ ही, व्यक्तियोंपर आध्यात्मिक क्रियाएं उनकी ज्येष्ठताके क्रमसे नहीं की जातीं; सो "पुराने व्यक्तियों" की चींख-पुकार उन्हें (किसी और पर क्रिया करनेसे) क्यों रोके? वे उन सबके साथ, जिन्हें उनकी जरूरत है, रह सकती हैं और रहती ही हैं। इसलिये तुम्हारा यह कहना कि "माताजी नहीं आतीं? नहीं आयेंगी?" कोई विशेष संगत नहीं, पर तुम्हारा बाकीका उत्तर बिलकुल संगत है। माताजी अब भी वहां उपस्थित हैं और तुम्हारे अन्दर कार्य भी कर रही हैं, केवल, तुम्हारी आन्तर दृष्टि एवं अनुभूति खुली हुई नहीं और इसलिये तुम उन्हें देख नहीं सकते या अनुभव नहीं कर पाते।

जो-कुछ ललाट-केन्द्रमें उतरा वह था उत्तर, या यूँ कहें कि माताजीकी उपस्थितिका स्पर्श — उनकी चेतना, उनकी शक्ति जो आन्तर मन, आन्तर संकल्प, आन्तर दृष्टिका केन्द्र खोलनेके लिये तुमपर कार्य कर रही है और जब वह खुल जाता है तो मनुष्य वह भी देखने और जानने लगता है जो स्थूल आंखके लिये अदृश्य और ऊपरी मनके लिये अज्ञेय है।

११-१०-१९३५

अचूक सहायता और संरक्षण

'नाम'की शक्ति एवं संरक्षणके विषयमें तुम्हें जो अनुभव हुआ वह ऐसे प्रत्येक व्यक्तिका अनुभव है जिसने ऐसी ही श्रद्धा और निर्भरताके साथ इसका प्रयोग किया है। जो लोग संरक्षणके लिये हृदयसे पुकारते हैं उन्हें प्राप्त होनेसे यह चूक नहीं सकता। किसी बाहरी परिस्थितिको तुम अपनी श्रद्धाको विचलित मत करने दो; क्योंकि सब कुछको पार कर लक्ष्य तक पहुँचनेके लिये इस श्रद्धासे बढ़कर अधिक बल और कोई चीज नहीं देती। ज्ञान और तपस्याका कुछ भी बल क्यों न हो, उनमें धारक शक्ति इससे कम ही होती है — श्रद्धा यात्राके लिये सबसे मजबूत सहारा है।

माताजीका संरक्षण वहां तुम्हारे ऊपर विद्यमान है और उनका सजग प्रेम भी। उसपर भरोसा रखो और अपनी सत्ताको उसकी ओर अधिकाधिक खुलने दो — तब वह आक्रमणोंको परे हटा देगा और तुम्हें सदा थामे रहेगा।

८-१०-१९३६

माताजीके संरक्षण कार्य करनेकी शर्तें

समस्त गुह्य शक्तियोंको दृष्टिमें रखकर तथा मृत्यु और रोग आदिकी कुछ शक्तियोंसे साधकोंकी रक्षा करनेके लिये जिन सब उत्तम अवस्थाओंको उत्पन्न करना सम्भव है उन सबको ध्यानमें रखकर ही माताजीने एक व्यवस्था की है। पर यह पूर्ण रूपसे कार्य नहीं कर सकती, क्योंकि स्वयं साधकोंमें भोजन तथा उसी तरहकी प्राणसे सम्बन्ध रखनेवाली अन्यान्य भौतिक चीजोंके प्रति समुचित मनोभाव नहीं है। पर फिर भी एक प्रकारका संरक्षण है। यदि साधक माताजी-की व्यवस्थाके बाहर जायं तो वे बस अपनी जिम्मेदारीपर ही जा सकते हैं।... पर यह व्यवस्था केवल आश्रमके लिये है, उन लोगोंके लिये नहीं जो आश्रमसे बाहर हैं।

१४-७-१९३३

* * *

प्र०— क्या यह सच नहीं कि साधक माताजी द्वारा निर्धारित नियमों-का पालन इसलिये करते हैं कि उन्हें महसूस होता है कि उनका पालन न करने और माताजीकी आज्ञाका उल्लंघन करनेसे मनुष्य

उनके संरक्षणके घेरेसे बाहर चला जाता है।

उ०— ठीक यही बात है — मनुष्य तुरन्त संरक्षणके घेरेसे बाहर चला जाता है।

८-६-१९३३

***

प्र०— सब चाहेंगे कि माताजीका संरक्षण हमारे साथ रहे; पर शायद कुछ शर्तें पूरी करनी होती हैं ?

उ०— बहुत ही कम लोग ऐसे हैं जो उनके संरक्षणको अपने साथ रहने देते हैं। एक सर्व-सामान्य संरक्षण सभीके चारों ओर विद्यमान है, पर अधिकतर लोग अपने मनोभाव, अपने विचारों या कार्योंसे उसके बाहर चले जाते हैं या फिर अन्य शक्तियोंके लिये द्वार खोल देते हैं।

२४-८-१९३३

***

इसका कारण यह नहीं है कि माताजीने अपना संरक्षण हटा लिया है — उन्होंने यह नहीं किया है। अधिक सम्भव है कि वह (कठिनाई) इस कारण आयी कि तुम अपनी आन्तर सत्तासे बहुत अधिक बाहर चले जाते हो और अपनेको बहिर्मुखी बना लेते हो। यह अधिक अच्छा है कि तुम फिर भीतर हट आओ और आन्तरिक स्थिरता और शान्तिको प्राप्त करो।

***

प्र०— यदि माताजीका संरक्षण लोगोंके चारों ओर सतत बना रहे तो मैं नहीं समझता कि उन्हें कभी विषाद और सन्देह होगा या कोई भी भगवद्विरोधी वस्तु कभी उनके पास आयेगी।

उ०— ये वस्तुएं आनेकी चेष्टा कर सकती हैं पर ये घुसने या टिकने नहीं पायंगी।

***

प्र०— यदि कोई बालक छोटी उम्रमें ही यहां आ जाय तो क्या वह उन कठिनाइयोंसे मुक्त हो जायगा जो कामवासनाके संग सामान्यतया ही रहा करती हैं?

उ०— यह कोई स्वत:सिद्ध सत्य नहीं — यह केवल सम्भावित है — इस शर्तपर कि वह पूर्ण रूपसे माताजीके प्रभाव तले आ जाय, जिन दूसरे साधकोंमें यह वासना है उनके वातावरणके प्रति अत्यधिक खुला न हो, शुरूकी उम्रमें ही चलायमान न हो जाय और न शृंङ्गारमय साहित्य पढ़ने आदिके द्वारा अपनेको विचलित ही कर ले। ऐसा एक भी बालक नहीं जो अबतक यह सब करनेमें समर्थ हुआ हो।

८-११-१९३३

दुर्घटनाएं और माताजीका संरक्षण

प्र०— आज सवेरे 'अ'के साथ मोटर-दुर्घटना हो गयी। क्या माताजी पहलेसे इस दुर्घटनाकी सम्भावनाको नहीं देख सकीं और उसे नहीं रोक सकीं? या यह इस कारण घटित हुई कि 'अ' किसी तरह उनके संरक्षण-क्षेत्रसे बाहर चला गया था?

उ०— दुर्घटनाको रोकना सम्भव नहीं था। जब खतरा आवे तब सबसे पहले करनेकी चीज है माताजीको पुकारना, उससे साधारण संरक्षण तुरत फलप्रद हो जाता है। 'अ' वैसा करनेके लिये अनुपयुक्त अत्यन्त बहिर्मुखी अवस्थामें था और जो करना चाहिये था उसके एकदम विपरीत चीज ही उसने की — मोटरके पीछे जानेके बजाय उसने उसके सामने चले जानेकी चेष्टा की। परन्तु सच्चा कारण तो बहुत भीतरकी चीज थी — यह आन्तर सत्ताके किये हुए उन चुनावोंमेंसे एक था (अवश्य ही सचेतन मनको मालूम नहीं था) जो प्रत्युत्तरके रूपमें इन चीजोंको ले आते हैं।

२७-१-१९३६

प्राणलोकमें माताजीका संरक्षण

यह प्राणलोकका एक स्वप्न था जहां सब प्रकारके खतरे तबतक आते रहते हैं जबतक तुममें उनका मुकाबला करनेका साहस नहीं आ जाता। अगर तुममें

भय न हो अथवा माताजीका संरक्षण हो (जो उन्हें याद करने या पुकारनेसे प्रकट होता है), तब ये खतरे काफूर हो जाते हैं। तुम्हें पागल लोगोंसे जो भय था उसीने प्राणमें यह चीज उत्पन्न की थी। इस भयकी तरह ही इन चीजोंको भी प्रकृतिसे बाहर निकाल फेंकना होगा।

८-९-१९३३

* * *

तुम्हारी अनुभूतिमें हुआ यह कि तुम्हारा प्राण-पुरुष माताजीके साथ युक्त होनेकी अपनी इच्छाके कारण शरीरसे मुक्त हो गया (तुम प्राणमय और भौतिक लोककी सीमापर माताजीसे मिले) और शरीरसे स्वतन्त्र अपना निजी जीवन यापन करने लगा। वह प्राणलोकमें प्रविष्ट हुआ और, अब शरीरपर आश्रित न होनेके कारण, पहले अपने-आपको निःसहाय अनुभव करने लगा जबतक कि उसने माताजीको नहीं पुकारा। 'अ' का वहां प्रकट होना सम्भवतः स्वयं 'अ' के प्राणके किसी भागका प्रकट होना था, पर अधिक सम्भव है कि उसके रूपमें शायद किसी प्राणमय सत्ताका, सम्भवतः उसी प्राणमय सत्ताका जो उसे परेशान करती रही है, प्रकट होना हो। जब तुम प्राणमय लोकमें जाते हो तब बहुत-सी ऐसी चीजोंसे तुम्हारी भेंट होती है,—एकमात्र पर्याप्त संरक्षण है माताजीको पुकारना।

७-९-१९३३

आन्तरिक समर्पणके द्वारा कठिनाइयोंका त्याग

किसी उपद्रवसे छुट्टी पानेके लिये शरीरसे माताजीके पास आना अनावश्यक और व्यर्थ है; तुम्हें अन्तरमें पैठकर उनका आश्रय ग्रहण करना चाहिये और अनुचित क्रियाका त्याग करना चाहिये, जैसा कि इस अवसरपर तुमने स्वयं भी समझा है। शरीरसे उनके पास आनेपर बस भूल करते रहने और उसे ठीक करनेके लिये उनके पास आनेकी एक आदत-सी पड़ जायगी और फिर वह, भीतरसे कठिनाईको छोड़ देने, उससे समर्पण करा देनेके बदले, उसको उन्हींके ऊपर फेंक देनेकी अनुचित क्रिया भी उत्पन्न करेगी। वास्तवमें एक प्रकारके साधारण समर्पणकी आवश्यकता है जो छोटी-छोटी बातोंपर होनेवाले इन सब उपद्रवोंको, अहंकार, अपने ही दृष्टिकोणपर आग्रह, अपने ही ढंगसे चलनेका मौका न मिलने अथवा अपनी स्वतन्त्रता या महत्त्वको लोगोंके स्वीकार न करने पर होनेवाले क्रोध आदिको रोक सके।

* * *

आन्तरिक एकता ही त्राण करती है, न कि बाह्य समीपता।

१७-११-१९३३

सहायताके लिये श्रीमांको लिखना

'अ'से बातें करके और माताजीको भी लिखकर तुमने अच्छा ही किया। निश्चय ही माताजीने 'अ' की कठिनाइयोंको देखा था। यह ठीक है कि उसकी कठिनाई है एक प्रकारके अबाध उद्घाटनका अभाव — अन्यथा वह सब शीघ्र दूर किया जा सकता और धीरे-धीरे आसानीसे ही प्रकृति (मन, अहंकार इत्यादि) में आवश्यक परिवर्तन ले आया जाता। लिखना, जैसा कि तुम करते हो, अपने-आपको उद्घाटित करने और ठीक-ठीक स्पर्श ग्रहण करनेमें सहायक होता है। 'अ' का जो यह तर्क है कि माताजी तो जानती ही हैं और इसलिये उन्हें लिखने-की कोई आवश्यकता नहीं, वह तभी लागू हो सकता है जब कि श्रीमां और साधकके बीच आदान-प्रदानका एक उन्मुक्त अथवा, कम-से-कम, पर्याप्त प्रवाह चल रहा हो; पर, जब कोई गम्भीर कठिनाई आ जाय तब वह उतना लागू नहीं होता। स्वभावतः ही हम लोग उसके संघर्षमें उसकी सहायता करनेका अधिक-से-अधिक प्रयत्न करेंगे।

१४-५-१९३६

सभी चेष्टाएं माताजीके सामने खोलकर रख देना

तुम्हारे लिये मैं एक नियम निश्चित कर सकता हूं, "ऐसी कोई बात मत करो, कहो या विचारो जिसे तुम माताजीसे छिपाना चाहो।" और यह बात उस आपत्ति का उत्तर दे देती है जो "इन छोटी-छोटी बातों" को श्रीमांके ध्यानमें ले आनेके विरुद्ध तुम्हारे अन्दर — तुम्हारी प्राण-सत्ताकी ओरसे, ठीक है न? — उठायी गयी थी। भला तुम यह क्यों सोचते हो कि माताजी इन सब चीजोंके कारण परेशान होंगी अथवा इन्हें नगण्य समझेंगी? अगर 'समस्त' जीवनको ही योग होना हो तो फिर जीवनमें ऐसी कौन-सी चीज है जिसे तुच्छ या महत्त्व-हीन कहा जाय? अगर माताजी उत्तर न भी दें तो भी तुम्हारे कार्य और आत्मोन्नतिसे संबन्धित किसी बातको समुचित भावके साथ उनके सामने रखनेका अर्थ है उसे उनके संरक्षणमें, सत्यकी ज्योतिमें, रूपान्तरके लिये कार्य करनेवाली शक्तिकी किरणोंके नीचे रख देना — क्योंकि जो बात उनके ध्यानमें ले आयी जाती है उसपर तुरत ही वे किरणें कार्य करना आरम्भ कर देती हैं। तुम्हारे

भीतर जो चीज वैसा न करनेकी सलाह देती है जब कि तुम्हारा आत्मा तुमसे उसे कराना चाहता है, वह निश्चय ही प्राण-सत्ताकी एक युक्ति होगी जिसके द्वारा वह ज्योतिकी किरण और शक्तिकी क्रियासे बचना चाहती है।

१८-५-१९३२

* * *

प्र०— आज मेरे मनमें एक विचार आया है: "क्यों तुम प्राणिक सत्ताके नियन्त्रणके विषयमें अपने ऊपर इतनी जबरदस्ती कर रहे हो? अच्छा हो तुम अपने विचारों और कामनाओंको माताजीके आगे खोलकर रखनेकी चिन्ता मत करो; वरंच तुमपर कार्य करना माताजीपर छोड़ दो।"

उ०— यदि तुम चाहते हो कि माताजी तुम्हारे अन्दर कार्य करें तो तुम्हें अपने विचारों और कामनाओंको उनके सामने रखना और बहिष्कृत करना होगा।

३-६-१९३३

* * *

प्र०— माताजीके नाम अपना कलका पत्र पढ़नेपर आज मुझे लगता है मानों वे 'क्ष' और 'य' के बारेमें मेरे अशुद्ध विचारोंको उनके सामने रखनेसे कोई विशेष प्रसन्न नहीं हुईं।

उ०— तुम्हारे इन बातोंके लिखनेसे माताजीको किसी प्रकारकी नाराजगी नहीं होती। यदि कोई ऐसी बातें हों तो उनके बारेमें चुप रहनेकी अपेक्षा उन्हें लिखना ही अधिक अच्छा है।

९-६-१९३३

शरीरको नीरोग करनेके लिये माताजीकी शक्तिका कार्य

शरीरमें निहित शक्ति इस तरहकी चीजें नहीं किया करती। माताजीकी शक्ति ही ऐसी चीजें करती है, जब कि कोई उसे पुकारता है और अपने-आपको उसकी ओर खोलता है। जिन लोगोंने कभी योग नहीं किया और किसी चीजके

विषयमें सचेतन नहीं हैं, वे लोग भी इस तरह, कारण जाने बिना अथवा जिस रीतिसे उनका रोग ठीक किया गया उसे अनुभव किये बिना, रोगमुक्त हो जाते हैं। शक्ति ऊपरसे आती है अथवा अवतरित होते समय वह चारों ओरसे घेर लेती है और बाहरसे भीतर प्रवेश करती है अथवा भीतर अवतरित होनेके बाद भीतरसे बाहर आती है। जब तुम शक्तियोंके कार्यके विषयमें सचेतन होते हो तब तुम क्रियाको अनुभव करते हो।

इसका (जागरणका) मतलब है पीछेसे चैत्य पुरुषका सज्ञान कार्य करना। जब यह सामनेकी ओर आ जाता है तब यह मन, प्राण और शरीरपर छा जाता है और उनकी क्रियाओंको चैत्यभावापन्न बनाता है। यह अभीप्सा करने और निःसंशय होकर माताजीके प्रति पूर्णरूपेण मुड़ जाने और आत्मसमर्पण करनेपर सबसे उत्तम रूपमें सामने आता है। पर जब आधार तैयार हो जाता है तब कभी-कभी यह स्वयं अपने-आप भी सामने आ जाता है।

५-५-१९३३

* * *

प्र०– जब मैं नींदसे उठा तो मैंने पाया कि मेरे अन्दर सर्दी घुसी हुई है। मेरी चेतना माताजीकी शक्तिको उतार लाई और सर्दी गायब हो गई। अन्य कष्टोंके लिये भी मैंने इसी प्रक्रियाका प्रयोग किया। मैं जानना चाहता हूँ कि क्या 'शक्ति' के लिये अपनाई गई विधि बिलकुल ठीक थी या नहीं।

उ०– यह बिलकुल ठीक तरीका है। यह बहुत अच्छा है कि तुम 'शक्ति' का प्रयोग करना सीख रहे हो।

२७-८-१९३४

* * *

यह मेरा एक अनुभूत तथ्य है कि जब शरीरमें बहुत प्रबल और सुदृढ़ विरोध हो तो स्वयं शरीरपर अधिक सीधा कार्य करनेके लिये शक्तिके एक यंत्रके रूपमें भौतिक साधनोंकी कुछ सहायता लेना लाभदायक सिद्ध हो सकता है; क्योंकि उस हालतमें शरीर यह अनुभव करता है कि वह विरोधका सामना करनेमें दोनों ओरसे, भौतिक तथा अतिभौतिक दोनों साधनोंसे, सहारा पा रहा है।

माताजीकी शक्ति एक साथ ही दोनोंके द्वारा कार्य कर सकती है।

१-६-१६३६

* * *

प्र०– प्राय: पंद्रह दिनसे अधिक हुए, प्रत्येक दिन जब मैं प्रणामके समय माताजीका स्पर्श पाता हूँ तब मुझे एक प्रकारके प्रबल पोषणका अनुभव होता है और उसके साथ प्रसन्नता और शक्ति भी मिली होती है, मानो एक नया पदार्थ मेरे भौतिक शरीरतकमें ढाला जा रहा हो।

उ०– चूँकि तुम अस्वस्थ हो, इसलिये माताजी तुम्हारी भौतिक सत्तामें, उसके सत्त्वको नया बनानेके लिये, दिव्य शक्ति और स्वास्थ्यका पोषक पदार्थ ढालती हैं।

४-११-१६३४

रोगको ठीक करनेमें माताजीकी क्रिया

प्र०– हाल हीमें माताजीके सामने एक रोगीका जो मामला रखा गया था उसमें उनकी क्रिया किस आधारपर आगे बढ़ी?

उ०– माताजीने उस सारे मामलेके सम्बन्धमें अपने आन्तरिक प्रत्यक्षके आधारपर कार्य किया; वे केवल बाहरी तथ्योंके ही नहीं बल्कि जिस चीजको वे उनके पीछे स्थित अनुभव करती या देखती हैं उसके आधारपर कार्य करती हैं।

२६-८-१६३५

* * *

प्र० – 'क्ष' का अपनी कटि-सन्धि-पीड़ाके विषयमें मुझे लिखा गया पत्र मैंने उसी दिन नहीं अगले दिन माताजीको भेजा। तो भी 'क्ष' के बिलकुल नये पत्रसे जान पड़ता है कि उसका दर्द मुझे वह पत्र पहुँचनेके तुरत बाद ही दूर हो गया था। क्या उस पत्रका

विषय माताजीको बताये जानेसे पहले ही उसका आप-से-आप परिणाम उत्पन्न हो गया था ?

उ०– 'य' ने उसी दिन 'क्ष' के दर्दके बारेमें माताजीको बताया था — इसलिये स्वयं पत्रका आप-से-आप परिणाम उत्पन्न होनेकी कल्पना करनेकी जरूरत नहीं। किन्तु, ऐसा स्वतः–प्रवृत्त परिणाम प्रायः ही या तो पत्र लिखनेके तुरन्त बाद या उसके माताजीके वायुमण्डलमें प्रवेश करनेपर अवश्यमेव पैदा होता है।

XI

कतिपय स्पष्टीकरण

कतिपय स्पष्टीकरण

श्रीमाताजीके चक्रका तात्पर्य

प्र०— मैं प्राय: श्रीमाताजीके चक्र और उसके अर्थके विषयमें सोचता रहा हूँ। मैंने इसे इस प्रकार समझा है:

मध्यका वृत्त —— परात्पर शक्ति।

चार भीतरी दल —— अतिमानससे अधिमानसतक कार्य करनेवाली चार शक्तियां।

बारह बाहरी दल —— अधिमानससे संबोधि और मनतक उन चार शक्तियोंका बारह शक्तियोंमें विभाग।

क्या आपके विचारमें मैंने ठीक-ठीक अर्थ समझा है ?

उ०— मूलत: (साधारण मूलतत्त्वमें) १२ शक्तियां वे स्पन्दन हैं जो अभिव्यक्तिके लिये आवश्यक हैं। ये बारह आरम्भसे ही श्रीमाताजीके सिरके ऊपर देखी गयी हैं। इस तरह वास्तवमें सूर्यसे निकलनेवाली १२ किरणें हैं ७ नहीं। ग्रह आदि भी १२ हैं इत्यादि। शक्तियोंके ब्योरेका ठीक-ठीक अर्थ करनेका जहांतक सम्बन्ध है, मैं कोई ऐसी चीज नहीं देखता जो तुम्हारे बताये हुए क्रमके विरुद्ध हो। यह अर्थ अच्छी तरह लग सकता है।

१५-४-१९३४

माताजीकी ध्वजाका तात्पर्य

नीली ध्वजाके विषयमें । मैं माने लेता हूँ कि तुम्हारा मतलब सुफेद कमलवाली ध्वजासे है। यदि ऐसा है तो वह माताजीकी ध्वजा है, क्योंकि सुफेद कमल उनका प्रतीक है जैसे लाल कमल मेरा। ध्वजाका नीला रंग श्रीकृष्णके रंगके रूपमें अभिप्रेत है और इसलिये आध्यात्मिक या दिव्य चेतनाका द्योतक है जिसे स्थापित करना माताजीका कार्य है ताकि वह भूतलपर शासन कर सके। इस ध्वजाको आश्रमकी ध्वजाके रूपमें प्रयुक्त करनेका अर्थ यह है कि हमारा कार्य इस चेतनाको उतारना और इसे संसारके जीवनकी नेत्री बनाना है।

१४-३-१९४९

श्रीमांके लिये जीवनकी शक्तियोंको जीतना

इस योगका उद्देश्य जीवनकी शक्तियोंका त्याग करना नहीं है, बल्कि एक आंतरिक रूपान्तर ले आना और जीवनसम्बन्धी अपने मनोभाव और शक्तियोंके व्यवहारमें परिवर्तन ले आना ही इसका उद्देश्य है। ये शक्तियां अभी अहंकारपूर्ण भावमें और भगवद्विरोधी उद्देश्योंके लिये व्यवहृत होती हैं; इनका व्यवहार भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पणके भावके साथ और भागवत कार्यके उद्देश्यसे करना होगा। श्रीमांके लिये इन्हें फिरसे जीतनेका तात्पर्य यही है।

योग शक्तिके सहायकके रूपमें बाह्य साधनोंका प्रयोग

निःसन्देह, व्यक्तिको इन बाह्य साधनोंका प्रयोग करना ही होगा और इस विषयमें व्यक्तिको सावधान भी रहना होगा ताकि यथासम्भव अधिक-से-अधिक साधन उसके पक्षमें हों और उसकी ओरसे विरोधी, शक्तिको यथासम्भव कम-से-कम सुयोग मिले। परन्तु हमारे लिये किसी भी बाहरी क्रियाकी सफलता तबतक सुनिश्चित नहीं हो सकती जबतक उसके पीछे बढ़ती हुई यौगिक दृष्टि और यौगिक शक्ति न हो।

स्वयं हमारे सामने बाहरसे भीषण कठिनाइयां आई हैं, पेरिस-स्थित उप-निवेश-मन्त्रीको हमारे विरुद्ध अर्जियां भेजी गईं और यहांके गवर्नरसे रिपोर्ट मांगी गई जिसपर यदि कार्रवाई की जाती तो आश्रम भीषण संकटमें पड़ जाता।

हमने बहुत हलके और सादे ढंगके बाहरी साधनोंका प्रयोग किया, अर्थात् माताजीके भाई (फ्रांस-शासित विषुवदीय अफ्रीकाके गवर्नर) को (और फ्रांसके एक अग्रगण्य लेखक, हमारे एक शिष्यको भी) प्रेरित किया कि वे फ्रांसके मन्त्रिमण्डल और हमारे बीच मध्यस्थता करें, परन्तु औपनिवेशिक कार्यालयकी कार्रवाईको निर्धारित करनेके लिये, यहांके गवर्नरसे अनुकूल रिपोर्ट प्राप्त करनेके लिये, यहां जो कुछ-एक लोग हमारे विरुद्ध थे उनके मनोंको बदलनेके लिये तथा दूसरोंकी शत्रुताको विफल करनेके लिये मैंने अधिकतर तो एक प्रबल आन्तरिक 'शक्ति' का ही प्रयोग किया। इन सब विषयोंमें मुझे सफलता प्राप्त हुई और यहां हमारी स्थिति पहलेसे अधिक दृढ़ हो गई है; विशेषकर यह कि एक नया और अनुकूल गवर्नर यहां आ गया है। फिर भी हमें सजग रहना है ताकि स्थिति फिरसे संकटग्रस्त न हो जाय। साथ ही इस सबके परिणाम-स्वरूप एक हानि भी हुई है,—हमसे कहा गया है कि हम अब और अधिक

घर न खरीदें, न ही किरायेपर लें बल्कि इसके स्थानपर अपने घर बनवायें। यह भूमि और अधिक धनके बिना कठिन ही है, अतः इस समय हम आश्रमका विस्तार करनेमें असमर्थ हैं।

परन्तु कुछ अंशोंमें यह कोई हानि नहीं, क्योंकि दीर्घकालसे मेरी यह इच्छा रही है कि और अधिक विस्तारको स्थगित करके आश्रमके आन्तरिक जीवनको अधिक पूर्ण रूपसे आध्यात्मिक अर्थमें सुदृढ़ किया जाय।

यह सब मैंने इस बातके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है कि यौगिक दृष्टिकोणसे वस्तुओंके साथ कैसे निपटना होता है।

२०-३-१९३५

भौतिक विस्तार और आन्तरिक प्रगति

प्र०— क्या माताजीका अधिक घर लेते जाना उनके कार्यकी प्रगतिका चिह्न है?

उ०— यह तो भौतिक विस्तारका चिह्न है। प्रगति उस चीजपर निर्भर करती है जो इसके पीछे है; यदि आन्तरिक प्रगति वहां न हो तो भौतिक विस्तारका कोई अधिक प्रयोजन नहीं।

७-७-१९३३

व्यापार तथा आध्यात्मिक लाभ

अगर तुम माताजीको रुपया दो तो वह कार्य 'व्यापारिक' नहीं बन सकता; व्यापारमें व्यक्तिगत लाभकी भावना होती है, और यहां तुम्हारा लाभ केवल आध्यात्मिक है।

२-४-१९४४

माताजी और सौन्दर्यकी अभिव्यक्ति

प्र०— श्रीमाताजी बहुमूल्य और सुन्दर कपड़े क्यों पहनती हैं?

उ०— क्या तुम्हारी धारणा यह है कि पृथ्वीपर दरिद्रता और कुरूपताके द्वारा ही भगवान्का प्रतिनिधित्व होना चाहिये।

सौन्दर्य भी ठीक उतने ही अंशमें भगवान्का एक प्रकाश है जितने अंशमें ज्ञान, शक्ति या आनन्द। भला कोई यह प्रश्न भी करता है कि श्रीमाताजी ज्ञान या शक्तिके द्वारा क्यों भागवत चेतनाको अभिव्यक्त करना चाहती हैं, अज्ञान और दुर्बलताके द्वारा क्यों नहीं करतीं? यह प्रश्न उनके कलापूर्ण और सुन्दर कपड़े पहननेके विरुद्ध उठाये हुए प्राणपुरुषके प्रश्नसे अधिक मूर्खतापूर्ण या अर्थहीन न होगा।

२७-२-१९३३

प्र०– चाहे माताजी सुन्दर साड़ियां पहनें या मामूली, चाहे महलमें रहें या जंगलमें, इससे क्या उनकी चेतनामें कोई अन्तर पड़ता है? भला आन्तरिक सद्वस्तुमें ये बाहरी चीजें क्या जोड़ सकती हैं? सम्भवतः उसे घटानेका ही कारण बनती होंगी।

उ०– बाहरी चीजें आन्तर सद्वस्तुके अन्दर की ही किसी चीजकी अभिव्यक्ति होती हैं। सुन्दर साड़ी या महल वस्तुओंमें विद्यमान सौन्दर्य-तत्त्वकी अभिव्यक्तियां हैं और यही उनका प्रधान मूल्य है। भागवत चेतना इन सब चीजोंसे बंधी हुई नहीं है और न उसमें कोई आसक्ति है; परन्तु यदि वस्तुओंमें विद्यमान सौन्दर्य भी उसके अभीप्सित कर्मका अंग हो तो वह इन सब चीजोंसे विरत होनेके लिये भी बाध्य नहीं है। जब आश्रम अभी बना नहीं था तब माताजी पैबन्द लगी हुई सूती साड़ियां पहनती थीं। जब उन्होंने कामका भार लिया तब यह आवश्यक हो गया कि वे अपनी आदतोंको बदलें और इसीलिये उन्होंने ऐसा किया।

२२-१०-१९३५

अतिमानसमें निवास और संसारमें रुचि

प्र०– क्या माताजीके लिये या किसीके लिये भी यह किसी प्रकार सम्भव भी है कि वह 'अधिमानस'से ऊपर या फिर नीरवतामें ही निवास करते हुए संसारमें किसी प्रकारकी दिलचस्पी ले, क्योंकि संसार तो वहांसे धूलिका एक कणमात्र अनुभूत होगा।

उ०– यह पूर्णतया इसपर निर्भर करता है कि किस आधारपर व्यक्ति नीरवतामें या उससे ऊपर निवास करता है। 'भागवत चेतना'की तो धूलि-कणमें भी

उतनी रुचि हो सकती है जितनी अनन्ततामें।

८-८-१९३४

प्रफुल्लता और यौगिक प्रसन्नता

प्रफुल्लता और निश्चिततताका जहांतक प्रश्न है — हलका 'परवा नहीं' वाला मनोभाव वह अंतिम चीज है जिसे रखनेकी सलाह हम किसीको देंगे। माताजीने तो प्रसन्नताकी बात कही थी, और अगर उन्होंने 'लाइट-हार्टेड' (मामूली हंसी-खुशी) शब्दका व्यवहार भी किया हो तो उससे उनका मतलब कोई हलकी या निर्बोध प्रफुल्लता और निश्चिततता नहीं था — यद्यपि एक गम्भीरतर और सूक्ष्मतर प्रफुल्लताको यौगिक स्वभावके एक अंगके रूपमें स्थान प्राप्त हो सकता है। उनका मतलब था कठिनाइयोंके सामने भी प्रसन्नतापूर्वक समत्वका भाव बनाये रखना और इसमें यौगिक शिक्षा या उनके अपने अभ्यासके विरुद्ध कोई बात नहीं है। ऊपरी सतहपर प्राण-प्रकृति (सच्ची प्राण-प्रकृतिकी गहराइयां भिन्न प्रकारकी होती हैं) एक ओर तो हंसी-खुशी और भोगसे और दूसरी ओर दुःख, निराशा, उदासी और दुर्घटनासे आसक्त होती है,—क्योंकि ये ही उसके लिये जीवनके अभीप्सित प्रकाश और अन्धकार हैं; परन्तु उज्ज्वल या विशाल और मुक्त शान्ति या आनन्दमय तीव्रता या, सबसे उत्तम, इन दोनोंका एकमें घुल-मिल जाना ही योगमें अन्तरात्मा और मन दोनोंकी — और सच्चे प्राणकी भी — सच्ची स्थिति है। एकदम मानव साधक के लिये भी ऐसी स्थितिको प्राप्त करना पूर्ण रूपसे सम्भव है, इसे प्राप्त करनेसे पहले किसीको दिव्य होनेकी आवश्यकता नहीं है।

सच्चा प्रेम और ईर्ष्या

केवल एक बात मुझे यहां अवश्य लिखनी होगी जिससे तुम्हारी बुद्धिमें कहीं कोई भ्रान्त भावना न बनी रह जाय। एक चिट्ठीके एक अंशमें तुमने शायद ऐसा कहा है कि माताजीने तुमसे यह कहा था कि साधारण जीवनमें सच्चे प्रेमके अन्दर ईर्ष्याका होना अनिवार्य है और अगर एकको दूसरी जगह प्रेम करते हुए देखनेपर दूसरेमें ईर्ष्या न हो तो फिर इसका मतलब है कि वे एक-दूसरेको प्रेम नहीं करते। निश्चय ही तुमने माताजीकी बातको सुनने और समझनेमें अपूर्व ढंगकी भूल की होगी। इस विषयमें माताजीने जो कुछ बराबर कहा है और जैसा उनका विचार रहा है उसके ठीक विपरीत यह बात

है और उनके समूचे ज्ञान और अनुभवके एकदम विरुद्ध है। यह तो ईर्ष्या और प्रेमके विषयमें साधारण मनकी भावना है, उनकी नहीं। उन्हें अच्छी तरह याद है कि उन्होंने ठीक इसके विपरीत तुमसे यह कहा था कि साधारण जीवनमें भी, यदि मनुष्यमें सच्चा प्रेम हो तो, वह ईर्ष्या नहीं करता। मनुष्यके अहंकारपूर्ण निम्न प्राणमें अपनी पसन्दकी चीजों या व्यक्तियोंको पकड़ रखने और अधिकृत कर रखनेकी एक सहजवृत्ति होती है और उसी निम्न प्राणकी एक साधारण क्रिया है ईर्ष्या, इससे भिन्न यह और कोई चीज नहीं हो सकती। यहां पर मैंने इस बातको स्पष्ट कर देना इसीलिये अधिक अच्छा समझा कि तुम्हारे अन्दर इस बातके विषयमें कोई भ्रान्त धारणा न रह जाय कि निम्नतर प्राण-प्रकृतिकी ऐसी क्रियाओंको अन्तरात्माके सत्यके अन्दर कोई अनुमति या आधार नहीं मिला करता; उनका सम्बन्ध प्राणगत अज्ञानसे होता है और वे प्राणगत अहंकारके परिणाम होती हैं।

१-२-१९३३

प्राणिक प्रेमकी स्तुति करनेकी भूल

प्राणिक प्रेमका जादू कैसा भी क्यों न हो, जब एक बार वह झड़ जाय और मनुष्य एक अधिक ऊंचे स्तरपर पहुँच जाय तो उसे प्राणिक प्रेमको यों देखना चाहिये कि वह कोई वैसी महान् वस्तु नहीं थी जिसकी उसने कल्पना की थी। उसका यह अतिरञ्जित मूल्यांकन अपने मनमें बनाये रखनेका अर्थ है अपनी चेतनाको उस महत्तर वस्तुकी ओर आकर्षणसे रोके रखना जिसकी तुलनामें प्राणिक प्रेम एक क्षण भी नहीं टिक सकता। यदि कोई मनुष्य एक घटिया अतीतके लिये इस प्रकारका तीव्र उत्साह बनाये रखे तो वह उत्साह निश्चय ही समग्र व्यक्तित्वको उच्चतर भविष्यके लिये विकसित करनेके कार्यको अधिक कठिन बना देगा। निःसन्देह, माताजी यह नहीं चाहतीं कि कोई व्यक्ति पीछे मुड़कर पुराने प्राणिक प्रेमकी ओर उत्साहपूर्ण सराहनाके भावसे दृष्टि डाले। सचमुच, वस्तुओंके किसी भी यथार्थ मूल्यांकनमें वह "इतना तुच्छ" है। यह दो व्यक्तियोंके प्राणिक रागावेशकी तुलनाका या उनमेंसे एकके रागावेशको तुच्छ बताकर दूसरेके रागावेशकी अतिशय सराहना करनेका प्रश्न बिलकुल ही नहीं है। इस सारी-की-सारी चीजको ही क्षीण होकर नगण्य हो जाना होगा और भूतकालकी उन छायामय रचनाओंके गर्भमें विलीन हो जाना होगा जिनका अब कोई महत्त्व ही नहीं।

१९३४

यौन क्षुधाको भोग द्वारा मिटानेका भ्रामक विचार

इस विचारके सम्बन्धमें सचाई तुम्हें माताजी पहले ही बता चुकी हैं। यह विचार कि यौन लालसाका पूरी तरह उपभोग करनेसे वह समाप्त हो जायगी और सदाके लिये मिट जायगी, प्राणके द्वारा अपनी कामनाके लिये अनुमति पानेको मनके सामने रखा गया भ्रामक बहाना ही है; इसके अस्तित्वका और कोई कारण या सत्य या औचित्य नहीं। यदि कभी-कभी किया गया उपभोग यौन तृष्णाको खदबदाता रखता है तो पूर्ण उपभोग तो तुम्हें केवल उसकी दलदलमें ही फंसा देगा। दूसरी भूखोंकी तरह यह भूख भी क्षणिक तृप्तिसे मिटती नहीं; कुछ देर रुकी रहकर यह फिर जग उठती है और पुनः उपभोग चाहती है। न तो तर माल और न आकण्ठ उपभोग ही इसका ठीक इलाज हैं। यह तो बस मिट सकती है एक आमूल चैत्य परित्याग या पूर्ण आध्यात्मिक उद्‌घाटनसे जिसके साथ एक ऐसी चेतनाका अधिकाधिक अवतरण हो जो इसे नहीं चाहती और जिसके पास अधिक सच्चा आनन्द है।

२३-४-१६३७

समुचित अभिव्यक्तिके लिये श्रीमांकी स्वीकृति

तुम यह क्यों समझते हो कि माताजी अभिव्यक्तिके लिये स्वीकृति नहीं देतीं —बशर्ते कि वह समुचित चीजकी समुचित अभिव्यक्ति हो,—अथवा यह क्यों मान लेते हो कि निश्चल-नीरवता और सच्ची अभिव्यक्ति परस्पर-विरोधी चीजें हैं? सच पूछा जाय तो सबसे सच्ची अभिव्यक्ति अखण्ड आन्तर निश्चल-नीरवतामेंसे ही आती है। आध्यात्मिक निश्चल-नीरवता महज शून्यता —खालीपन ही नहीं है; और न उसे पानेके लिये समस्त क्रियाकलापसे दूर हटना ही अनिवार्य है।

माताजी द्वारा भारतीय संगीतका मूल्यांकन

तुम्हारे इस विचारसे अधिक विचित्र भला और कौन-सी बात हो सकती है कि माताजी केवल यूरोपियन संगीत पसन्द करती हैं और भारतीय संगीतको न तो पसन्द करती हैं न उसे कोई मूल्य देती हैं—वह या तो उसे पसन्द करनेका महज दिखावा करती हैं या उसे यों ही होने देती हैं जिससे लोग निरुत्साहित न हों! याद रखो कि ये माताजी ही हैं जिन्होंने बराबर तुम्हारे

संगीतकी प्रशंसा की है और उसका समर्थन किया है और तुम्हारे पीछे अपनी शक्ति प्रयुक्त की है जिससे कि तुम्हारा संगीत आध्यात्मिक परिपूर्णता और सौन्दर्यकी ओर विकसित हो। मैंने केवल तुम्हारे काव्यमें और उसकी बारीकियोंमें सबसे अधिक तुम्हें सहायता दी; माताजी केवल साधारण शक्तिके द्वारा ही उसमें सहायता दे सकीं, क्योंकि वे मूल कविताओंको नहीं पढ़ सकती थीं (यद्यपि अनुवादमें उन्हें वे बहुत सुन्दर लगीं), पर संगीतमें बात ठीक इसके विपरीत हुई है। निश्चय ही तुम यह नहीं कह सकते कि इन सब बातोंको तुमने अनुभव नहीं किया। और 'अ' के विकासकी बात? वह भी भारतीय संगीत था, यूरोपियन नहीं। और फिर मैं जब तुम्हारे संगीतकी प्रशंसा तुम्हें लिखता हूँ तब क्या तुम यह समझते हो कि मैं केवल अपनी ही राय प्रकट करता हूँ? अधिकांश समय हम दोनोंके भावोंको प्रकट करनेके लिये मैं केवल उन्हींके शब्दोंका व्यवहार करता हूँ।

२०-१२-१९३२

माताजीका संगीत

माताजीके संगीतको प्रायः ही 'अ' ने इस या उस रागका भारतीय संगीत बतलाया है। माताजीके भीतरसे जो कुछ आता है उसे ही वे बजाती हैं — वे साधारणतया कोई निश्चित रूपसे तैयार किया हुआ यूरोपियन या भारतीय राग नहीं बजातीं — भारतीय संगीत तो वास्तवमें उन्होंने कभी सीखा ही नहीं है।

११-९-१९३४

* * *

माताजीने बचपनसे लेकर बड़ी होनेतक गाना-बजाना किया है — इसलिये कई बार गाने या बजानेमें उन्हें कोई तकलीफ नहीं होती।

१५-९-१९३३

* * *

संगीतके पीछे क्या है यह समझनेके लिये संगीत-कलाका ज्ञान होना जरूरी नहीं है। अवश्य ही माताजी संगीत-कलाका प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये नहीं, बल्कि उच्चतर लोकोंसे कुछ चीजें नीचे उतार लानेके लिये बाजा बजाती हैं

और कोई भी आदमी, जो खुला है, उसे ग्रहण कर सकता है।

१५-६-१९३३

* * *

[माताजीके संगीतकी] समझ संगीतके ज्ञानसे नहीं आती; न वह मनके प्रयत्नसे ही आती है——वह आती है अन्दरसे निश्चल-नीरव बननेसे, भीतर खुलने और उनके संगीतमें जो कुछ है उसकी स्वयंस्फूर्त अनुभूति प्राप्त करनेसे।

१९३२

* * *

हां। यह सब बिलकुल सच है। माताजी संगीतमें प्रार्थना या आवाहन ही करती हैं।

१-६-१९३५

* * *

प्र०— क्या यह सच है कि जब माताजी 'ऑरगन' बजाती हैं तब वे हमारी सहायता करनेके लिये उच्चतर लोकोंके देवताओंका नीचे आवाहन करती हैं?

उ०— सचेतन रूपमें नहीं।

९-२-१९३४

* * *

प्र०— क्या इसका मतलब यह है कि देवता उनके संगीतसे आकर्षित होते और नीचे उतर आते हैं?

उ०— वे आकर्षित हो सकते हैं।

१०-२-१९३४

* * *

प्र०– क्या बाजा बजाते समय माताजी कोई चीज प्रकट करती हैं ?

उ०– अगर वे कोई चीज नहीं प्रकट करती तो भला वे बाजा बजायें ही क्यों ?
१६-४-१६३४

संगीत और महालक्ष्मी

प्र०– आजके संगीतके समय 'क्ष' और 'य' के गीत सुननेका मुझपर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि मेरे मनमें प्रश्न उठा — क्या यह माताजीका महालक्ष्मी-पक्ष है जो इन दिनों काम कर रहा है ?

उ०– संगीतके दिनोंमें सदा-सर्वदा महालक्ष्मी-पक्ष ही सर्वप्रधान होता है।
२५-१२-१६३३

एक रोमांचक अनुभव

प्र०– जब मैंने माताजीको "Prières et Méditations" ("प्रीऐर ए मेदितासियों" — "प्रार्थना और ध्यान" मूल फ्रेंचमें) पढ़ते सुना तो मेरा शरीर रोमांचित हो उठा। कैसे ?

उ०– जब एक तीव्र 'शक्ति' बाहरकी ओर प्रकट की जाती है तो वह स्वभावतः ही उसे ग्रहण करनेवाले लोगोंमें पुलक पैदा करेगी।

कला और परम्परा

माताजी 'क्ष' के चित्रोंको विकराल और दानवी अनुभव करती हैं, वे उन्हें कलाके नामसे गौरवान्वित नहीं करना चाहतीं। परन्तु यह इसलिये नहीं कि वे परम्परासे दूर हट गये हैं। माताजी परम्परामें विश्वास नहीं करतीं — वे मानती हैं कि 'कला'को सदा ही, नये रूपोंका विकास करना चाहिये — किन्तु फिर भी यह आवश्यक है कि ये रूप 'सौन्दर्य' के एक सत्यके अनुरूप हों जो सार्वभौम और सनातन है, भगवान्‌का ही एक अंश है। जहांतक तुम्हारे चित्रका प्रश्न है, उसे वे भावव्यञ्जक पाती हैं। उन्हें तुरन्त अनुभव हो गया कि

उसका क्या अर्थ है — अतः 'य' की आलोचना नहीं टिक सकती।

८-१२-१९३३

कलामें ठीक प्रभावोंके सम्पर्कमें रहनेका महत्त्व

एक समय माताजीने तुमसे कहा था कि अपनी मानवाकृति-के चित्रोंमें तुम ठीक 'प्रभाव' के सम्पर्कमें नहीं प्रतीत होते और तुमने कहा था कि तुम्हें 'प्रकृति' में विद्यमान शाश्वत 'सौन्दर्य' के साथ तो सम्पर्क अनुभूत होता है पर मानवाकृतिके सम्बन्धमें तुम्हें वैसा सम्पर्क प्राप्त नहीं। अतएव, अब क्योंकि तुम योगका अभ्यास कर रहे हो और केवल ठीक 'प्रभावों' के साथ ही सम्पर्क स्थापित करना तुम्हारे लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, यह अधिक अच्छा होगा कि तुम फिलहाल मानव आकृति और छविके साथ सरोकार मत रखो। योगमें वह चीज भी, जो मनको एक छोटी-सी ब्योरेकी बात प्रतीत हो सकती है, उन वस्तुओंका द्वार खोल सकती है जिनके चेतनापर प्रबल प्रभाव पड़ते हैं और जो उसके सामंजस्य को अस्तव्यस्त कर देती हैं या अन्तःप्रेरणा, अन्तर्दर्शन और अनुभवके मूलस्रोतोंमें हस्तक्षेप करती हैं।

१९३३

फ्रेंचका ज्ञान और माताजीके साथ घनिष्ठता

प्र०— क्या यह कहना ठीक है कि जो फ्रेंच जानते हैं वे भविष्यमें माताजीकी सेवा अधिक अच्छे रूपमें कर सकेंगे?

उ०— यह अधिकांशमें माताजीके एक अंशके साथ एक प्रकारकी घनिष्ठता उत्पन्न करता है।

३-५-१९४५

माताजी की पुस्तकें पढ़कर उनकी चेतनाके साथ एकात्मता प्राप्त करना

प्र०— जब मैं माताजीकी 'प्रार्थनाएं' और 'वार्त्तालाप' पढ़ता हूँ तब मैं अनुभव करता हूँ मानो मैं माताजीकी चेतनाके सम्पर्कमें आ जाता हूँ। इससे मेरे मनमें यह विचार उठता है कि क्या यह सम्भव है कि उनकी पुस्तकें पढ़कर मनुष्य अपनी चेतनाको इतना

तीव्र बना ले कि वह उनकी चेतनाके साथ एक हो जाय और उसके फलस्वरूप प्राण और दूसरे अंग भी उन्नत हो जायं ?

उ०– जो कुछ तुम पढ़ते हो उसकी सहायता से माताजीकी चेतनाके साथ अपने-आपको तीव्र भावसे एक कर देना सम्भव है — उस हालतमें जिस परिणामकी बात तुम लिखते हो वह आ सकता है। उसका प्रभाव एक हदतक प्राणपर भी पड़ सकता है।

२१-८-१९३५

गुरु, भगवान् और अवतार

तुमने मुझे जो तीन पत्र भेजे थे उनमेंसे गुजरनेका मुझे बिलकुल अभी ही समय मिला है। अवश्य ही, 'क्ष' को Conversations (कन्वर्सेशन्स) पुस्तक मिल सकती है। तुम्हारा दूसरा मित्र जो चीज पाना चाहता है उसे, यहां आये बिना, जहां वह है वहीं ग्रहण कर सकना उसके लिये सर्वथा सम्भव है यदि उसके हृदयमें माताजीके प्रति भक्ति है और है तीव्र पुकार।

अब अवतारके प्रश्नके सम्बन्धमें। मैं नहीं समझता कि इस विषयमें आग्रह करना लाभदायक होगा। गुरुको अवतार माननेकी लोगोंकी, बहुत ही अधिक, एक प्रवृत्ति बन चुकी है, विशेषकर बंगालमें। प्रत्येक शिष्यके लिये गुरु भगवान् ही होता है, पर एक विशेष अर्थमें — क्योंकि यह माना जाता है कि गुरु भागवत चेतनामें रहता है, उनके साथ एकत्व प्राप्त कर चुका है, और जब वह शिष्यको कुछ देता है तो भगवान् ही वह चीज देता है और जो चीज वह देता है वह है भगवान्की चेतना जो भगवान् गुरुके भीतर हैं। परन्तु यह चीज और अवतारवाद दो अलग-अलग वस्तुएं हैं। वे महापुरुष जिनका, अवतार कहकर, जयजयकार किया गया, हालमें तो अधिकतर पूर्वी बंगालमें ही आविर्भूत हुए हैं; जिनका भी आविर्भाव हुआ उनमेंसे प्रत्येकको उस कार्यकी धारणा थी जो जगत्के लिये करना था और थी यह अनुभूति कि एक भागवत शक्ति उनके द्वारा कार्य कर रही है। यह बात दिखलाती है कि वहां अभिव्यक्तिके लिये दबाव था और प्रत्येक दृष्टान्तमें ही कोई चीज अभिव्यक्त हुई, क्योंकि जब भी भागवत शक्तिको पुकारा जाता है तो उसकी कोई कला सदा ही आती है, परन्तु ऐसा नहीं दीख पड़ता कि कहीं भी पूर्ण अवतरण हुआ हो। इसी चीजने इस धारणाको जन्म दिया होगा कि वहां अवतारका जन्म हो गया है। अब जो 'आविर्भाव' होनेको है उसके विषयमें सदैव यह कहा गया है

कि ऐसे बहुतसे लोग होंगे जिनमें यह लगेगा कि वह हो गया है, किन्तु वास्तविक अवतार तबतक पर्देके पीछे कार्य करता रहेगा जबतक विधि-नियत घड़ी नहीं आ जाती।

जिसे तुमने अपने गुरुका कहा हुआ वचन कहकर उद्धृत किया है उससे मुझे यह ग्रहण नहीं होता कि उनका दावा था कि मैं अवतार हूँ। मुझे लगता है कि उनका दावा था कि मैं एक भागवत शक्ति हूँ जो भगवती माताके कार्यके लिये मार्ग प्रशस्त कर रही है और साथ ही उन्होंने दावेके साथ यह निर्देश भी दिया कि वे जो कुछ भी करना चाहते थे वह सब उनके अपने अनुयायियों द्वारा ही नहीं बल्कि अन्य सम्प्रदायके लोगों द्वारा भी अभिव्यक्त किया जायगा, जो सम्प्रदाय स्पष्टतः ही उन लोगोंसे संघटित होगा जिनके गुरु वे नहीं रहे वरन् कोई अन्य अध्यक्ष एवं आचार्य थे। यह भी उनके इस कथनसे सम्पुष्ट होता है कि सम्भवतः उनके शिष्योंसे भिन्न कोई और उनके 'प्रकाश' का यन्त्र बनेगा — अर्थात् उनके कार्यको चलाते रहने और श्रीमांकी अभिव्यक्तिमें सहायता करनेका साधन बनेगा। यदि इसका अर्थ यह हो कि उन्होंने घोषित किया कि मैं अवतार हूँ तो मैं नहीं देख पाता कि यह उस दूसरे कथनसे कैसे मेल खा सकता है कि उनके देह त्यागनेके बाद अवतार उनके बनाये आश्रममें आयगा।

मुझे पूरी तरहसे ज्ञात नहीं कि 'अयोनिसम्भव' से क्या अभिप्रेत है। अवतार सदा मानवीय माताके द्वारा होता है, यद्यपि दो-एक ऐसे अवतार भी हुए हैं जिनके अक्षतयोनि कुमारीसे जन्म ग्रहण करनेकी घोषणा की गयी है (ईसा और बुद्ध)। यदि हम एक अभूतपूर्व चमत्कार की ही कल्पना करें तो दूसरी बात है, नहीं तो 'अयोनिसम्भव' का एकमात्र दूसरा अर्थ हो सकता है एक ऐसा अवतरण जैसा कभी-कभी हुआ करता है, अर्थात् परमेश्वर किसी ऐसे मानवमें अभिव्यक्त हो जायं जो जन्मके समय 'विभूति' था, पूर्ण अवतार नहीं। परन्तु स्वयं तुम्हारे गुरुके किसी स्पष्ट वक्तव्यके अभावमें ये सब केवल कल्पनाएं ही हैं।

तुम्हारे प्रश्नके उत्तरमें मैंने इतना अधिक लिख डाला है, पर मुझे सन्देह है कि इसका कोई भी अंश अपने मित्रोंको लिख भेजना तुम्हारे लिये आवश्यक या उचित है। इस विषयमें उनके हृदयका अपना निजी भाव है; उसे आलोड़ित न करना या उसमें खलबली न पैदा करना ही मुझे अधिक अच्छा लगता है।

२५-८-१९३५

माताजीका विगत जन्मोंकी बातें कहना

माताजी केवल तभी लोगोंसे उनके पुराने जन्मोंकी बातें कहती हैं जब वह ध्यानके द्वारा निश्चित रूपमें उनके गत जन्मोंका कोई दृश्य या स्मृति देखती हैं, परन्तु आजकल ऐसा बहुत कम होता है।

३०-६-१९३३

* * *

माताजी साधारणतया अतीत जीवनोंके भीतर दृष्टिपात नहीं करतीं; जब अतीतसे कोई चीजें स्वयमेव उनके सामने आती हैं तब ही वे उन्हें देखती हैं।

२४-७-१९३४

मृत व्यक्तियोंसे मुलाकात

जब माताजीने यह कहा था कि मृत व्यक्तियोंसे मिलनेकी चेष्टा करना अच्छा नहीं है तब उन्होंने यह बात आध्यात्मिक दृष्टिसे कही थी जिसका पता साधारणतया प्रेतात्मवादियोंको नहीं होता या जिसका वे कोई ख्याल नहीं करते।

२५-८-१९३६

दिवंगत आत्माओंको सहायता

प्र०– क्या कोई ऐसा संकेत आपको प्राप्त हुआ जिससे आपको पता चला हो कि मेरे भाईकी आत्मा सचमुचमें अपने अन्तकालमें माताजीकी और गुरुदेवकी ज्योतिकी शरणमें आना चाहती थी?

उ०– माताजी विशिष्ट रूपसे नहीं कह सकतीं क्योंकि कितने ही लोग रातको दूसरे छोरकी ओर प्रयाणके लिये उनके पास आते हैं जिन्हें वे शरीरसे नहीं जानती होतीं। तुम्हारा भाई बखूबी उनमेंसे एक रहा होगा और 'क्ष' के दिये विवरणको दृष्टिमें रखते हुए इसमें सन्देह नहींके बराबर है कि वह आया ही होगा।

दुर्बल सहानुभूतिका संकट

प्र०– मैंने ध्यानसे देखा है कि संवेदनशील प्रकृतिका झुकाव बहुत अधिक नीचेकी ओर हो जाता है जिससे वह उन लोगोंसे जो प्राणिक शक्तियोंसे भरे हैं, उन शक्तियोंको अपने अन्दर सहज ही घुसने देती है, विशेषकर तब जब कि उनकी कठिनाइयोंके समय उनकी सहायतार्थ परोपकारकी कामनाके वश उनके प्रति भाविक सहानुभूतिका भाव अपनाया जाता है।

उ०– यह बहुत ही रोचक बात है——क्योंकि यह माताजीके इस सतत-आग्रहपूर्ण कथनसे मेल खाती है कि प्राणिक शक्तियोंसे अधिकृत लोगोंके प्रति अपने अन्दर सहानुभूति या किसी प्रकारका दुर्बल परोपकारी ढंगका भाव अनुभव करना अत्यन्त ही संकटपूर्ण होता है क्योंकि वह हमारे अपने ऊपर उन शक्तियोंका आक्रमण ला सकता है जो फिर कोई भी रूप ले सकता है। उनके लिये जो कुछ करने योग्य हो वह तो हमें करना ही चाहिये पर ऐसी समस्त दुर्बलतासे बचना होगा।

११-१०-१९३६

माताजीकी सहायताको प्रभावकारी ढंगसे प्रवाहित करना

मनुष्य माताजीकी सहायताके लिये एक प्रणालिका बन सकता है, किन्तु इसमें यह विचार आड़े आता है कि मैं दूसरोंकी सहायता कर रहा हूँ और जब तक यह वहां रहता है तबतक मनुष्य एक वस्तुतः प्रभावकारी प्रणालिका नहीं बन सकता।

१७-४-१९३५

माताजीका गुह्य प्रयोग

'अ' ने शायद एक अनुभव का हवाला दिया होगा जिसमें माताजी शरीरसे अलजीरियामें रहनेपर भी पेरिसमें बैठे हुए कुछ मित्रोंकी एक मंडलीके सामने प्रकट हुईं और एक पेंसिल उठाकर उन्होंने एक कागजपर कुछ शब्द लिखे। जब उन्हें यह सन्तोष हो गया कि यह सम्भव है तब उन्होंने उसे और आगे विकसित नहीं किया। यह उन्होंने उस समय किया था जब वे अलजीरियामें

तेओं (Theon) के साथ गुह्य विद्याका अभ्यास कर रही थीं। स्थूलीकरण सम्भव है, पर यह आसानीसे नहीं होता — इसके लिये शक्तियोंके ऊपर अत्यन्त विरल और कठिन एकाग्रता करनेकी आवश्यकता होती है या किसी गुह्य प्रक्रिया-की आवश्यकता होती है जिसके पीछे प्राण-जगत्की सत्ताएं होती हैं और वस्तु-ओंको स्थूल रूपमें प्रदान करती हैं, जैसा कि उन पत्थरोंके विषयमें हुआ था जो 'गेस्ट हाउस' (Guest House) में हम लोगोंके रहनेके समय रोज फेंके जाते थे। परन्तु दोनों ही हालतोंमें यह कोई चमत्कार नहीं है। परन्तु, जैसा कि तुम कहते हो, इसे एक सामान्य या नित्य-नैमित्तिक व्यापारके रूपमें करना मुश्किलसे व्यावहारिक होगा और आध्यात्मिक दृष्टिसे उपयोगी भी न होगा, क्योंकि कोई आध्यात्मिक शक्ति नहीं बल्कि एक गुह्य मनोमय-प्राणगत शक्ति ही यह क्षमता देती है। ऐसा करनेसे तो योग आध्यात्मिक रूपान्तरकी प्रक्रियाके बदले गुह्यविद्याकी करामातोंके प्रदर्शनमें बदल जायगा।

२०-१०-१९३५

माताजीका नारदको देखना

मेरा ख्याल है कि नारदके विषयमें मैं विशेष कुछ नहीं जानता। माताजीने उन्हें एक बार अधिमानस और अतिमानसके बीच, जहां वे दोनों मिलते हैं, खड़ा देखा था मानो वही उनका सर्वोच्च स्थान हो। परन्तु उनका कार्य निम्न-तर लोकमें भी रहता है — सिर्फ मैं ठीक तरह यह नहीं जानता कि वह क्या कार्य है। पौराणिक कहानियोंसे एक ओर तो शुद्ध प्रेम और भक्ति और दूसरी ओर मनुष्योंमें झगड़ा लगानेका आनन्द उनका मुख्य स्वभाव मालूम होता है।

५-५-१९३५

माताजीका अन्य ग्रहोंमें जाना

प्र०— मैं सोचा करता हूँ कि क्या माताजी मंगल ग्रह या किसी अन्य सुदूरस्थित ग्रहके साथ, जो सम्भवतः रहनेके योग्य हो या जहां लोग रहते हों, कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करनेमें समर्थ हुई हैं।

उ०— बहुत दिन पहले माताजी सूक्ष्म शरीरसे सर्वत्र जाया करती थीं, परन्तु उन्हें वह बहुत गौण विषय प्रतीत हुआ। हमारा ध्यान पृथ्वीपर ही एकाग्र

होना चाहिये, क्योंकि हमारा काम यहींपर है। इसके अलावा, पृथ्वी अन्य सभी जगतोंका केंद्रीभूत स्थान है और पार्थिव वातावरणमें विद्यमान उनसे मिलते-जुलते किसी तत्त्वको छूकर मनुष्य उन्हें छू सकता है।

१३-१-१९३४

ठीक-ठीक बोध करनेकी क्षमता

'अ' ने माताजीका मंतव्य ठीक-ठीक बतलाया है, पर ऐसा मालूम होता है कि उसने उसे समझा नहीं है। माताजीका यह मतलब कभी नहीं था कि महज इच्छा करनेसे ही कोई यह जान सकता है कि दूसरेमें क्या है या दूसरेके विषयमें किसीकी सभी धारणाएं सहज भावसे और बिना भूलके ठीक ही होंगी। उनका मतलब यह था कि एक ऐसी क्षमता या शक्ति (गुह्य या यौगिक क्षमता) है जिससे मनुष्य ठीक-ठीक बोध और धारणा प्राप्त कर सकता है, और किसीको यदि इच्छा हो तो वह उसे विकसित कर सकता है। तुरत नहीं, किसी सहज पद्धतिसे नहीं — यह लो, सुन लिया न तुमने: इसमें वर्षों लग सकते हैं और इस विषयमें मनुष्यको बहुत सावधान और सचेत रहना होता है; क्योंकि ये संबोधि द्वारा प्राप्त बोध होते हैं और संबोधि एक ऐसी चीज है जिसकी नकल चेतनाकी दूसरी बहुतेरी क्रियाएं कर सकती हैं और वे बहुत अधिक भ्रमात्मक होती हैं। तुम्हारी धारणाएं या तो मानसिक हो सकती हैं या प्राणिक और ऐसी बातें हो भी सकती हैं या नहीं भी हो सकतीं जो किसी मानसिक या प्राणिक धारणाको पुष्ट करें — परन्तु मानसिक होनेपर भी यह बात बिलकुल निश्चित नहीं है कि यह सही हो; अगर यही बात हो तो भी हो सकता है कि वह अशुद्ध रूपमें पकड़ी गयी हो — अथवा भूल-भ्रान्तियोंकी बहुत अधिक मिलावटके साथ ग्रहण की गयी हो, तोड़-मरोड़कर मिथ्यापनमें बदल दी गयी हो, गलत तरीकेसे प्रकट की गयी हो आदि। और फिर ऐसा भी हो सकता है कि उसका बिलकुल ही कोई आधार न हो; वह महज तुम्हारे अपने ही मन या प्राणकी अशुद्ध रचना हो या किसी दूसरेकी ही भ्रान्त धारणा तुम्हारे पास आ गयी हो और तुमने उसे अपनी धारणाके रूपमें स्वीकार कर लिया हो। तुम्हारी धारणाओंके बननेका यह कारण भी हो सकता है कि तुम्हारे और उस व्यक्तिके बीच कोई आन्तरिक समानता न हो और जब तुम उसे खाली और निस्सार समझते हो तब उसका कारण यह हो कि तुम यह अनुभव करने में असमर्थ हो कि उसमें क्या है, वह चीज स्पष्ट रूपमें तुम्हारी समझमें नहीं आती, अथवा जब तुम यह अनुभव करते हो कि वह गलत स्थितिमें है तब केवल

इस कारणसे तुम्हें वैसा लगता हो कि उसकी प्राणगत संबोधि तुम्हें गलत रूपमें स्पर्श करती हो। इस तरहकी अनगिनत चीजें हैं जिन्हें बड़ी सावधानीसे और सही-सही समझनेकी शक्ति मनुष्यमें होनी चाहिये; जबतक कोई अपनी निजी चेतना और उसकी क्रियाओंको अच्छी तरह नहीं जानता तबतक वह दूसरोंकी चेतनाकी क्रियाओंको नहीं जान सकता। परन्तु एक विशेष प्रकारकी प्रत्यक्ष दृष्टि या एक विशिष्ट प्रत्यक्ष अनुभव-शक्ति या संपर्क विकसित करना सम्भव है जिससे मनुष्य जान सकता है, पर केवल बहुत समय लगाकर और बहुत सावधान, सचेत तथा जाग्रत् होकर निरीक्षण और अभ्यास करनेके बाद ही। तबतक कोई घूम-घूमकर यह प्रचार नहीं कर सकता कि यह उन्नत साधक है या वह उन्नत साधक नहीं है और वह दूसरा एकदम किसी कामका नहीं है। अगर कोई जाने भी तो यह आवश्यक नहीं कि वह अपने ज्ञानका दिखावा करता फिरे।

९-२-१९३५

चेतनाको उलट देनेका कौशल

जब माताजीने यह कहा था कि यह महज चेतनाको उलट देनेका एक कौशल है तब उनका मतलब यह था कि बाहरी मनको सर्वदा हस्तक्षेप करने और अपने ही निजी सामान्य अभ्यासगत दृष्टिकोणको प्रस्थापित करनेके बदले एकदम उलट जाना चाहिये, यह स्वीकार करना चाहिये कि चीजें भीतरसे बाहरकी ओर कार्य कर सकती हैं और अपने-आपको यह देखनेके लिये पर्याप्त मात्रामें स्थिर बनाये रखना चाहिये कि अन्दरसे बाहरको कार्यका विकास हो रहा है और काम पूरा हो रहा है। ऐसा होनेपर एक आन्तरिक मन स्वयं प्रकट होता है जो अदृश्य शक्तियोंका अनुसरण करने और उनका यन्त्र बननेमें समर्थ होता है।

२-८-१९३२

शरीरसे बाहर निकलनेपर धक्केका अनुभव

जब चेतना क्षण भरके लिये या अधिक लम्बे समयके लिये शरीरसे बाहर निकलकर ऊपर जाती है तब बहुतोंको धक्के या एक सेकेंडके लिये दम बन्द होने और नीचे गिर जानेके जैसा अनुभव होता है। धक्का या तो चेतनाके ऊपर जानेके कारण या शरीरमें उसके वापस आनेके कारण लगता है। माताजी

को सैकड़ों बार यह अनुभव हुआ करता था। यह शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली कोई चीज नहीं है (डाक्टरने भी, जैसा कि तुम कहते हो, कुछ नहीं पाया) जब चेतनाकी यह क्रिया अधिक स्वाभाविक हो जायगी तब सम्भवतः यह बोध दूर हो जायगा।

१-१०-१९३५

माताजीके हिसाबमें संख्यात्मक सामंजस्य

> प्र०— 'क्ष' ने आज मुझे अपनी लेखा-पञ्जी दिखाई जिसमें कुलयोग लिखा था ७ रु० ७ आ० ७ पाई। साथ ही आज वर्षके ७वें महीने का ७वां दिन भी है और इसके बारेमें आपको लिखनेका निर्णय करनेके बाद मैंने देखा कि जिस घरमें मैं काम कर रहा हूँ उसका नम्वर भी ७ है। आश्रमसे अन्यत्र व्यक्तिके सामने संख्याओंकी ऐसी क्रीड़ा नहीं आती। मेरे विचारमें यहां ऐसा इसलिये होता है कि संख्याएं (शायद संख्याओंकी गुह्य सत्ताएं) हमारे वायुमण्डलमें वैसा ही सुख-आराम अनुभव करती हैं जैसा आश्रमके मुख्य भवनमें चिड़ियां, और वे ऐसे सामंजस्योंका खेल खेलना पसन्द करती हैं। सरकारी विभागों एवं अन्य स्थानोंमें वे वायुमण्डलको यान्त्रिक, भारी और कठोर अनुभव करती हैं और इसलिये वहां उन्हें ऐसे खेलमें कोई आनन्द नहीं आता।

उ०— मैं समझता हूँ तुम्हारी व्याख्या, ठीक है, और नहीं तो गुह्य दृष्टिकोणसे यह ठीक ही है। माताजीके हिसाब-किताबमें संख्याओंके ये लयताल सदा ही होते हैं।

७-७-१९३६

बिल्लियोंको नाम देना

माताजीने बिल्लियोंको नाम इस कारण दिये कि वे समझती और उत्तर देती हैं; उन्होंने पक्षियोंको कभी कोई नाम नहीं दिये और न देना ही चाहती हैं। अब तो वे बिल्लियोंको भी नाम नहीं दे रहीं।

२८-४-१९३२

माताजीके शरीरपर दवाइयोंकी क्रिया

माताजीके शरीरपर दवाइयोंकी क्रिया उससे बिलकुल भिन्न होती है जो तुम्हारे या 'क्ष' के या किसी औरके शरीरपर होगी और उनके प्रति माताजीकी प्रति-क्रिया साधारणतया अनुकूल नहीं होती। उनकी भौतिक चेतना वैसी नहीं जैसी साधारण लोगोंकी होती है—यद्यपि साधारण लोगोंमें भी वह सभी दृष्टान्तों में उतनी एकसमान नहीं होती जैसी कि "विज्ञान" चाहेगा कि हम उसे मानें।

१-२-१९३७

चिकित्सा-सम्बन्धी विषयोंमें माताजीके विचार

प्रस्तुत विषयमें माताजीने जो कुछ कहा है वह वही है जो उन्होंने डा० 'क्ष' से कहा था और जिससे वे पूर्णतया सहमत हुए थे—अर्थात् डाक्टरों द्वारा लक्षणोंके आधारपर रोगका अध्ययन (निःसन्देह, स्पष्ट और सीधे-सादे रोगोंको छोड़कर) सामान्यतया अनेक सम्भावनाओंको तौलकर एक निर्णय करनामात्र होता है और इस प्रकार निकाला गया निष्कर्ष एक अनुमानभर। वह अनुमान ठीक हो सकता है और तब सब कुछ ठीक चलेगा अथवा वह गलत हो सकता है और तब सब कुछ ही गलत हो जायगा, हां, यदि प्रकृति डाक्टरसे इतनी अधिक बलवान् हो कि वह उसकी भूलके परिणामोंपर विजय पा ले तो दूसरी बात है—या फिर, कम-से-कम उसका उपचार सफल नहीं होगा। इसके विपरीत, यदि कोई निदान-सम्बन्धी अन्तःप्रेरणाको विकसित कर ले तो वह तुरन्त देख सकता है कि अनेक सम्भावनाओंके बीच यथार्थ वस्तु क्या है और यह भी देख सकता है कि क्या करना चाहिये। बहुतेरे सफल डाक्टरोंमें यही चीज होती है, उनके पास यह स्फुर-प्रकाश होता है जो उन्हें असली बिंदु दिखला देता है। 'क्ष' ने इस बांतसे सहमत होकर कहा था कि अनुमानका कारण यह होता है कि लक्षणोंके पूरे गुट-के-गुट होते हैं जो अनेक रोगोंमेंसे किसी एकसे सम्बद्ध हो सकते हैं और निर्णय करना अत्यन्त नाजुक एवं सूक्ष्म कार्य होता है, पुस्तकीय ज्ञान या तर्क-वितर्ककी कितनी भी मात्रा यथार्थ निर्णयका विश्वास नहीं दिला सकती। जरूरत है एक विशेष अन्तर्दृष्टिकी जो केवल लक्षणोंपर ही नहीं वरन् उनके पार भी देख सके। प्रसंगतः यह अन्तिम वाक्य मेरा है, 'क्ष'का नहीं। अन्तर्ज्ञानके विकासके विषयमें फिर लिखूंगा—आज रात समय नहीं है।

६-४-१९३७

इन विषयोंपर बहस करनेसे कोई लाभ नहीं। माताजीके विचार परम्परागत लटकोंसे इतने अधिक दूर हैं कि वे डाक्टरी दिमागकी समझमें नहीं आ सकते, उन डाक्टरोंकी बात अलग है जो परम्परागत लीकसे परे हट गये हैं या उनकी भी जिन्होंने लंबे अनुभवके बाद वस्तुओंको देख लिया है और अपने "विज्ञान" की सीमाओंके सम्बन्धमें इतने स्पष्टवादी हो सकते हैं कि उसे जड़से उखाड़ दें।

इस विषयमें अलग-अलग विचार हैं।

माताजी और 'क्ष' दोनों ही चार महीनेके बच्चेको जुलाब दिये जानेके विचारसे दहल उठे। फ्रांसके सर्वप्रमुख "शिशु-चिकित्सक" ने माताजीसे कहा था कि १२ महीनेसे नीचेके किसी भी शिशुको रेचक नहीं देना चाहिये, क्योंकि वह बड़ी हानि पहुंचा सकता है और खतरनाक तक हो सकता है। परन्तु यहां हमें पता चला है कि बच्चोंको लगभग उनके जन्मदिनसे लेकर ही बेरोक-टोक जुलाबोंकी दवा देनेका रिवाज है। शायद यही चीज और दवाइयां देनेमें अति करना ही बच्चोंकी मृत्यु-संख्याके अत्यधिक होनेका कारण है।

४-४-१९३७

* * *

सभी औषध-"विज्ञान" बच्चोंको एरण्डका तेल (कैस्टर ऑयल) देनेकी सिफारिश नहीं करते — मैं समझता हूँ यह उन्नीसवीं सदीकी सनक है जिसने अपनेको कुछ लंबा खैंच लिया है। माताजीके "शिशु-चिकित्सक" ने उनसे कहा था कि एरण्डका तेल नहीं देना चाहिये — साथ ही जब माताजी स्वयं बच्ची थीं तो उनकी बीमारीमें डाक्टरोंने यह कह कर कि यह पेट और जिगरको खराब करता है, इसे देनेकी आग्रहपूर्वक मनाही कर दी थी। मेरी समझमें तुम कहोगे कि डाक्टरोंके मत अलग-अलग होते हैं? हां, होते ही हैं!

९-४-१९३७

* * *

माताजीका मतलब था कि अनुचित भोजन और अनुचित पाचनसे उत्पन्न विष —ये दोनों चीजें जीवनके दीर्घायु होनेमें सबसे बड़ी बाधा हैं।

१४-१-१९३५

* * *

प्र०— एक बार माताजीने कहा था कि ऐसी बीमारी शायद ही कोई हो जो योगसे ठीक न हो सके। क्या यमाबुर्द (कैंसर) भी इससे ठीक हो सकता है?

उ०— निःसन्देह यह ठीक हो सकता है, परन्तु इस शर्तपर कि रोगीमें श्रद्धा या खुलाव हो या दोनों हों। यहांतक कि मानसिक सुझाव भी कैंसरको ठीक कर सकता है—अवश्य ही, भाग्यका साथ हो तो, जैसा कि एक स्त्रीके उदाहरणसे सिद्ध होता है जिसके कैंसरका ऑपरेशन (शल्यकर्म) किया गया पर सफल नहीं हुआ, किन्तु डाक्टरोंने उसे झूठ-मूठ कह दिया कि सफल हो गया है। परिणाम क्या हुआ, कैंसरके सभी लक्षण गायब हो गये और वह बहुत वर्ष बाद एक बिलकुल और ही रोगसे मरी।

११-१०-१९३५

हस्पतालोंके बिना स्वर्गराज्य

प्र०— मुझे स्वप्न आया कि माताजी एक बहुत बड़ा हस्पताल बना रही हैं। क्या यह एक भावी स्वर्गराज्यका पहलेसे ही स्वप्न है?

उ०— यह कहीं बड़ा स्वर्गराज्य होगा यदि हस्पतालकी बिलकुल ही जरूरत न रहे और डाक्टर अपने चुभोनेवाले सूचीवेधके उपकरणोंको झरना-कलमोंमें बदल दें—निःसन्देह यदि वे उन कलमोंका भी दुरुपयोग न करें...

प्र०— इन्जेक्शन (सूचीवेध) देनेके उपकरणोंपर आप इतने आग-बबूला क्यों होते हैं, श्रीमन्? उन्हें तो बहुत ही प्रभावकारी समझा जाता है।

उ०— उससे हस्पतालों, रोगों और इन्जेक्शनोंकी वृद्धि स्वर्गराज्यका आदर्श नहीं बन जाती...

प्र०— परन्तु उन उपकरणोंका स्थान भला झरना-कलमोंको दिया ही क्यों जाय?

उ०— मैं केवल पैगम्बर इसाइआकी इस कहावतका प्रयोग कर रहा था, "तलवारोंको हलोंमें बदल दिया जायगा", किन्तु डाक्टरका उपकरण हल बनानेके लिये काफी बड़ा नहीं, अतः मैंने उसके स्थानपर 'झरना-कलम' शब्दका प्रयोग किया।

१९-७-१९३७

XII

माताजीकी कुछ "प्रार्थनाओं" और "वार्तालाप"की व्याख्याएं

माताजीकी कुछ "प्रार्थनाओं"[१] और "वार्त्तालाप"[२] की व्याख्याएं

माताजीकी कुछ रायोंकी व्याख्या इत्यादि

I. "ध्यान और प्रार्थनाएँ"

प्र०— "दिव्य प्रभु" को संबोधित माताजीकी कुछ प्रार्थनाओं में मैंने ये शब्द देखे हैं: "हमारी भगवती माताके साथ (Avec notre Divine Mére)।" भला माताजी और दिव्य प्रभु' (divin - Maitre) की भी एक 'भगवती माता' (divine Mére) कैसे हो सकती हैं? यह तो ऐसा हुआ मानो माताजी 'भगवती माता' (divine Mére) न हों और कोई दूसरी माताजी भी हों तथा 'दिव्य प्रभु' (divin Maitre) परात्पर न हों और उनकी भी एक 'भगवती माता' (divine Mére) हों! अथवा क्या यह बात है कि ये सब प्रार्थनाएं किसी निर्वैयक्तिक सत्ताको संबोधित की गयी हैं?

उ०— अधिकांशमें ये प्रार्थनाएं पार्थिव चेतनाके साथ एक होकर लिखी गयी हैं। यहां निम्नतर प्रकृतिमें विद्यमान मां उच्चतर प्रकृतिमें विद्यमान मांको संबोधित कर रही हैं, रूपान्तरके लिये पार्थिव चेतनाकी साधना करती हुई स्वयं माताजी ही ऊपरमें विद्यमान स्वयं अपनी ही सत्तासे प्रार्थना कर रही हैं जिससे रूपान्तरकी शक्तियां आती हैं। यह तबतक जारी रहता है जबतक कि पार्थिव चेतना और उच्चतर चेतनाका तादात्म्य सिद्ध नहीं हो जाता। 'हमारी' (notre) शब्द, मेरी समझमें साधारण रूपमें प्रयुक्त हुआ है और वह पार्थिव चेतनामें उत्पन्न सभी जीवोंको सूचित करता है — उसका अर्थ

[१] माताजीकी "प्रार्थनाएं" जो मूलतः फ्रेंचमें लिखी गई थीं, पीछे "Prières et Méditations" ("प्रीऐर ए मेदितासियों", "ध्यान और प्रार्थनाएं") नामसे प्रकाशित हुईं।

[२] Conversations (मातृवाणी — वार्तालाप) सन् १९२९में शिष्योंकी एक छोटी-सी मण्डलीके साथ अंग्रेजीमें माताजीकी बातचीतका अभिलेख है।

'दिव्य प्रभु' (divin Maītre) और स्वयं 'मेरी माताजी' नहीं है। वहां सर्वदा भगवान्‌को ही दिव्य प्रभु और स्वामिन् (Divin Maītre et Seigneur) के रूपमें संबोधित किया गया है। एक माताजी हैं जो साधना कर रही हैं और दूसरी भगवती माता हैं, दोनों एक होनेपर भी विभिन्न स्थितियां हैं, और दोनों सर्वेश्वर या दिव्य प्रभु (Seigneur or Divine Master) की ओर मुड़ती हैं। इस प्रकारकी भगवान्‌की भगवान्‌से की हुई प्रार्थना तुम्हें रामायण और महाभारतमें भी मिलेगी।

२१-८-१९३६

जिस* अनुभवका आपने (माताजीने) वर्णन किया है वह सच्चे अर्थमें वैदिक है, यद्यपि यह ऐसा नहीं जिसे आधुनिक योग-पद्धतियां जो अपनेको यौगिक कहती हैं सहज ही मान्यता दें। यह वेद और पुराणकी "पृथ्वी"का भागवत 'तत्त्व' के साथ मिलन है, उस पृथ्वीका जो हमारी पृथ्वीसे ऊपर स्थित कही जाती है, अर्थात्, उस भौतिक सत्ता एवं चेतनाका जिसकी प्रतिमाएंमात्र हैं जगत् और देह। परन्तु आधुनिक योग भगवान्‌के साथ भौतिक मिलनकी सम्भावना कदाचित् स्वीकार नहीं करते।

३१-१२-१९१५

* * *

प्र०– माताजीकी सन् १९१४की कुछ ऐसी प्रार्थनाएं हैं जिनमें वे रूपान्तर और अभिव्यक्तिकी बात करती हैं। क्योंकि वे उस समय यहां नहीं थीं, तो क्या इससे यह मतलब नहीं निकलता कि यहां आनेसे बहुत पहले ही उनके अन्दर ये विचार थे?

उ०– माताजी अपनी युवावस्थासे, यहांतक कि बाल्यावस्थासे लेकर बराबर आध्यात्मिक रूपसे सचेतन थीं और भारत आनेसे दीर्घकाल पूर्व ही वे साधना

*यह माताजीके २६-११-१९३५के एक पत्रका, जिसमें उनके अनुभवका विवरण था, श्रीअरविन्दका दिया हुआ उत्तर है। माताजीके पत्रके लिये देखें मातृवाणी (१९६१) पृ. २७१.

करके यह ज्ञान विकसित कर चुकी थीं।

२३-१२-१९३३

* * *

प्र०– जैसा कि माताजीने अपनी १६ जून १९१४की 'प्रार्थना'में कहा है, इससे अधिक महत्त्वपूर्ण कुछ नहीं कि "तेरा ज्योतिर्वैभव प्रकट होना चाहता है।" अपने लिये पूर्णता-प्राप्तिके या यन्त्र होनेके समस्त विचार, चेतनाकी विशाल वैश्व गतिके दृष्टिकोणसे विचारे जानेपर, निःसार और नीरस प्रतीत होते हैं।

उ०– यह ठीक है। अपने लिये पूर्णता सच्चा आदर्श नहीं। साधना और यन्त्र-भाव "प्राकटच" के साधनके रूपमें ही उपयोगी हैं।

३०-४-१९३६

* * *

प्र०– १७ मई १९१४ की 'प्रार्थना'में माताजी कहती हैं, "ये थे वे दो वाक्य जो मैंने कल एक प्रकारकी अनिवार्य आवश्यकताके वश लिखे थे। पहला, मानों प्रार्थनाकी शक्ति केवल तभी परिपूर्ण होगी जब वह कागजपर लिपिबद्ध कर ली जायगी।".....

क्या यह सच है कि जब प्रार्थनाको वाणी या लेखनीके द्वारा व्यक्त नहीं किया जाता तो वह पर्याप्त शक्तिशाली नहीं होती, और कि उसे पूर्ण रूपसे शक्तिशाली बनानेके लिये इस प्रकार व्यक्त करना आवश्यक है।

उ०– वह कथन सामान्य नियमके रूपमें अभिप्रेत नहीं था—वह तो केवल उस विशेष प्रार्थना और उस अनुभूतिके सम्बन्धमें महसूस की गई एक आवश्यकता थी। यह सब तो निर्भर करता है व्यक्ति और उसकी अवस्थापर, किसी क्षण-विशेषकी अथवा चेतनाकी तत्तद् भूमिकाकी या उसके तत्तत् पक्षकी आवश्यकता पर। आध्यात्मिक अनुभवमें ये चीजें सदा ही नमनीय और परिवर्तनशील होती हैं। किन्हीं अवस्थाओंमें या किसी एक पक्षमें या किसी क्षण प्रार्थना की कार्यसाधक शक्तिको या अनुभवकी स्थायिताको प्रकट करनेके लिये प्रार्थनाकी

वाचिक या लिखित अभिव्यक्तिकी आवश्यकता हो सकती है; किसी अन्य अवस्था या पक्षमें या किसी और क्षण इससे ठीक उलटी बात हो सकती है, या यूँ कहें कि तब अभिव्यक्ति शक्तिको बिखेर देगी या स्थिरताको भंग कर देगी।

२१-६-१९३६

***

प्र०— माताजीकी १२ दिसम्बर १९१४की प्रार्थना यों शुरू होती है: "सब कुछ पानेके लिये हमें हर क्षण सीखना होगा सब कुछ खोना..."

ईश उपनिषद् भी कहती है: "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" (उसे त्यागकर उसका भोग करो) । क्या ये दोनों कथन एक ही सत्यकी ओर संकेत नहीं करते ?

उ०— हां, निश्चय ही। यह तत्त्वतः एक ही सत्य है जिसे भिन्न-भिन्न ढंगसे प्रस्तुत किया गया है। इसे निषेधात्मक रूपमें भी रखा जा सकता है — "यदि हम वस्तुओंके उसी रूपसे चिपके रहें जो अज्ञानावस्थामें उनका अपूर्ण रूप है तो भागवत प्रकाश, सामंजस्य और आनन्दमें उनका जो सत्य और सर्वांगपूर्ण स्वरूप है उसमें हम उन्हें नहीं प्राप्त कर सकते।"

१६-८-१९३५

***

प्र०— अपनी एक प्रार्थनामें माताजी कहती हैं: "कार्यमें जो आनन्द निहित है उसे कार्यसे निवृत्तिका महत्तर आनन्द अतिक्रान्त कर जाता है।" इससे यह अर्थ निकलता है कि कार्यसे निवृत्ति कार्यकी अपेक्षा अधिक वरणीय है।

उ०— क्या तुम समझते हो कि माताजीका मन तुम लोगोंके मनकी तरह कठोर है और वे सब समयके लिये तथा सभी लोगों और सभी अवस्थाओंके लिये बंधा-बंधाया नियम प्रस्थापित कर रही थीं ? वह तो एक विशेष अवस्थासे सम्बन्ध रखता है जिसमें चेतना कभी तो कार्यरत होती है और जब कार्यरत नहीं होती तो अपने अन्दर पीछेकी ओर हटी होती है। उसके बाद एक ऐसी

अवस्था आती है जब सच्चिदानन्द-स्थिति कार्यमें भी बनी रहती है। उससे आगेकी भी एक अवस्था है जिसमें ये दोनों मानों एकीभूत होती हैं, पर वह है अतिमानसिक भूमिका। दो भूमिकाएं हैं नीरव (शान्त) ब्रह्म और सक्रिय ब्रह्म और वे बारी-बारीसे आ सकती हैं (पहली अवस्था), एक साथ रह सकती हैं (दूसरी अवस्था), घुल-मिलकर एक हो जा सकती हैं (तीसरी अवस्था)। यदि तुम पहली अवस्थातक भी पहुँच जाओ तो तुम माताजीकी उक्तिका प्रयोग करनेकी सोच सकते हो, पर अभीसे उसका गलत प्रयोग क्यों करते हो?

प्र०– क्या कर्ममें सच्चिदानन्दका उच्चतम साक्षात्कार प्राप्त करना सम्भव है?

उ०– अवश्य ही वह कर्ममें प्राप्त हो सकता है। हे भगवान्! यदि वह प्राप्त न हो सके तो पूर्ण योगका अस्तित्व ही कैसे रह सकता है?

* * *

प्र०– माताजी अपनी "प्रार्थनाओं" की पुस्तकमें कहती हैं कि अनुभव भगवान्‌की इच्छा वा संकल्पसे उपलब्ध होता है। तो क्या मुझे यह मानना चाहिये कि किसी प्रस्तुत दृष्टान्तमें अनुभवोंकी न्यूनता या बहुलताके पीछे भगवान्‌की इच्छा होती है?

उ०– जबतक तुम सभी चीजोंको भगवान्‌से आती न अनुभव करो तबतक ऐसा कहनेका कोई मूल्य नहीं। जिस प्रकार भीषण कष्टों और कठिनाइयोंके बीच भी माताजीने अनुभव किया था कि ये भगवान्‌से आये हैं और उन्हें उनके कार्यके लिये तैयार कर रहे हैं उस प्रकारका अनुभव जिसे प्राप्त हुआ हो वही ऐसी मनोवृत्तिका आध्यात्मिक उपयोग कर सकता है। दूसरे तो इससे अशुद्ध परिणाम निकालनेमें प्रवृत्त हो सकते हैं।

१०-५-१९३४

* * *

प्र०– माताजी अपनी ४ अगस्त १९१४की प्रार्थनामें कहती हैं: "शक्तियोंके संघर्षसे प्रेरित होकर मनुष्य महान् आत्म-बलिदान

कर रहे हैं।"... प्रत्यक्ष ही, उनका संकेत महायुद्धकी ओर है; परन्तु, क्या उस युद्धके परिणामस्वरूप किसी "शुद्ध ज्योति"ने लोगोंके हृदयोंको पूरित किया है या "भागवत शक्ति" पृथ्वीपर फैली है अथवा क्या उस अस्तव्यस्ततामेंसे कोई लाभदायक वस्तु प्रकट हुई है, जैसा कि उन्होंने उल्लेख किया है? क्योंकि राष्ट्र एक बार फिर युद्धकी तैयारी कर रहे हैं और आपसमें सतत संघर्षकी अवस्थामें हैं, अतः मनुष्योंकी आन्तरिक अवस्थामें किसी परिवर्तनका कोई चिह्न नहीं दिखाई देता। संसारमें सर्वत्र लोग, यहांतक कि भारतीय भी उनमें सम्मिलित हैं, एक और युद्ध चाहते प्रतीत होते हैं और शायद ही कोई शान्ति', 'प्रकाश' या 'प्रेम'की चाहना करता दीखता है।

उ०– परिवर्तन अधिक बुरेके लिये ही हुआ है — मानव जगत्में प्राणिक लोक उतर आया है। दूसरी ओर, यह भी है कि बुरी शक्तियोंसे "अधिकृत" राष्ट्रोंको छोड़कर और सभीमें शान्तिके लिये कहीं अधिक चाह है और है यह भावना कि ऐसी चीजें नहीं होनी चाहियें। भारतको तो युद्धका कोई वास्तविक स्पर्श मिला ही नहीं। तथापि माताजी जो कुछ सोच रही थीं वह था आध्यात्मिक सत्यकी ओर उन्मीलन। कम-से-कम उस उन्मीलनने प्रकट होनेका यत्न किया है। पुरानी जड़वादीय सभ्यतासे व्यापक असन्तोष देखनेमें आ रहा है, और साथ ही किसी अधिक गहरे प्रकाश एवं सत्यके लिये खोज भी — दुर्भाग्यकी बात इतनी ही है कि पुराने धर्म इससे लाभ उठा रहे हैं और केवल बहुत थोड़ी संख्यामें ही लोग नये 'प्रकाश'की सचेतन रूपसे खोज कर रहे हैं।

९-६-१९३६

* * *

प्र०– आपने कहा था कि महायुद्धके बाद "मानव जगत्में प्राणलोकका अवतरण" हुआ है। परन्तु क्या प्राणलोक पृथ्वीपर-जड़तत्त्वमें — मनुष्योंके भी प्रकट होनेसे पहले अवतरित नहीं हुआ था? किस अन्य प्राणलोकका मानव जगत्में उतरना अभी भी शेष था? और यह कैसी बात है कि उसने ठीक अभी अवतरित होनेका निर्णय किया, ताकि वह मानव लोकमें उच्चतर 'प्रकाश'को उतरनेसे रोक सके?

उ०– ऊर्ध्वसे जिस 'अवतरण'की तैयारी हो रही है उसके कारण जब प्राणिक लोकपर दबाव पड़ता है तो साधारणतया वह लोक सहसा ही अपना कुछ अंश मानव लोकमें अवक्षिप्त करता है। प्राणिक लोक बहुत ही विस्तृत है और अपने विस्तारमें मानव लोकसे बहुत ही अधिक बड़ा है। पर सामान्यतया वह प्रभावके द्वारा आधिपत्य जमाता है, अवतरणके द्वारा नहीं। निःसन्देह, प्राणिक लोकके इस प्रदेशकी चेष्टा मानवजातिको सदा अपने प्रभुत्वके नीचे रखने और उच्चतर 'ज्योति' को रोकनेके लिये होती है।

९-६-१९३६

* * *

प्र०– आप कहते हैं कि प्राणिक लोकके अवतरणके कारण जो परिवर्तन आया है वह अधिक बुरेके लिये ही हुआ है। यदि ऐसा है तो क्या वह पृथ्वी-चेतनामें अतिमानसिक अवतरणको असम्भव नहीं बना देगा अथवा उसके आगमनके "यहीं और अभी" होनेके स्थानपर उसे किसी दूर भविष्यपर नहीं टाल देगा? और क्योंकि असुर-अधिकृत राष्ट्र समस्त सम्भवनीय भौतिक शक्तिसे सुसम्पन्न हैं, शान्तिके किसी भी आन्दोलनके सफल होनेकी आशा बहुत ही कम दिखाई देती है।

उ०– प्राणिक अवतरण अतिमानसके अवतरणको रोक नहीं सकता — असुर-अधिकृत राष्ट्रोंके लिये अपनी भौतिक शक्तिके द्वारा ऐसा कर सकना तो और भी कम सम्भव है, क्योंकि अतिमानसिक अवतरण प्रधानतः एक आध्यात्मिक तथ्य है जिसके आवश्यक बाह्य परिणाम होकर ही रहेंगे। पहलेके प्राणिक अव-तरणोंने किया यह है कि जो 'प्रकाश' उतरा था उसे उन्होंने मिथ्या रूप दे डाला है, जैसा कि हम ईसाइयतके इतिहासमें देखते हैं। वहां उसने इसकी शिक्षाको अपने अधिकारमें कर लिया और उसे विकृत कर किसी भी प्रकारकी व्यापक चरितार्थतासे वंचित कर दिया। परन्तु अतिमानस, अपनी परिभाषाके अनुसार, एक ऐसा 'प्रकाश' है जो यदि अपने निज अधिकारसे और अपने साक्षात् स्वरूपमें आये तो उसे विकृत नहीं किया जा सकता। जब वह अपनेको पीछेकी ओर रोक रखता है और चेतनाकी निम्नतर 'शक्तियों' को एक क्षीण एवं विचलित हो चुके 'सत्य'का प्रयोग करने देता है तभी उसके ज्ञानको प्राणिक

'शक्तियां' अपने कब्जेमें करके अपने प्रयोजनकी पूर्तिमें लगा सकती हैं।

१२-६-१९३६

* * *

प्र०– अपनी १६ अगस्त १९१४की 'प्रार्थना'में माताजी "उन महान् आसुरिक सत्ताओंकी ओर" संकेत करती हैं "जिन्होंने 'तेरे' सेवक बननेका दृढ़ निश्चय किया है। उनमेंसे प्रत्येक..."

यह कैसे हुआ कि असुरोंने भगवान्के सेवक बननेका निर्णय किया? क्या उसका उद्देश्य भगवान्से अपना मतलब निकालना था या फिर वह एक "कूटनीतिक चाल" थी।

उ०– यह प्रार्थना उन असुरोंके सम्बन्धमें लिखी गई थी जिन्होंने मानव शरीरोंमें जन्म ग्रहण किया था,—इस प्रकारके जन्मसे वे सामान्यतया, जहांतक सम्भव हो, बचते हैं, क्योंकि वे जन्म लिये बिना ही मानव जीवोंको अधिकृत कर लेना अधिक पसन्द करते हैं,—मनुष्य-रूपमें जन्म उन्होंने इस दावेके साथ लिया था कि वे भगवान्की सेवा और उनका कार्य करते हुए अपना सुधार व उद्धार करना चाहते हैं। किन्तु इसमें उन्हें कोई अधिक सफलता नहीं मिली।

१५-६-१९३६

* * *

प्र०– क्या विश्वमें सचमुच आन्तरिक प्रगति हुई है—"marche interne d'univers" जैसा कि माताजी कहती हैं? इने-गिने व्यक्तियोंको छोड़कर मनुष्यजातिमें शायद ही प्रगति हुई हो। आन्तरिक और बाह्य रूपमें विश्व कोई भी वास्तविक उन्नति किये बिना सदा उसी एक चक्रमें घूमता प्रतीत होता है।

उ०– फ्रेंचमें "Univers" (यूनिव्हैर)का अर्थ साधारणतया सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड नहीं बल्कि "संसार"—भूतल होता है। पृथ्वी-चेतनामें प्रगति अवश्य हुई है, नहीं तो किसी प्रकारका विकास नहीं हो सकता था। मनुष्यजातिका विकास चक्राकार या कुण्डलाकार गतिके द्वारा साधित हो सकता है, परन्तु सब समय अधिकाधिक पूर्ण सम्भावनाओंका उद्‌घाटन होता रहता है जबतक कि उच्चतर

जातिके विकासकी सम्भावना संपुष्ट नहीं हो जाती।

१-६-१९३६

प्र०– "Eveillez-Vous" (अव्हईए-व्हू) नामक पुस्तकमें (जो अंग्रेजीसे अनूदित की गई है) कुछ विचार हैं— जैसे 'आविर्भाव', विरोधी सत्ताओं आदिके सम्बन्धमें— जो हमारे विचारोंसे मिलते-जुलते हैं। उस पुस्तकमें यह वाक्य भी है, "La Paix règnera sur terre" (शान्ति पृथ्वीपर राज्य करेगी); यह भी माताजी-की "प्रार्थनाओं" की पुस्तकमें आता है। क्या ग्रन्थकारने यह वाक्य माताजीकी (अप्रकाशित) पुस्तक "प्रार्थनाएं" से नकल नहीं किया है?

उ०– ऐसा होना आवश्यक नहीं, क्योंकि यह वाक्य ऐसे किसी भी आदमीके मनमें सहज ही आ सकता है जिसने बाइबल पढ़ रखी है और अंग्रेज बाइबलकी भाषाका अनुकरण बहुत ही अधिक करते हैं। विरोधी सत्ताओंका विचार भी नया नहीं, सच पूछो तो यह उतना पुराना है जितना वेद। 'आविर्भाव' की आशापूर्ण प्रतीक्षाका विचार भी काफी व्यापक रूपसे फैला हुआ है, क्योंकि प्राचीन भविष्यवाणियोंके अनुसार, जब 'आविर्भाव' का समय आयगा तो वह होकर ही रहेगा।

१६-६-१९३५

II. "वार्त्तालाप"

प्र०– माताजी पूछती हैं "तुम योग किसलिये करना चाहते हो? शक्ति प्राप्त करनेके लिये?"* क्या यहां "शक्ति" का अर्थ अपना अनुभव दूसरोंके अन्दर संचारित करनेकी शक्ति है? इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

उ०– शक्ति एक सामान्य पारिभाषिक शब्द है— यह संचारित करनेकी शक्ति तक ही सीमित नहीं। शक्तिका सर्वाधिक सामान्य रूप है पदार्थों, व्यक्तियों,

*मातृवाणी — वार्तालाप (१९६९), पृष्ठ. १०

घटनाओं एवं बलोंपर नियन्त्रण।

१-१-१९३७

***

प्र०– माताजी कहती हैं "आवश्यक वस्तु है एकाग्रता — भगवान् पर एकाग्रता जो उनकी 'इच्छा' (Will) और 'उद्देश्य' (Purpose) के प्रति समग्र और चरम-परम आत्म-निवेदनके विचारसे की गई हो।"[1] क्या उनकी 'इच्छा' (Will) उनके 'उद्देश्य' (Purpose) से भिन्न है?

उ०– दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही नहीं है। Purpose (पर्पज्) का अर्थ है प्रयोजन, वह दृष्टिगत लक्ष्य वा उद्देश्य जिसके लिये भगवान् कार्य कर रहे हैं। Will (विल्, इच्छाशक्ति) उससे अधिक व्यापक परिभाषा है।

१-१-१९३७

***

प्र०– "हृदयमें एकाग्रता करो।"[2] एकाग्रता क्या चीज है? ध्यान क्या होता है?

उ०– एकाग्रताका अर्थ है चेतनाको एक ही केन्द्रके भीतर एकत्र करना और एक ही विषय (पदार्थ) या एक ही विचार या एक ही अवस्थापर स्थिर करना। ध्यान एक व्यापक परिभाषा है जो अपनें अन्दर अनेक प्रकारकी आन्तरिक क्रियाओंको समाविष्ट कर सकती है।

१-१-१९३७

***

प्र०– "एक अग्नि वहां जल रही है...वह है तुम्हारे अन्दर स्थित

[1] वही, पृ० ११ [2] वही, पृ० ११

दिव्य सत्ता — तुम्हारी सच्ची सत्ता। उसकी वाणी सुनो, उसके आदेशोंका अनुसरण करो।"[1]

मैंने अपने अन्दर यह अग्नि कभी नहीं देखी। तो भी मुझे वेदन होता है कि मैं अपनी अन्तःस्थित दिव्य सत्ताको जानता हूँ। मुझे वेदन होता है कि मैं उसकी वाणी सुनता हूँ और फिर उसके आदेशोंके अनुसार चलनेके लिये मैं भरसक यत्न करता हूँ। क्या मुझे अपने वेदनपर सन्देह करना चाहिये?

उ०— नहीं, तुम्हें जो वेदन होता है वह बहुत सम्भवतः चैत्य पुरुषसे मनके द्वारा प्राप्त इंगित है। चैत्य अग्निसे प्रत्यक्षतः सचेतन होनेके लिये मनुष्यमें सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और सूक्ष्म इन्द्रिय सक्रिय होनी चाहियें या फिर होनी चाहिये चेतनामें प्रकट शक्तिके रूपमें कार्य करते हुए चैत्यकी सीधी क्रिया।

२-१-१९३७

***

प्र०— "हम सभी पूर्व जीवनोंमें मिल चुके हैं।"[2]

"हम" से यहां ठीक-ठीक क्या अभिप्रेत है? क्या आप दोनोंको मेरी स्मृति है? क्या भूतकालमें मैंने इस कार्यके लिये आपकी बहुधा सेवाकी थी?

उ०— यह एक सामान्य सिद्धान्त है जो घोषित किया गया है। यह उन सभीको अपने अन्तर्गत कर लेता है जिन्हें कार्यके लिये पुकारा गया है। उन दिनों माताजी, जिनके साथ वे यह वार्तालाप कर रही थीं उनका भूतकाल (या उसका एक भाग) देखा करती थीं और इसीलिये उन्होंने ऐसा कहा था। इस समय हम भौतिक चेतनामें चल रहे निर्णायक कार्यमें इतने अधिक व्यस्त हैं कि इन चीजोंपर ध्यान नहीं दे सकते। अपि च, हम देखते हैं कि इसने साधकोंमें एक प्रकारकी प्राणिक रूमानियतको प्रोत्साहित किया, जिसके वश उन्होंने साधनाके कठिन कार्यकी अपेक्षा इन चीजोंको अधिक महत्त्व प्रदान किया।

[1] वही, पृ० ११ [2] वही, पृ० १४

इसलिये हमने विगत जीवनों और व्यक्तित्वोंकी बात कहना बन्द कर दिया है।

२-१-१९३७

***

प्र०— "योगके दो मार्ग हैं", एक तपस्या (अनुशासन)का और दूसरा समर्पणका।"[1]

एक बार आपने मेरे अन्तर्दर्शनकी व्याख्या करते हुए कहा था कि अग्नि, पवित्रीकरण और तपस्याकी अग्नि 'सत्य'के 'सूर्य' को जन्म दे रही है। मैं किस पथका अनुसरण कर रहा हूँ? समर्पण-के मार्गमें तपस्याका क्या स्थान है? क्या कोई समर्पणके मार्गमें बिलकुल तपस्याके बिना काम चला सकता है?

उ०— एक तपस्या वह है जो समर्पणके परिणामस्वरूप आप-से-आप होती है और एक तपस्या (अनुशासन) वह है जिसका अनुसरण व्यक्ति किसी दूसरेकी सहायताके बिना अपने ही प्रयत्नसे करता है—इनमेंसे पिछली ही "योगके दो मार्गों" में अभिप्रेत है। किन्तु तपस्याकी आगके रूपमें 'अग्नि' दोनों ही अवस्थाओंमें जल सकती है।

४-१-१९३७

***

प्र०— "कामवासना-जैसे आवेगोंका बल साधारणतया इस तथ्यमें निहित होता है कि लोग उनपर बहुत ही अधिक ध्यान देते हैं।"[2]

वे अन्य आवेग कौनसे हैं जिनकी ओर इस वाक्यमें संकेत किया गया है?

उ०— यह प्रबल प्राणिक आवेगोंकी ओर संकेत करता है।

४-१-१९३७

***

[1]वही, पृ० १६ [2]वही, पृ० १८

प्र०– "सारा संसार इस विषसे भरा है। हर सांसके साथ तुम इसे अपने अन्दर ले रहे हो।"[1]

कबतक साधक छूत लग जानेके इस भयके वशमें रहता है? ऐसा प्रतीत होता है कि मुझे अब ऐसी छूत नहीं लगेगी। क्या मेरी प्रतीति विश्वसनीय है?

उ०– मुझे मालूम नहीं कि वह ऐसी है या नहीं। इसके पूर्व कि कोई इतना सुरक्षित हो सके उसे मार्गपर बहुत दूरतक आगे बढ़ना होता है।

४-१-१९३७

* * *

प्र०– "परन्तु जिनके पास आवश्यक आधार एवं पाया है उन्हें हम, इसके विपरीत, यह कहते हैं कि 'अभीप्सा करो और खींचो'।"[2]

क्या अभीप्सा करने और खींचनेकी यह क्षमता पहलेसे की जा चुकी महान् प्रगतिकी सूचक है?

उ०– नहीं। तुलनात्मक दृष्टिसे यह एक आरम्भिक अवस्था है।

५-१-१९३७

* * *

प्र०– "आध्यात्मिक अनुभवका अर्थ है अपने अन्दर (या अपने बाहर, जो उस क्षेत्रमें एक ही बात है) भगवान्‌के साथ सम्पर्क।"[3]

अपने "बाहर" स्थित भगवान्‌का क्या अर्थ है? क्या इसका अर्थ है विश्वगत भगवान् या परात्पर भगवान् या दोनों?

[1] वही, पृ० २० [2] वही, पृ० १८ [3] वही, पृ० ३८

उ०— इसका अर्थ है बाहर पदार्थों, सत्ताओं, घटनाओं आदि आदिमें प्रत्यक्ष किये गये भगवान्।

९-१-१९३७

***

प्र०— क्या 'जान ऑफ आर्क' की प्रकृति दो 'प्रधान देवदूतों', 'अधि-मानस'[1]की दो सत्ताओं, के साथ उनके सम्बन्धके कारण कुछ भी रूपान्तरित हुई थी?

उ०— मैं नहीं देख पाता कि रूपान्तरका प्रश्न यहां कैसे घुस आया। 'जान ऑफ आर्क' योगका अभ्यास या रूपान्तरकी अभीप्सा नहीं कर रही थीं।

९-१-१९३७

***

प्र०— अधिक गहरे स्रोतसे आनेवाले स्वप्नमें और एक दिव्यदर्शन[2] में व्यक्ति कैसे भेद कर सकता है?

उ०— इसके लिये कोई कसौटी नहीं है, परन्तु यदि कोई निद्रामें नहीं बल्कि उस आन्तरिक अवस्थामें हो, जिसमें अधिकतर दिव्यदर्शन होते हैं, तो उस समय उसपर जो संस्कार पड़ता है उसके स्वरूपके द्वारा वह सहज ही भेद कर सकता है। स्वप्नमें प्राप्त दिव्यदर्शन जीवन्त स्वप्न-अनुभवसे भेद करना अधिक कठिन है, परन्तु व्यक्ति भेद अनुभव करने लगता है।

९-१-१९३७

***

प्र०— कभी तो मनुष्य स्वप्नोंको याद रखता है और कभी नहीं।[3] ऐसा क्यों होता है?

[1]वही, पृ. ३९ [2]वही, पृ. ३२ [3]वही, पृ० ३३

उ०– यह जागनेके समय चेतनाकी दो अवस्थाओंमें सम्बन्धपर निर्भर करता है। सामान्यतया चेतनाका एक ऐसा पलटाव होता है जिसमें स्वप्नावस्था कम या अधिक ऊबड़-खाबड़ ढंगसे विलुप्त हो जाती है, और स्वप्नकी घटनाओंने अन्नमय कोषपर जो क्षणभंगुर छाप डाली होती है उसे (या वस्तुतः उन घटना-ओंके प्रतिलेखको) मिटा देती है। यदि जागरण अधिक शान्त (कम ऊबड़-खाबड़) ढंगसे हो या, यदि छाप बहुत प्रबल हो, तो कम-से-कम अन्तिम स्वप्न-की स्मृति रहती है। इनमें से अन्तिम अवस्थामें (अर्थात् छापके प्रबल होनेपर) मनुष्य स्वप्नको चिरकालतक याद रख सकता है, किन्तु सामान्यतया उठने के बाद स्वप्नकी स्मृतियां मिट जाती हैं। जो लोग अपने स्वप्न याद करना चाहते हैं वे कभी-कभी (जागनेके बाद) शान्त लेटे रहने और स्मृतिमें पीछे जाकर स्वप्नका सन्धान करनेका अभ्यास करते हैं और इस प्रकार वहां स्वप्नोंको एक-एक करके फिरसे पा लेते हैं। जब स्वप्नावस्था बहुत हलकी-फुलकी होती है तब मनुष्य अधिक स्वप्न याद कर सकता है, अपेक्षा इसके कि जब वह बोझिल होती है।

९-१-१९३७

* * *

प्र०– "अब तुम्हारे पास ऐसी कोई चीज नहीं रही जिसे तुम अपनी कह सको; तुम प्रत्येक वस्तुको भगवान्से आती अनुभव करते हो, और उसे तुम्हें वापिस उसके मूल स्रोतकी भेंट कर देना होगा। जब तुम यह अनुभूति प्राप्त कर सकोगे तब तुम देखोगे कि छोटी-से-छोटी वस्तु भी, जिसपर तुम सामान्यतया बहुत ध्यान नहीं देते या जिसकी बहुत परवा नहीं करते, तुच्छ एवं निरर्थक नहीं रह जाती; वह अर्थपूर्ण हो जाती है और परेके विशाल क्षितिजको खोल देती है।"*

क्या यह अवस्था "अभीप्सा करो और खींचो" — इस जितनी आरम्भिक अवस्था है?

*वही, पृ० ४८

उ०– इतनी आरम्भिक नहीं।

१४-१-१९३७

* * *

प्र०– "परन्तु यदि हम चाहते हैं कि भगवान् यहां शासन करें तो हमारे पास जो कुछ है, हम जो कुछ हैं और जो कुछ यहां करते हैं वह सब हमें भगवान्‌को दे देना होगा।"[1]

यदि कोई यह पूर्णतया कर ले तो क्या उसे और कुछ भी करना होता है?

उ०– नहीं। परन्तु इसे पूर्णरूपसे करना आसान नहीं।

१४-१-१९३७

* * *

प्र०– कैसे हम यह पहचान सकते हैं कि कोई व्यक्ति वह सब भगवान्‌को दे देता है जो उसके पास है और जो वह है तथा करता है?

उ०– तुम नहीं पहचान सकते, जबतक तुममें अन्तर्दृष्टि न हो।

१४-१-१९३७

* * *

प्र०– "क्योंकि संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसका अन्तिम सत्य और आश्रय भगवान्‌में न हो।"[2]

इस बातको अनुभवके द्वारा पूर्ण रूपसे जान लेना बहुत महान् उपलब्धि, शायद अन्तिम उपलब्धि प्राप्त कर लेना है; क्या मेरा कहना ठीक है?

[1]वही, पृ०.५१ [2]वही, पृ०. ५५

उ०– हां।

१६-१-१६३७

* * *

प्र०– "स्पष्ट ही, जो कुछ हुआ है वह होना ही था; वह हुआ ही न होता यदि वह अभिमत न होता।"[1]

तो फिर, मनुष्यके जीवनमें पश्चात्तापका क्या स्थान है? क्या साधकके जीवनमें उसका कोई स्थान है?

उ०– पश्चात्तापका स्थान भविष्यके लिये उसके प्रभावमें है—यदि वह प्रकृतिको उस प्रकारकी वस्तुस्थितिसे पराङ्मुख होनेके लिये प्रेरित करे जिसने घटनाको उत्पन्न किया था। परन्तु साधकके लिये पश्चात्ताप नहीं, बल्कि क्रियामें गलतीको स्वीकार करना और उसके फिरसे न होनेकी जरूरत महसूस करना आवश्यक है।

१६-१-१६३७

* * *

प्र०– "तुम कर्मकी शृङ्खलासे बंधे हो, और वहां, उस शृङ्खलामें, जो भी घटना घटती है वह कठोर नियमके अनुसार उसका परिणाम होती है जो पहले किया जा चुका है।"[2]

क्या "पहले" का अर्थ है सभी विगत जीवनोंमें, बिलकुल पहले जीवनसे लेकर इस जीवनतकमें?

उ०– इसका अर्थ है वस्तुओंको समष्टि-रूपमें ग्रहण करना। दार्शनिक अर्थमें, जो कुछ घटित होता है वह, काम करनेके क्षणसे पहले जो कुछ भी हो चुका है उस सबका परिणाम होता है। व्यावहारिक दृष्टिसे, तत्तत् परिणामोंके भूतकालमें तत्तत् (विशेष) पूर्वकारण होते हैं और यही उन परिणामोंके निर्धारक कहे जाते हैं।

[1] वही, पृ० ५५ [2] वही, पृ० ५८

(ये उद्धरण कहांसे लिये गये हैं? किसी वाक्यके ठीक-ठीक आशयमें कभी-कभी बहुत कुछ प्रकरणपर निर्भर करता है।[1])

१६-१-१९३७

* * *

प्र०– "बहुत-से लोग तुम्हें इस विषयमें अद्भुत कहानियां सुनायेंगे कि इस जगत्की रचना किस प्रकार हुई और भविष्यमें इसका प्रवाह कैसे चलेगा, तुम भूतकालमें कैसे और कहां जन्मे थे और आगे क्या बनोगे, कैसे-कैसे जीवन तुम जी चुके हो और अभी कैसे-कैसे जीवन जिओगे। इस सबका आध्यात्मिक जीवनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं।"[2]

ऐसे लोग जो कुछ कहते हैं वह सब क्या निरा पाखण्ड है? क्या आध्यात्मिक प्रक्रियासे भिन्न कोई और प्रक्रिया भी है जिसके द्वारा मनुष्य इन सब चीजोंको जान सके?

उ०– प्रायः ही वह सब पाखण्ड होता है, किन्तु यदि वह ठीक हो भी तो भी उसमें आध्यात्मिक तत्त्व कुछ भी नहीं होता। अनेकों माध्यम, अतीन्द्रियदर्शी या विशिष्ट-योग्यतासे सम्पन्न व्यक्ति तुम्हें ये चीजें बताया करते हैं। वह योग्यता भी उसी तरह आध्यात्मिकतासे रहित है जिस प्रकार पुल बनाने या स्वादु खाद्य तैयार करने या गणितका प्रश्न हल करनेकी क्षमता। बौद्धिक क्षमताएं भी होती हैं और गुह्य क्षमताएं भी — बस इतना ही।

२०-१-१९३७

* * *

प्र०– "वे [पैशाचिक सत्ताएं] मानवी नहीं होतीं; उनका रूप या बाह्याकार ही मनुष्य-जैसा होता है।...उनका तरीका यह

[1] श्रीअरविन्दकी इस टिप्पणीसे स्पष्ट ही है कि इस प्रश्नमालाके उत्तरके समय उन्हें पता नहीं था कि प्रश्नोंमें उद्धृत वचन माताजीकी पुस्तक Conversations (कॉन्वर्सेशन्स, मातृवाणी — वार्तालाप)से लिये गये हैं।

[2] वही, पृ० ७६

है कि पहले तो वे किसी मनुष्यपर अपना प्रभाव जमानेका प्रयत्न करती हैं; फिर वे धीमे-धीमे उसके वातावरणमें घुस आती हैं और अन्तमें वे उसके वास्तविक मानव-आत्मा और व्यक्तित्वको सर्वथा बाहर निकालकर उसे पूर्ण रूपसे अधिकारमें ले आ सकती हैं।"*

'क्ष' ने एक लड़कीसे विवाह किया है जिसके विषयमें माताजीने कहा है कि वह कुछ हदतक पिशाच-जैसी है। तो क्या वह इन सब संकटोंसे घिरा है? उसे क्या सावधानियां बरतनी चाहियें? क्या मैं उसे चेता दूं?

उ०– सर्वप्रथम, यहां जो कुछ अभिप्रेत है वह यह नहीं कि पिशाच या प्राणिक सत्ता किसी एक मनुष्यके शरीरपर अधिकार जमाये होनेपर भी फिर एक और मनुष्यको अपने अधिकारमें करनेका यत्न करती है। यह सब तो केवल इस बातका वर्णन है कि कैसे एक देहरहित (पैशाचिक) प्राणिक सत्ता मानव शरीरमें साधारण ढंगसे जन्म लिये बिना उसे अपने कब्जेमें कर लेती है — क्योंकि ऐसी प्राणिक सत्ताओंकी यही इच्छा होती है, मानव शरीरको अधिकृत करना पर जन्मके तरीकेसे नहीं। जब एक बार वे इस प्रकार मानवी आकार ग्रहण कर लेती हैं तो दूसरोंके लिये वे संकट-रूप इसलिये होती हैं कि जो लोग उनके सम्पर्कमें होते हैं उनकी प्राणशक्तिको ही वे अपना आहार बनाती हैं — बस इतना ही।

दूसरे, इस उदाहरणमें, माताजीने केवल यही कहा है कि कुछ हदतक पिशाच-सी। उसका यह अर्थ नहीं कि वह इन सत्ताओंमेंसे ही एक है, वरन् यह कि — उसमें कुछ हदतक दूसरोंकी प्राणशक्तिसे अपना पोषण ग्रहण करनेकी आदत है। 'क्ष' को कुछ कहनेकी कोई जरूरत नहीं। इस बातसे उसे केवल क्षोभ ही होगा, सहायता तो जरा भी नहीं मिलेगी।

२१-७-१९३७

* * *

प्र०– अपनी पुस्तक "Conversations" ("कॉन्वर्सेशन्स," मातृवाणी — वार्तालाप) में माताजी कहती हैं कि योगका पहला परिणाम होता है मानसिक नियन्त्रणको हटा देना। फलतः, जो

*वही, पृ० ७८-७९

विचार और कामनाएं इतने लंबे समयतक दबी पड़ी थीं वे आश्चर्यजनक रूपसे प्रबल हो उठती हैं और कठिनाइयां पैदा करती हैं।[1]

उ०— पहले वे (कामनाएं एवं विचार) इसलिये प्रबल नहीं थे कि उन्हें कुछ-कुछ तुष्ट किया जा रहा था या कम-से-कम प्राण सामान्यतया किसी-न-किसी ढंगसे उनका उपभोग कर रहा था। जब उनका पूर्ववत् उपभोग नहीं किया जाता तो वे दुर्दम हो उठते हैं। परन्तु वे कोई ऐसी नई शक्तियां नहीं होते जो योग द्वारा उत्पन्न की गई हों — वे सब समय ही वहां थे।

मानसिक नियन्त्रणके हटा देनेका अभिप्राय यह है कि मन उन्हें केवल काबूमें रखता था पर दूर नहीं कर सकता था। इसलिये योगमें मानसिक संयमके स्थानपर चैत्य या आध्यात्मिक संयम प्रतिष्ठित करना होता है जो वह कार्य कर सकता है जिसे मन नहीं कर सकता, केवल इतनी बात है कि बहुतेरे साधक इस परिवर्तनको समयपर नहीं करते और केवल मानसिक संयमको हटा भर लेते हैं।

१२-५-१९३३

* * *

प्र०— अपनी पुस्तक "Conversations" ("वार्त्तालाप")[2] में माताजी कहती हैं: "जो कोई हंसता, कूदता या चिल्लाता है उसको ऐसा भान होता है कि कारण चाहे जो कुछ भी क्यों न हो पर उसकी वह उत्तेजना अत्यन्त असाधारण प्रकारकी है और उसकी प्राण-प्रकृति इसमें बड़ा सुख मानती है।" क्या उनके कहनेका मतलब यह है कि आध्यात्मिक अनुभूति होनेपर मनुष्यको अपनी उत्तेजना संयमित करके साधारण स्थितिमें बने रहना चाहिये, असाधारण स्थितिमें नहीं ?

उ०— माताजीका बिलकुल ही यह मतलब नहीं था कि मनुष्यको अपनी उत्तेजनाको संयमित कर सामान्य स्थितिमें बने रहना चाहिये — उनका मतलब था कि वह मनुष्य केवल उत्तेजित ही नहीं होता बल्कि अपनी उत्तेजनामें सबसे भिन्न (असाधारण) होना चाहता है। स्वयं उत्तेजना भी बुरी है और असाधारण

[1] वही, पृ० १७ [2] वही, पृ० २८

प्रतीत होनेकी इच्छा तो और भी बुरी है।

७-६-१९३३

भगवान्‌को भोजन अर्पण करना

प्र०– 'मातृवाणी' में आये हुए इस वाक्यसे माताजीका क्या मतलब है: "जब तुम खाते हो तब तुम्हें यह अवश्य अनुभव करना चाहिये कि स्वयं भगवान् ही तुम्हारे द्वारा खा रहे हैं?"[1]

उ०– इसका अर्थ है भोजन अहंकार या कामनाको नहीं बल्कि भगवान्‌को अर्पण करना जो सभी क्रियाओंके पीछे विद्यमान हैं।

११-१-१९३५

* * *

प्र०– "Conversations" ("कॉन्वर्सेशन्स," मातृवाणी — वार्तालाप) में माताजी विचारोंकी शक्तिकी चर्चा करती हैं और उदाहरण देती हैं कि यदि "तुम्हारी यह तीव्र इच्छा है कि अमुक मनुष्य तुम्हारे पास आये, और इच्छाके इस प्राणमय आवेगके साथ-साथ यदि तुम्हारी बनायी मानसिक रचनाके संग एक बलवती कल्पना भी जुड़ी हुई हो... और यदि तुम्हारी विचाररूपी रचनामें पर्याप्त इच्छाशक्ति हो, यदि वह एक सुनिर्मित रचना हो तो वह अपना उद्देश्य सिद्ध कर ही लेगी।"[2]

मान लें कि प्रस्तुत उदाहरणमें प्राणके अन्दर कोई प्रबल कामना न हो पर मनमें केवल विचार या धुँधली कल्पनाएं हों तो क्या वे उस व्यक्तिके पास जाकर उसे आनेको प्रेरित करेंगी?

उ०– वे ऐसा कर सकती हैं; विशेषकर यदि वह व्यक्ति स्वयं भी आनेको इच्छुक हो तो वे उसे निर्णायक धक्का दे सकती हैं। परन्तु अधिकतर दृष्टांतोंमें

[1]वही, पृ० ४८ [2]वही, पृ० ९३-९४

विचार-शक्तिके पीछे कामना या संकल्पकी आवश्यकता होगी ही।

२६-८-१९३६

* * *

प्र०– "Conversations" ("कॉन्वर्सेशन्स", मातृवाणी — वार्तालाप) में माताजी कहती हैं कि विषाद और अनुत्साह नाड़ी-कवचमें छेद कर देते हैं और साथ ही उनके कारण विरोधी आक्रमणोंका होना अधिक आसान हो जाता है।* एक अर्थमें इसका मतलब हुआ कि एक सदाशयी व्यक्तिको किसीके गलत विचारों, आवेगों या चेष्टाओंको निरुत्साहित नहीं करना चाहिये। परन्तु क्या यह साधारण जीवन तथा साधनाके सिद्धान्तोंके विपरीत नहीं होगा? ऐसे लोगोंके साथ बरताव करते समय चुप रहना भी एक तरीका है, परन्तु कभी-कभी वह भी उन्हें साफ-साफ निरुत्साहित करनेकी अपेक्षा अधिक चोट पहुँचाता है।

विषाद और अनुत्साहके जिन बुरे परिणामोंकी ओर माताजीने इंगित किया है, क्या वे साधारण जीवनमें भी घटित होंगे?

उ०– नाना प्रकारके विषादके परिणामके विषयमें साधकको दिये गये ज्ञानका उद्देश्य यह है कि वह इन चीजोंसे बचना सीखे। वह लोगोंसे यह आशा नहीं कर सकता कि वे उसकी विफलताओं या भूलोंके विषयमें केवल इस कारण चिकनी-चुपड़ी बातें करें या उसकी दुर्बलताओंको केवल इसलिये प्रश्रय दें कि उसने विषादमें ग्रस्त होनेकी तथा वैसी अवस्थामें अपने नाड़ी-कवचको चोट पहुँचानेकी आदत डाल रखी है। अपनेको विषादसे मुक्त रखना उसका काम है न कि दूसरोंका। उदाहरणके लिये, कुछ लोगोंकी आदत है कि यदि माताजी उनकी इच्छाएं पूरी नहीं करतीं तो वे उदास हो जाते हैं — इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि उन्हें खुश रखनेके लिये माताजीको उनकी इच्छाएं पूरी करनी ही चाहियें — उन्हें मनकी इस आदतसे छुटकारा पाना सीखना होगा। अपने सभी कामोंके लिये प्रोत्साहन या प्रशंसा पानेकी लोगोंकी इच्छा के बारेमें भी यही बात है। मनुष्य यह कर सकता है कि वह चुप रहे या हस्तक्षेप न

*वही, पृ० १६२

करे, किन्तु यदि इससे भी उनका चित्त खिन्न हो जाय तो यह उनका अपना दोष है, किसी औरका नहीं।

निःसन्देह, साधारण जीवनमें भी यही बात है,—विषाद सदैव हानिकारक होता है। पर साधनामें वह अधिक भयावह होता है क्योंकि वह लक्ष्यकी ओर निर्विघ्न एवं द्रुत प्रगतिमें प्रबल बाधा बन जाता है।

१८-७-१९३६

* * *

प्र०– "Entretiens"[1] (आँत्रतिऐं) में माताजी कहती हैं, "Même ceux qui ont la volanté de s'enfuir, quand ils arrivent de l'autre côté, peuvent trouver que la fuite ne sert pas à grand' chose après tout."[2] अर्थात् जिन लोगोंकी इच्छा यहांसे भाग जानेकी है वे भी जब उस पार पहुँचेंगे तो यह अनुभव कर सकते हैं कि आखिर भाग आनेका कोई विशेष फल नहीं हुआ।) इस वाक्यमें "arrivent de l'autre côté" का क्या अभिप्राय है? क्या इसका यह मतलब है कि "जब वे इस लोकमें आते हैं" या "जब वे उस 'नीरवता-के-लोक'में जाते हैं जिसका उन्होंने साक्षात्कार किया था"?

उ० — नहीं — "arrivent de l'autre côté" का अर्थ इतना ही है कि "जब वे मर जाते हैं"। माताजीका आशय यह था कि जब वे सचमुचमें निर्वाणमें पहुँचते हैं तो अनुभव करते हैं कि यह अन्तिम समाधान नहीं या परम प्रभुका बृहत्तम साक्षात्कार नहीं, और अन्तमें उन्हें उस बृहत्तम साक्षात्कार तक पहुँचनेके लिये वापिस आना और जगत्कार्यमें अपना हिस्सा बंटाना होगा।

२-५-१९३५

* * *

प्र०– "Entretiens" ("आँत्रतिऐं", "वार्तालाप") में माताजीने

[1] माताजीकी "Conversations" का फ्रेंच अनुवाद।

[2] मातृवाणी — वार्तालाप, पृ० ५१

कहा है: "वास्तवमें, मृत्यु भूतलपर जीवनमात्र के साथ जुड़ी हुई है।"[1] "वास्तवमें" और "जुड़ी हुई"—ये शब्द हमपर यह छाप डालनेकी प्रवृत्ति रखते हैं कि आखिर मृत्यु अटल है। परन्तु इससे पहलेका वाक्य—"यदि इस विश्वासको पहले सचेतन मनसे... बाहर निकाला जा सके तो मृत्यु अटल नहीं रहेगी"[2]—अर्थकी सन्दिग्धताको ले आता है क्योंकि यह मृत्युको उतना अटल रूप नहीं देता; यह एक शर्त—एक "यदि"—को जोड़ देता है जिससे मृत्युको टाला जा सकता है। परन्तु "वास्तवमें"—इन पदोंवाले वाक्यमें अर्थकी जो सुनिश्चितता आती है वह मनुष्यकी भौतिक अमरत्वकी आशाको अपेक्षाकृत हल्का कर देती है। और फिर, दूसरे वाक्यकी "यदि" वाली शर्त इतनी विकट है कि उसे पूरा ही नहीं किया जा सकता।

उ०— मुझे तो इसमें कोई सन्दिग्धार्थता नहीं दिखाई देती। "वास्तवमें" और "जुड़ी हुई"—ये शब्द अपरिहार्यताका कोई भाव नहीं सूचित करते। "वास्तवमें" का अर्थ इतना ही है कि एक तथ्यके रूपमें, वस्तुतः, आज जैसी वस्तुस्थिति है उसमें (भूतलपर) समस्त जीवनके साथ मृत्यु उसके अन्तके रूपमें जुड़ी हुई है; किन्तु यह इस विचारको तनिक भी द्योतित नहीं करता कि इससे उलटी बात कभी नहीं हो सकती या यह समस्त जीवनका अपरिवर्तनीय नियम है। कुछ कारणोंसे जिनका प्रतिपादन यहां किया गया है—कुछ एक मानसिक एवं भौतिक अवस्थाओंके कारण—वर्तमानमें यह एक तथ्य है, यदि ये परिवर्तित हो जायं तो फिर मृत्यु अटल नहीं रहेगी। स्पष्ट ही, यह परिवर्तन केवल तभी आ सकता है "यदि" कुछ शर्तें पूरी की जायं—क्रमविकासके द्वारा साधित समस्त प्रगति एवं परिवर्तन एक "यदि" या शर्तपर निर्भर करता है जो पूरी हो जाती है। यदि पशुगत मनको वाणी और तर्कबुद्धिका विकास करनेके लिये प्रवेग न मिला होता तो मनोमय मनुष्य कभी अस्तित्वमें न आता,—परन्तु वह "यदि"—एक बड़ी भारी और विकट शर्त पूरी हो ही गई। और आगेकी प्रगतिके लिये शर्त बांधनेवाली "यदियों" की भी यही बात है।

३१-७-१९३६

[1] वही, पृ० ६९. [2] वही, पृ० ६९.

द्वितीय भाग

श्रीमां

अनुवादक : श्याम सुन्दर झुनझुनवाला

१

दो शक्तियां ही अपने संगमसे वह महान् और कठिन कार्य कर सकती हैं जो हमारी साधनाका लक्ष्य है: एक अडिग और अटूट अभीप्सा जो नीचेसे आह्वान करती है और ऊपरसे परम भगवत्कृपा जो उत्तर देती है।

परन्तु परम भगवत्कृपा ज्योति एवं सत्यकी अवस्थाओंमें ही कार्य करेगी; असत्य तथा अज्ञानने उसपर जो अवस्थाएं लादी हैं उनमें वह कार्य नहीं करेगी। कारण, यदि वह असत्यकी मांगोंके सामने झुक जाय तो उसका उद्देश्य ही हार जायगा।

ज्योति एवं सत्यकी अवस्थाओंमें ही, एकमात्र इन्हीं अवस्थाओंमें सर्वोच्च ज्योति अवतरित होगी; और ऊपरसे अवतरित होती और नीचेसे उन्मिषित होती सर्वोच्च अतिमानसशक्ति ही भौतिक प्रकृतिकी बागडोर अपने हाथमें ले सकती और उसकी कठिनाइयोंका विनाश कर सकती है।... आवश्यक है समग्र एवं सच्चा समर्पण; आवश्यक है दिव्य शक्तिकी ओर अनन्य आत्मोन्मेष; आवश्यक है अवतरित होते सत्यका सतत एवं प्रतिपद सर्वभावेण वरण और अभी भी पार्थिव प्रकृतिपर शासन करती मनोमयी, प्राणमयी तथा अन्नमयी शक्तियों और रूपोंके मिथ्यात्वका प्रतिपद सर्वभावेण वर्जन।

समर्पण होना होगा समग्र, उसे सत्ताके सारे अंगोंमें व्याप्त होना होगा। चैत्यका उत्तर और उच्चतर मनोमयी सत्ताकी स्वीकृति पर्याप्त नहीं; यह भी पर्याप्त नहीं कि आन्तरिक प्राण नत हो जाय और आन्तरिक अन्नमयी चेतना प्रभावको अनुभव करे। सत्ताके किसी भी अंगमें, बाह्यसे बाह्यमें भी, ऐसा कुछ भी नहीं होना चाहिये जिसे कोई संकोच हो, ऐसा कुछ भी नहीं होना चाहिये जो संशय, अस्पष्टता और छल-कपटके पीछे छिपा हो, ऐसा कुछ भी नहीं होना चाहिये जो विद्रोह या अस्वीकार करता हो।

यदि सत्ताका कोई अंग समर्पण करे किन्तु दूसरा अंग संकोच करे, अपनी ही राह चले या अपनी ही शर्तें रखे तो जब-जब ऐसा होगा इसका अर्थ यह होगा कि भगवत्कृपाको तुम स्वयं ही अपनेसे दूर हटा रहे हो।

यदि अपनी भक्ति और समर्पणके पीछे तुम अपनी कामनाओं, अहमात्मिका मांगों और प्राणिक आग्रहोंके लिये छिपनेका स्थान बनाते हो, यदि तुम इन चीजोंको सच्ची अभीप्साके स्थानपर लाते या उसके साथ मिला देते हो और

इन्हें भागवत शक्तिपर लादनेकी चेष्टा करते हो तो तुम्हारा भगवत्कृपाको अपने रूपान्तरके लिये आह्वान करना निरर्थक है।

यदि तुम एक ओर या एक अंगमें सत्यकी ओर खुलते हो और दूसरी ओर बराबर शत्रु शक्तियोंके लिये दरवाजे खोलते रहते हो तो यह आशा व्यर्थ है कि भगवत्कृपा तुम्हारे साथ रहेगी। तुम्हें मन्दिरको स्वच्छ रखना ही होगा यदि तुम वहां भगवान्को जाग्रत् रूपसे स्थापित करना चाहते हो।

जब-जब महाशक्ति आती और सत्यको लाती है तब-तब यदि तुम उसकी ओर पीठ फेर लो और उस मिथ्यात्वको फिरसे बुला लो जिसे निकाल दिया गया है तो तुम भगवत्कृपाको निष्फलताका दोष नहीं दे सकते, दोष तुम्हारे अपने संकल्पके मिथ्याचार और तुम्हारे आत्मसमर्पणकी अपूर्णताका है।

यदि तुम सत्यका आवाहन करते हो और फिर भी तुम्हारे अन्दर ऐसा कुछ है जो असत्य, अज्ञान और अदिव्यका वरण करता किंवा उसका सर्वथा त्याग करनेको अनिच्छुक ही है, तो तुम सदा ही आक्रमणकी ओर खुले रहोगे और भगवत्कृपा तुमसे हट जायगी। पहले यह खोजो कि तुममें असत्य या तमोग्रस्त क्या है और दृढ़तासे उसका त्याग करो, केवल तभी तुम्हें अपने रूपान्तर-के लिये दिव्य शक्तिके आवाहनका अधिकार होगा।

मत सोचो कि सत्य और असत्य, आलोक और अन्धकार, आत्मदान और आत्मपरता भगवान्को निवेदित किये गये गृहमें एक साथ रहने दिये जा सकते हैं। रूपान्तर सर्वांगीण होना होगा; फलतः, जो कुछ उसमें बाधक हो उसका त्याग भी सर्वांगीण होना होगा।

दूर कर दो इस मिथ्या धारणाको कि तुम यदि भगवन्निर्दिष्ट शर्तें पूरी न करो तब भी दिव्य शक्ति तुम्हारे चाहनेसे तुम्हारे लिये सब कुछ करेगी या करनेको बाध्य है। अपने समर्पणको सच्चा और सम्पूर्ण करो, केवल तभी बाकी सब कुछ तुम्हारे लिये किया जायगा।

दूर कर दो इस मिथ्या और अलस आशाको कि भागवती शक्ति तुम्हारे लिये समर्पण भी कर देगी। भगवान् तुम्हारा भागवती शक्तिके प्रति समर्पण चाहते हैं, पर जबर्दस्ती नहीं कराते: जबतक अटल रूपान्तर नहीं हो जाता तबतक तुम भगवान्को नहीं मानने, उन्हें छोड़ देने या अपना आत्मदान वापस लेनेको हर क्षण स्वतन्त्र हो, किन्तु अवश्य ही तुम्हें उसका आध्यात्मिक फल भी भोगनेको तैयार रहना होगा। तुम्हारे समर्पणको होना चाहिये स्वेच्छाकृत और स्वच्छन्द; उसे होना चाहिये सजीव सत्ताका समर्पण, न कि जड़ कठ-पुतली या असहाय यन्त्रका।

तामसिक निश्चेष्टताको वास्तविक समर्पण माननेकी भूल सदा ही की

जाती है, किन्तु तामसिक निश्चेष्टतामेंसे कोई भी सच्ची और सबल वस्तु नहीं आ सकती। भौतिक प्रकृति अपनी तामसिक निश्चेष्टताके कारण ही सारे तामस या अदिव्य प्रभावोंका शिकार बनती है। अपेक्षित है भागवती शक्तिकी क्रियाके प्रति प्रसन्न, सबल और सहायक अधीनता और सत्यके आलोकित अनुयायीकी, तम और असत्यसे लड़नेवाले आन्तर योद्धाकी, भगवान्के विश्वासी सेवककी आज्ञाकारिता।

यही सच्चा भाव है, और जो इस भावको धारण कर सकते और बनाये रख सकते हैं केवल वे ही निराशाओं और विपत्तियोंके बीच अडिग विश्वास बनाये रख सकेंगे और अग्निपरीक्षामेंसे होकर परम विजय और महान् रूपान्तर-को प्राप्त करेंगे।

-- * --

२

विश्वमें जो कुछ भी किया जाता है उसमें भगवान् अपनी शक्ति द्वारा सारी क्रियाके पीछे हैं, किन्तु वह अपनी योगमायासे आवृत हैं और अपरा प्रकृतिमें जीवके अहंकार द्वारा कार्य करते हैं।

योगमें भी भगवान् साधक हैं और साधना भी। साधना उन्हींकी शक्तिसे सम्भव होती है; उनकी शक्ति ही अपनी ज्योति, सामर्थ्य, ज्ञान, चेतना एवं आनन्दसे आधारपर क्रिया करती है और आधारके उसकी ओर खुलनेपर उसमें इन दिव्य शक्तियोंके साथ प्रवाहित होती है। परन्तु जबतक अपरा प्रकृति सक्रिय रहती है साधककी वैयक्तिक चेष्टा आवश्यक रहती है।

अपेक्षित वैयक्तिक चेष्टा अभीप्सा, वर्जन एवं समर्पणका त्रिविध अभ्यास है,—

अनिमिष, अविराम एवं अविच्छिन्न अभीप्सा,—मनका संकल्प, हृदयकी खोज, प्राणसत्ताकी सम्मति, दैहिक चेतना तथा प्रकृतिको उन्मीलित करने और सहजनम्य करनेका संकल्प;

अपरा प्रकृतिकी वृत्तियोंका वर्जन,—मनके भाव, अभिमत, पक्षपात, अभ्यास और निर्माणका वर्जन ताकि सच्चे ज्ञानको नीरव मनमें निर्बन्ध अवकाश मिल सके,—प्राणप्रकृतिकी कामना, वासना, लालसा, संवेदना, आवेग, स्वार्थपरता, अभिमान, अहमन्यता, लोलुपता, लुब्धता, ईर्ष्या, असूया, सत्यके प्रति विरुद्धाचार, इन सबका वर्जन ताकि ऊपरसे सच्ची शक्ति और आनन्द स्थिर, विशाल, सबल और निवेदित प्राणसत्तामें ढलते आ सकें,—शारीरिक प्रकृतिकी मूढ़ता, संशय, विश्वास, अन्धकारिता, दुराग्रहिता, संकीर्णता, आलस्य, परिवर्तन-विमुखता और तामसिकताका वर्जन ताकि ज्योति, शक्ति एवं आनन्दकी सच्ची स्थिरता सदा अधिकाधिक दिव्य होते शरीरमें स्थापित हो सके;

भगवान् और भागवती शक्तिके प्रति आत्मसमर्पण, हम जो कुछ भी हैं, जो कुछ भी हमारा है, हमारी चेतनाका हर स्तर, हमारी हर गतिविधि, इन सबका समर्पण।

समर्पण और आत्म-निवेदन जितना बढ़ते हैं उसी अनुपातमें साधकको यह बोध होता है कि भागवती शक्ति साधना कर रही है, उसके अन्दर अपने-आपको अधिकाधिक उंडेल रही है, उसके अन्दर दिव्य पराप्रकृतिकी स्वतन्त्रता एवं पूर्णताको स्थापित कर रही है। यह चेतन प्रक्रिया उसकी अपनी चेष्टाका स्थान जितना अधिक लेती है उसकी प्रगति उतनी ही तेज और अधिक होती है। किन्तु वह वैयक्तिक चेष्टाकी आवश्यकताका पूरा अन्त तबतक नहीं कर सकती जबतक कि समर्पण तथा निवेदन ऊपरसे नीचेतक विशुद्ध और सम्पूर्ण नहीं हो जाते।

ध्यान रहे कि वह तामसिक समर्पण जो कि शर्त्तें पूरी करनेसे इनकार करता और ईश्वरसे यह चाहता है कि वे ही सब कुछ कर दें और तुम सारे कष्ट और संघर्षसे बचे रहो, प्रवंचना है और उससे स्वतन्त्रता तथा पूर्णताकी प्राप्ति नहीं होती।

– * –

३

जीवनयात्रामें सकल भय, संकट और आपदाके सामने कवचित होकर चलनेके लिये केवल दो चीजें आवश्यक हैं और ये दो सदा साथ-साथ चलती हैं,—एक तो मा भगवतीकी कृपा और दूसरी, तुम्हारी ओरसे श्रद्धा-निष्ठा-समर्पणसे गठित आन्तरिक स्थिति। श्रद्धा तुम्हारी होनी चाहिये विशुद्ध, निश्छल एवं निर्दोष। मन और प्राणकी अहमात्मिका श्रद्धा, वह श्रद्धा जो आकांक्षा, अभिमान, दम्भ, मानसिक अहमन्यता, प्राणिक स्वैरता, वैयक्तिक चाह और निम्न प्रकृतिकी तुच्छ तृप्तिकामनाओंसे कलुषित है, अनुन्नत और धूमाच्छन्न शिखा है जो ऊर्ध्वमुखी होकर स्वर्गलोकोंकी ओर प्रज्वलित नहीं हो सकती। अपने जीवनको इस रूपमें देखो कि वह तुम्हें केवल दिव्य कार्यके लिये और दिव्य अभिव्यक्तिमें सहायता देनेके लिये मिला है। और किसी भी चीजकी चाह न करो, चाहो केवल दिव्य चेतनाकी विशुद्धता, शक्ति, ज्योति, विशालता, स्थिरता, आनन्द, और तुम्हारे मन, प्राण तथा शरीरको रूपान्तरित और पूर्णता-सम्पन्न करनेके लिये उसका आग्रह। और कुछ भी न मांगो, तुम्हारी मांग हो दिव्य, आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक सत्यके लिये, धरतीपर, तुममें और उन सबमें उसकी सिद्धिके लिये जो उसके लिये चुने गये हैं, उसके अधिकारी हैं और उन अवस्थाओंके लिये जो उसकी सृष्टिके लिये और सारी विरोधिनी शक्तियोंपर उसकी विजयके लिये आवश्यक हैं।

तुम्हारी निष्ठा और समर्पण सत्यमय और सम्पूर्ण होने चाहिये। जब तुम अपना अर्पण करते हो तो अपनेको दे डालो निःशेष रूपसे, बिना किसी दावेके, बिना किसी शर्त्तके, बिना किसी संकोचके, ताकि तुम्हारे अन्दर सब कुछ मा भगवतीका होगा और अहंके लिये कुछ भी नहीं छोड़ा जायगा, अन्य किसी शक्तिको कुछ भी नहीं दिया जायगा।

तुम्हारी श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण जितने अधिक सम्पूर्ण होंगे उतना ही अधिक तुम कृपापात्र और सुरक्षित होओगे। और यदि मा भगवतीकी कृपा और रक्षक हाथ तुमपर हों तो ऐसा क्या है जो तुम्हें स्पर्श कर सके या जिसका तुम्हें भय हो? उसका अल्पांश भी तुम्हें सकल कठिनाइयों, बाधाओं और संकटोंके पार कर देगा; उससे पूरे घिरे रहनेपर तो, चूंकि वह पथ माका ही है, तुम अपने पथपर निरापद चल सकते हो, तब तुम्हें किसी संकटकी चिन्ता

नहीं, तुम्हें कोई भी वैरता छू नहीं सकती वह चाहे कितनी ही सबल क्यों न हो, इस जगत्की हो या अदृश्य जगत्की। उसका स्पर्श कठिनाईको सुयोगमें, विफलताको सफलतामें और दुर्बलताको अडिग बलमें बदल दे सकता है। कारण, मा भगवतीकी अनुकम्पा परमेश्वरकी अनुमति है और आज या कल उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट, अवश्यम्भावी और अनिवार्य है।

" * "

४

धन एक वैश्व शक्तिका दृश्यमान चिह्न है, और पृथ्वीपर अपने प्राकटयमें यह शक्ति प्राण और जड़के क्षेत्रोंमें कार्य करती है और बाह्य जीवनकी परिपूर्णता-के लिये अपरिहार्य है। अपने मूल और अपनी सच्ची क्रियामें यह शक्ति भग-वान्की है। परन्तु भगवान्की अन्य शक्तियोंकी तरह यह शक्ति भी यहां हस्तांतरित कर दी गयी है और अधःप्रकृतिके अज्ञानमें अहंके उपयोगके लिये हड़प ली जा सकती या आसुरी प्रभावों द्वारा अधिकृत हो सकती और उनके उद्देश्यके लिये विकृत की जा सकती है। निस्सन्देह यह उन तीन शक्तियोंमेंसे है,—आधिपत्य, धन और काम,—जिनमें मानवीय अहं और असुरके लिये सबसे सबल आकर्षण है और जो प्रायः सर्वत्र अनधिकारियोंके हाथोंमें पड़ जातीं और उनके द्वारा अपव्यवहृत होती हैं। धनके आकांक्षी या भण्डारी धनके स्वामी न होकर प्रायः उसके दास ही हुआ करते हैं। असुरोंने लम्बे समयसे धनको अपने अधि-कारमें रखा है और उसे विकृत किया है, इससे उसपर एक ऐसी विकृतिकारिणी छाप पड़ गयी है जिससे बहुत कम लोग ही पूरे बच सकते हैं। इसी कारण अधिकतर आध्यात्मिक साधनमार्गोंमें पूरे आत्मसंयम, अनासक्ति और धनके सारे बन्धनों और सारी वैयक्तिक तथा अहंकारयुक्त वित्तेषणाके त्यागपर जोर दिया जाता है। कुछ साधनमार्ग तो धन और सम्पदापर निषेध ही लगा देते और जीवनकी दरिद्रता और रिक्तताको एकमात्र आध्यात्मिक अवस्था घोषित करते हैं। परन्तु यह भूल है; इससे धनबल विरोधिनी शक्तियोंके हाथमें रह जाता है। उसे उसके अधिकारी भगवान्के लिये पुनः जीत लेना और दिव्य जीवनके लिये दिव्य रूपसे उसका उपयोग करना साधकके लिये अतिमानसिक मार्ग है।

धनबल और उससे मिलनेवाले साधनों और पदार्थोंसे तुम्हें सन्यासीकी तरह मुँह नहीं मोड़ लेना चाहिये, न ही तुम्हें उनके लिये राजसिक आसक्ति या उनके भोगके आत्मसुखकी दासवृत्ति ही पोसनी चाहिये। धनको केवल ऐसी शक्तिके रूपमें देखो जिसे माके लिये पुनः जीत लेना और उनकी सेवामें नियोजित करना है।

सारा धन भगवान्का है; वह जिनके हाथमें है वे उसके ट्रस्टी हैं, मालिक नहीं। वह आज उनके पास है, कल और कहीं हो सकता है। सब कुछ इसपर

निर्भर करता है कि जबतक वह उनके पास है वे इस ट्रस्टका पालन कैसे करते हैं, किस अन्तर्भावसे करते हैं, किस चेतनासे उसका उपयोग करते हैं, किस उद्देश्यके लिये करते हैं।

अपने लिये धनके उपयोगमें जो कुछ भी तुम्हारा है या तुम्हें मिलता है या तुम लाते हो उसे माका मानो। तुम्हारी कोई भी मांग न हो; तुम्हें मासे जो मिलता है उसे स्वीकार करो और उसे उन कामोंमें लगाओ जिनके लिये वह तुम्हें दिया गया हो। नितान्त निःस्वार्थ होओ, पूरे न्यायनिष्ठ बनो, सही-सही रहो, ब्योरोंमें सावधान रहो, अच्छे ट्रस्टी बनो; सदा यह मानो कि जिस धनका तुम उपयोग कर रहे हो वह माका है, तुम्हारा नहीं। फिर, जो कुछ उनके लिये मिले उसे उनके सामने श्रद्धासे रखो, अपने या और किसीके काममें न लगाओ।

धनीके धनके कारण उसके सामने सर न नवाओ, उसके आडम्बर, बल या प्रभावकी छाप अपनेपर न पड़ने दो। जब तुम माके लिये मांगते हो तो तुम्हें यह अनुभव करना चाहिये कि वे ही तुम्हारे द्वारा अपनी वस्तुका अल्पांश चाह रही हैं और जिस व्यक्तिसे तुम मांगते हो वह क्या उत्तर देता है उससे उसकी जांच होगी।

यदि तुम धनदोषसे मुक्त हो और साथ ही सन्यासीकी तरह तुम धनसे भागते नहीं, तो भागवत कार्यके लिये धन जय करनेकी अधिक क्षमता तुम्हें मिलेगी। मनका समत्व, स्पृहाका अभाव और जो कुछ तुम्हारा है और तुम्हें मिलता है उसका और तुम्हारी सारी अर्जनशक्तिका भगवती शक्तिको अर्पण इस मुक्तिके लक्षण हैं। धन और उसके उपयोगके सम्बन्धमें मनकी कोई भी चंचलता, स्पृहा या कुण्ठा किसी-न-किसी अपूर्णता या बन्धनका निश्चित चिह्न है।

इस मार्गमें आदर्श साधक वह है जो दरिद्रताकी अवस्थामें रहनेकी आवश्यकता होनेपर वैसे ही रह सके और अभावका कोई भी बोध उसे स्पर्श न करे, दिव्य चेतनाकी पूरी आन्तरिक क्रीड़ामें बाधा न दे, और धनीकी अवस्थामें रहनेकी आवश्यकता होनेपर वैसे ही रह सके और एक क्षणके लिये भी वासनामें या अपने धन या उपयोगसामग्रीकी आसक्तिमें या भोगवृत्तिकी दासतामें न जा पड़े, न ही दुर्बल होकर उन आदतोंमें बंध जाय जो धन रहनेपर पड़ जाती हैं। भागवती इच्छा और भागवत आनन्द ही उसके लिये सबकुछ है।

अतिमानसिक सृष्टिमें धनशक्तिको भागवती शक्तिके हाथमें वापस करना है; उसे, स्वयं भगवती मा अपनी सृष्टि-दृष्टिसे जैसा निर्णय करें उसी प्रकार, नूतन दिव्यीकृत प्राण और देहकी सच्ची, सुन्दर और सुसमंजस सज्जा और

सुव्यवस्थाके लिये व्यवहृत करना होगा। परन्तु पहले उसे माके लिये फिरसे जीत लाना होगा और इस विजयके लिये सबसे सबल वे होंगे जो अपनी प्रकृतिके इस अंगमें सबल, विशाल और अहंकार-निर्मुक्त हैं, कोई प्रत्याशा नहीं करते, अपने लिये कुछ बचाकर नहीं रखते, संकोच नहीं करते और परमा शक्तिके विशुद्ध वीर्यवान् माध्यम हैं।

·· * ··

५

यदि तुम दिव्य कर्मके सच्चे कर्मी बनना चाहते हो तो तुम्हारा पहला लक्ष्य होगा वासनामात्र और स्वार्थाभिमुख अहंसे पूरा मुक्त होना। तुम्हारा सारा जीवन भगवान्‌को अंजलि और बलिके रूपमें होगा; कर्ममें तुम्हारा एकमात्र लक्ष्य होगा भगवती शक्तिकी लीलामें उनकी सेवा करना, उन्हें ग्रहण करना, कृतार्थ करना, उनके प्राकटचका यन्त्र बनना। तुम्हें दिव्य चैतन्यमें विकसित होते जाना होगा ताकि तुम्हारी इच्छा और उनकी इच्छामें कोई भेद न रह जाय, तुममें उनकी प्रेरणाके अलावा कोई और संकल्प न उठे, कोई ऐसा कर्म न हो जो तुममें और तुम्हारे द्वारा होनेवाला उन्हींका चिन्मय कर्म न हो।

जबतक तुम यह सम्पूर्ण सक्रिय एकत्व उपलब्ध नहीं कर सकते तुम्हें अपने-आपको इस रूपमें देखना होगा कि तुम माकी सेवाके लिये सृष्ट जीव और देह हो, तुम्हारा सारा कर्म उन्हींके लिये है। यदि तुममें पृथक् कर्त्तृत्वबोध सबल हो और तुम्हें यह अनुभव होता हो कि तुम्हीं कर्त्ता हो तो भी वह कर्म माके लिये ही करना है। अहमात्मिका पसन्दका जोर, वैयक्तिक लाभकी लालसा, स्वार्थाभिमुखी कामनाकी प्रत्याशा, इन्हें पूराका पूरा उन्मूलित कर देना होगा प्रकृतिमेंसे। कोई फलेच्छा न रह जाय, पुरस्कारकी एषणा न रह जाय; तुम्हारे लिये एकमात्र फल है भगवती माकी प्रसन्नता और उनके कार्यकी पूर्ति, तुम्हारे लिये एकमात्र पुरस्कार है दिव्य चेतना, स्थिरता, बल एवं आनन्दमें निरन्तर प्रगति। सेवाका आनन्द और कर्म द्वारा आन्तरिक वर्द्धनका आनन्द ही निरहंकार कर्मीके लिये यथेष्ट प्रतिदान है।

परन्तु एक समय आयगा जब तुम अधिकाधिक यह अनुभव करोगे कि तुम यन्त्र हो, कर्त्ता नहीं। कारण, प्रथमतः तुम्हारे भक्तिबलसे भगवती माके साथ तुम्हारा सम्पर्क इतना घनिष्ठ हो जायगा कि किसी भी समय एकाग्र होकर और सब कुछ उनके हाथोंमें छोड़कर तुम उनका आशु निदेश, प्रत्यक्ष आदेश या प्रेरणा पा लोगे, यह निश्चित सन्धान पा लोगे कि क्या करना है, कैसे करना है और क्या फल होगा। और बादमें तुम यह अनुभव कर लोगे कि दिव्य शक्ति केवल प्रेरणा ही नहीं देती, पथ ही नहीं दिखाती, तुम्हारे कर्मोंका प्रवर्तन और उद्यापन भी करती है; तुम्हारी सारी गतिविधिका उत्स मामें है, तुम्हारे सारे सामर्थ्य उन्हींके हैं, मन, प्राण और देह उन्हींकी क्रियाके चैतन्यमय आनन्दमय

यन्त्र हैं, उनकी लीलाके साधन हैं, भौतिक विश्वमें उनके प्राकटचके आधार हैं। इस ऐक्य और निर्भरताकी अपेक्षा अधिक सुखद स्थिति और कोई नहीं हो सकती; कारण, यह डग तुम्हें अज्ञानके संघर्ष-संकुल दुःखमय जीवनकी सीमाको फिरसे पार कराकर तुम्हारी आध्यात्मिक सत्ताके सत्यमें, उसकी गभीर शान्ति एवं तीव्र आनन्दमें ले जायगा।

जबतक यह रूपान्तर-सम्पादन चलता है तुम्हारा अपने-आपको अहंके सारे विकारोंके दोषसे मुक्त रखना अन्य किसी भी समयकी अपेक्षा अधिक आवश्यक होता है। तुम्हारे आत्मदान और आत्मोत्सर्गकी निर्मलतामें कोई भी मांग, कोई भी हठ दबे पांव न आ जाय, उसे कलंकित न करे। कर्म या कर्मफलके प्रति कोई भी आसक्ति नहीं हो, कोई भी शर्तें न रखी जायं, तुम्हें जिस शक्ति द्वारा अधिकृत होना चाहिये उसपर अधिकार करनेके लिये दावा न हो, यन्त्र होनेका अभिमान न हो, कोई दम्भ या उद्धतता न हो। तुम्हारे मन या प्राण या दैहिक अंगोंमें ऐसा कुछ भी न रहने दिया जाय जो तुम्हारे द्वारा कार्य करती शक्तियोंकी महत्ताको अपने ही उपयोगके लिये विकृत करे या अपनी ही वैयक्तिक और पृथक् तुष्टिके लिये हस्तगत करे। तुम्हारी श्रद्धा, तुम्हारी निष्ठा, तुम्हारी अभीप्साकी निर्मलता पराकाष्ठाको प्राप्त करें और सत्ताके सारे स्तरों और क्षेत्रोंमें व्याप्त हो; ऐसा होनेपर हर क्षोभकारी तत्त्व और विकृतिकारी प्रभाव तुम्हारी प्रकृतिमेंसे अधिकाधिक निकलते जायंगे।

इस सिद्धिका अन्तिम पर्व तब आयगा जब तुम भगवती माके साथ पूरे एकीभूत हो जाओगे और अपने-आपको अन्य तथा पृथक् सत्ता, यन्त्र, सेवक या कर्त्ताके स्थानपर सत्यतः माकी चेतना एवं शक्तिकी सन्तान और सनातन अंश अनुभव करोगे। वह सदा ही तुममें होंगी और तुम उनमें होगे; तुम्हें यह सतत, सहज और स्वाभाविक अनुभव होगा कि तुम्हारे सारे विचार, तुम्हारा सारा देखना, तुम्हारे सारे कर्म, तुम्हारा श्वास लेना या हिलना-डोलना भी उन्हींसे निःसृत हैं और उन्हींके हैं। तुम यह जानोगे, देखोगे और अनुभव करोगे कि तुम वह व्यक्ति और शक्ति हो जिसे माने अपने-आपमेंसे रचा है और जो लीलाके लिये उनमेंसे निःसृत है और फिर भी सदा ही उनमें निरापद है और तुम उन्हींकी सत्ताकी सत्ता, उन्हींकी चेतनाकी चेतना, उन्हींकी शक्तिकी शक्ति, उन्हींके आनन्दके आनन्द हो। जब यह अवस्था पूर्णांग होगी और माकी अतिमानसिक ऊर्जाराशि तुम्हें अबाध रूपसे चालित कर सकेगी तब तुम सिद्ध भागवत कर्मी बनोगे; ज्ञान, इच्छा और कर्म तब सुनिश्चित, सहज, ज्योतिर्मय, स्वतःस्फूर्त्त और निर्दोष होंगे, परमेश्वरसे प्रवाहित होंगे, शाश्वतकी दिव्य गतिधारा होंगे।

* * *

६

माकी चार शक्तियां उनके चार प्रधान व्यक्त रूप हैं, उनके दिव्य स्वरूपके अंश और विग्रह हैं जिनके द्वारा वह अपने सृष्ट जीवोंपर क्रिया करती हैं, लोक-सृष्टियोंमें व्यवस्था और सामंजस्य लाती हैं और अपनी हजारों शक्तियोंके क्रियान्वयनका निदेशन करती हैं। कारण, मा एक हैं, किन्तु हमारे सामने वह भिन्न-भिन्न रूपोंमें आती हैं; अनेकानेक उनकी शक्तियां और मूर्त्तियां हैं, अनेकानेक उनके स्फुलिंग और विभूतियां हैं जो विश्वमें उनका कार्य करती हैं। जिन अद्वितीयाको हम मा कहकर पूजते हैं वह हैं सकल अस्तित्वकी अधिष्ठात्री भागवती चित्शक्ति, एका और साथ ही इतनी बहुरूपिणी कि अति क्षिप्र मन और सर्वथा विनिर्मुक्त और परम व्यापक बुद्धिके लिये भी उनकी गतिधाराको समझना असम्भव है। मा हैं परमेश्वरकी चेतना एवं शक्ति और अपनी सृष्टि-से बहुत ही ऊपर। किन्तु उनकी गतिविधिका कुछ आभास और अनुभव मिलता है उनके विग्रहों और उन देवीमूर्त्तियोंसे जिनमें वह अपने सृष्ट जीवोंके सामने प्रकट होना स्वीकार करती हैं और जो अपने अधिक निर्दिष्ट तथा मर्यादित गुण और कर्मके कारण अपेक्षाकृत सहजग्राह्य होती हैं।

माकी त्रिधा सत्ताका अनुभव तुम्हें तब हो सकता है जब तुमको हमें और विश्वको धारण करनेवाली चिन्मयी शक्तिके साथ एकत्वका संस्पर्श होगा। वह विश्वातीता हैं, आद्या पराशक्ति हैं; वह लोकोंसे ऊपर हैं और सृष्टिको पर-मेश्वरके चिर-अव्यक्त रहस्यसे संयुक्त करती है। वह विश्वव्यापिनी हैं, विश्व-रूपिणी महाशक्ति हैं; वह इन सारी सत्ताओंकी सृष्टि करती हैं, इन कोटि-कोटि प्रक्रियाओं और शक्तियोंको अपने अन्दर धारण करती हैं, उनमें प्रवेश करती हैं, उन्हें अवलम्ब देती और परिचालित करती हैं। वह व्यष्टिरूपिणी हैं; वह अपनी सत्ताके इन दो बृहत्तर रूपोंकी शक्तिको शरीरी करती हैं, उन्हें हमारे लिये जीवन्त बनाती और निकट लाती हैं और मानवीय व्यक्तित्व तथा दिव्य प्रकृतिके बीच मध्यस्थ होती हैं।

आद्या अद्वितीया पराशक्तिके रूपमें मा सकल लोकोंसे ऊपर हैं और पुरुषोत्तम भगवान्को अपनी सनातन चेतनामें धारण किये रहती हैं। पूर्ण शक्ति और अनिर्वचनीय सत्ता उन अद्वितीयामें ही बसती है; जिन सत्योंको व्यक्त करना है उन्हें वह वहन करतीं या उनका आह्वान करती हैं, वे जिस परम रहस्यमें

छिपे हुये थे उसमेंसे उतारकर उन्हें वह अपनी अनन्त चेतनाके आलोकमें ले आतीं, अपनी सर्वजयी शक्ति और अपार प्राणधारामें शक्तिका रूप देतीं और विश्वमें शरीरी करती हैं। पुरुषोत्तम मामें सदा ही नित्य सच्चिदानन्दके रूपमें प्रकट हैं, लोकोंमें उन्हींके द्वारा ईश्वर और शक्तिके द्वैताद्वैत चैतन्य और पुरुष और प्रकृतिके द्वैत तत्त्व-रूपमें व्यक्त हुए हैं, लोकों और भुवनोंमें, देवों और देवशक्तियोंमें उन्हींके द्वारा शरीरी हुए हैं और ज्ञाताज्ञात लोकोंमें जो कुछ है उसके रूपमें उन्हींके कारण साकार हुए हैं। सब कुछ पुरुषोत्तमके साथ उनकी लीला है; सब कुछ उनका शाश्वतके रहस्योंको, अनन्तके चमत्कारोंको व्यक्त करना है। वही सब कुछ हैं, क्योंकि सब कुछ ही दिव्य चित्-शक्तिका अंश और अच्छेद्य अंग है। यहां या कहीं भी ऐसा कुछ भी नहीं हो सकता जो उनके द्वारा निर्दिष्ट और परमेश्वर द्वारा अनुमत न हो; जिसे वह परमेश्वरसे चालित होकर दिव्य दृष्टिमें देखतीं और फिर अपने सृष्टिशील आनन्दमें बीज-रूपमें डालकर घड़ती हैं, केवल वही वस्तु रूपायित हो सकती है।

महाशक्ति विश्वमाताको अपनी विश्वातीत चेतना द्वारा परम पुरुषसे जो मिलता है उसे वह कार्यान्वित करती हैं और अपने बनाये लोकोंमें प्रवेश करती है; वहां उनकी विद्यमानता लोक-लोकोंको उस दिव्य भाव और उस दिव्य सर्वपोषक शक्ति एवं आनन्दसे भरती और अवलम्ब देती है जिनके बिना उनका अस्तित्व नहीं हो सकता था। जिसे हम प्रकृति कहते हैं वह उनका सबसे बाहरी क्रियारूप है; महाशक्ति ही अपनी शक्तियों और प्रक्रियाओंको विन्यस्त करतीं और उनमें सामंजस्य लाती हैं, प्रकृतिकी क्रियाओंको चलातीं और उनमें जो कुछ भी देखा जा सकता या अनुभव किया जा सकता या जीवनधारामें सचल किया जा सकता है उस सबमें, गुप्त या व्यक्त रूपसे विचरण करती हैं। प्रत्येक लोक और कुछ नहीं, महाशक्तिकी अखिल लोकसंस्थान-लीलामें एक लीला है; महाशक्ति उनमें विश्वातीता माकी विश्वभूत आत्मसत्ता और व्यक्तित्वके रूपमें हैं। प्रत्येक लोक वह वस्तु है जिसे उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टिमें देखा, अपने सौन्दर्यमय एवं शक्तिमय हृदयमें धारण किया और अपने आनन्दमें सृष्ट किया है।

किन्तु उनकी सृष्टिके स्तर अनेक हैं, भागवती शक्तिके पादपीठ अनेक हैं। इस सृष्टिके शिखरपर जिसके कि हम अंग हैं, अनन्त सत्ता, चेतना, शक्ति एवं आनन्दके लोक हैं जिनपर मा अनावृत शाश्वत शक्तिरूपमें खड़ी हैं। वहां सारी सत्ताओंका जीवन और विचरण अनिर्वचनीय सम्पूर्णता और अव्यभिचारिणी एकतामें होता है, क्योंकि मा उन्हें नित्य अपनी बांहोंमें लिये रहती हैं। हमारे अधिक समीप हैं पूर्ण अतिमानसिक सृष्टिके लोक जिनमें मा अतिमानसिक

महाशक्ति हैं, दिव्य सर्वज्ञ इच्छा एवं सर्वशक्तिमय ज्ञानकी शक्ति हैं जो अपनी अभ्रान्त क्रियाओंमें नित्य प्रकट है और प्रत्येक प्रक्रियामें स्वतःस्फूर्त रूपसे पूर्ण। वहांकी सारी गतिविधि सत्यके पदक्षेप है; वहां सकल सत्ताएं दिव्य ज्योतिके जीवभूत अंश, शक्तियां और शरीर हैं; वहां सारे अनुभव तीव्र परमानन्दके सागर, प्लावन और तरंगें हैं। किन्तु यहां, जहां कि हम रहते हैं, अज्ञानजगत् हैं, चेतनामें अपने मूलसे पृथक् हुए मन, प्राण और शरीरके जगत् हैं; यह पृथ्वी इनका सार्थक केन्द्र है और इसका क्रमविकास अति महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया। इतने सारे अन्धकार, संघर्ष और अपूर्णतासे युक्त इस जगत्‌को भी विश्वमाताने धारण कर रखा है; यह भी महाशक्ति द्वारा ही प्रचालित हो रहा है और अपने गुप्त लक्ष्यकी ओर ले जा रहा है।

अज्ञानके इस त्रिधा जगत्‌की महाशक्तिके रूपमें मा एक मध्यवर्त्ती लोकमें खड़ी हैं,—एक ओर है अतिमानस-ज्योति, सत्यात्मक जीवन, सत्यात्मिका सृष्टि जिसे यहां उतार लाना है, दूसरी ओर है चेतनाके स्तरोंका यह ऊर्ध्वगामी और निम्नगामी श्रेणीक्रम जो दोहरी सीढ़ीकी तरह एक ओर जड़के निर्ज्ञानमें समाप्त होते हैं और फिर प्राण, हृदय एवं मनके प्रस्फुटन द्वारा परमात्माके आनन्त्यमें वापस उठते हैं। इस विश्वमें और पार्थिव क्रमविकासमें जो कुछ होना है उसे, वह जो देखतीं, अनुभव करतीं और अपने अन्दरसे उंडेलती हैं, उसके द्वारा निश्चित करती हुईं मा वहां देवताओंसे ऊपर खड़ी हैं और उनकी सकल शक्तियों और विग्रहोंको कार्यके लिये उनके सामने लाया जाता है और मा उनके स्फुलिंगोंको इन नीचेके लोकोंमें हस्तक्षेप करने, शासन करने, लड़ने और जीतने, उनके युगचक्रोंका परिचालन और आवर्तन करने, उनकी शक्तियोंकी समष्टिगत और व्यष्टिगत धाराओंका निदेशन करनेके लिये नीचे भेजती हैं। ये स्फुलिंग ही वे बहुतेरे दिव्य रूप तथा विग्रह हैं जिनके द्वारा मनुष्य युगयुगमें विभिन्न नामोंसे माकी पूजा करता रहा है। किन्तु इन शक्तियों और इनके स्फुलिंगों द्वारा वह अपनी विभूतियोंके मन और शरीरको भी प्रस्तुत करती और घड़ती हैं, ताकि वह भौतिक जगत्‌में और मानवी चेतनाके छद्मवेशमें अपनी शक्ति, गुण और सत्ताकी कोई आभा व्यक्त कर सके। पार्थिव लीलाके सारे दृश्य ऐसे नाटककी तरह रहे हैं जो माके द्वारा रचित, विन्यस्त और अभिनीत हैं और जिसमें विश्वदेव उनके सहकारी हैं और स्वयं मा प्रच्छन्न अभिनेत्री।

मा केवल सबपर ऊपरसे शासन ही नहीं करतीं, अपितु इस निम्नतर त्रिधा जगत्‌में उतर आती हैं। निर्व्यक्तिक रूपमें, यहांकी सारी वस्तुएं, अज्ञानकी गतिविधि भी, अपनी शक्तिको प्रच्छन्न रखनेवाली मा ही हैं; वे उन्हींकी क्षीणीकृत सत्त्ववाली सृष्टियां हैं, उन्हींकी प्रकृतिदेह और प्रकृतिशक्ति हैं, और उनका

अस्तित्व इसलिये है कि परमेश्वरके रहस्यमय आदेशसे चालित होकर, एक ऐसी चीजको कार्यान्वित करनेके लिये जो कि अनन्तकी सम्भावनाओंमें विद्यमान थी, माने यह महान् आत्मबलिदान स्वीकार किया है और अज्ञानके अन्त:करण और रूपोंको अवगुण्ठनकी तरह धारण किया है। परन्तु व्यक्तिगत रूपमें भी वह करुणावश यहां अन्धकारमें उतर आयी हैं उसे ज्योतिकी ओर ले जानेके लिये, मिथ्यात्व और प्रमादमें उतर आयी हैं उसे सत्यमें संपरिर्वातित करनेके लिये, इस मृत्युमें उतर आयी हैं उसे देवोचित जीवनमें बदलनेके लिये, इस जगत्-वेदना और उसके दुरपनेय दु:ख और कष्टमें उतर आयी हैं उसे अपने उदात्त आनन्दके रूपान्तरकारी उल्लासमें पर्यवसित करनेके लिये। अपनी सन्तानके लिये अपने गभीर विपुल स्नेहवश ही माने इस अन्धकारका आवरण ओढ़ना चाहा है, अन्धकार और मिथ्यात्वकी शक्तियोंके आक्रमणों और उत्पीड़क प्रभावों-को सहना स्वीकार किया है, उस जन्मके तोरणमेंसे होकर निकलना सहा है जो कि मृत्यु है, सृष्टिकी वेदना, दु:ख और कष्टको अपने अन्दर लिया है,—कारण, ऐसा दीख पड़ा था कि उसे केवल इसी प्रकार ज्योति, आनन्द, सत्य एवं अनन्त जीवनकी ओर उन्नीत किया जा सकेगा। यही वह महान् आत्मबलिदान है जिसे समय-समयपर पुरुष-यज्ञ कहा गया है किन्तु जो गभीरतर अर्थमें प्रकृतिका आत्मस्वाहाकार है, मा भगवतीका यज्ञ है।

माके इस विश्वपरिचालनमें, पार्थिव लीलाके साथ उनके व्यवहारमें, उनके चार महारूप, उनकी प्रधान शक्तियों और विग्रहोंमेंसे चार, सामने रहे हैं। उनके एक विग्रहमें है प्रशान्त विशालता, व्यापक ज्ञान, अचंचल मांगल्य, अपार करुणा, अतुल अद्वितीय महिमा, विश्वराट् गौरव-महिमा। दूसरेमें मूर्त है उनके भास्वर वीर्य और अदम्य आवेगकी शक्ति, उनका योद्धृभाव, उनका सर्वजयी संकल्प, उनकी प्रखर क्षिप्रता और प्रलयंकर प्रताप। तीसरा है कान्तिमय, माधुर्यमय, सौन्दर्यमय,—वहां है माका सौन्दर्य, सुसंगति और सुचारु छन्दका प्रगाढ़ रहस्य, उनका विचित्र सुकुमार वैभव, उनका दुर्निवार आकर्षण, उनकी मोहिनी मधुरिमा। चौथा विभूषित है माके अन्तरंग ज्ञान, निपुण निर्दोष कर्म और सब चीजोंमें प्रशान्त और शुद्ध पूर्णताके सामर्थ्यसे। ज्ञान, बल, सामंजस्य, संसिद्धि उनके विभिन्न गुण हैं; वे इन्हें ही जगत्में अपने साथ लाते हैं, अपनी विभूतियोंको मानवीय वेशमें व्यक्त करते हैं और जो लोग अपनी पार्थिव प्रकृतिको माके साक्षात् तथा जीवन्त प्रभावकी ओर खोल सकते हैं उनमें उनकी ऊर्ध्वस्थ दिव्य स्थितिके धर्मानुसार उन्हें प्रतिष्ठित करेंगे। इस चतुष्टयको हम ये चार महान् नाम देते हैं,—महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती।

राजराजेश्वरी महेश्वरी आसीन हैं विचारमानस और इच्छाशक्तिसे ऊपरकी

विशालतामें और उन्हें वह शोधित तथा उन्नीत करके ज्ञानस्वरूप और बृहत् बनाती या पराज्योतिसे प्लावित करती हैं। कारण, महेश्वरी ही वह शक्तिमयी ज्ञानमयी हैं जो हमें अतिमानसिक आनन्त्यों और वैश्व बृहत्ताओंकी ओर, परमा ज्योतिके ऐश्वर्यकी ओर, अलौकिक ज्ञानके भण्डारकी ओर, माकी चिरन्तन शक्तियोंकी अपरिमेय गतिकी ओर खोलती हैं। अचंचला और अद्भुत हैं वह महिमामयी चिरप्रशान्ता। उन्हें कोई भी चीज चला नहीं सकती क्योंकि सकल ज्ञान उनमें है; ऐसी कोई चीज नहीं जिसे वह जानना चाहें पर जो उनसे छिपी रहे; सकल वस्तु, सकल सत्ता, उनकी प्रकृति, उन्हें क्या चलाता है, जगत्का विधान, उसके कालविभाग, सब कुछ कैसा था, है और होगा, यह सब उन्हें ज्ञात है। उनमें वह बल है जो सबका सामना करता और सबको वशमें करता है और उनकी बृहत् दुराधिगम्य ज्ञानवत्ता और समुन्नत प्रशान्त शक्तिके सामने अन्तमें कोई भी नहीं ठहर सकता। वह सम हैं, धीर हैं, अटल उनकी इच्छाशक्ति है; मनुष्योंसे वह उनकी प्रकृतिके अनुसार व्यवहार करती हैं और वस्तुओं तथा घटनाओंसे उनकी शक्ति और उनके अन्तरस्थ सत्यके अनुसार। उनमें पक्षपात है ही नहीं, परन्तु वह परमेश्वरके आदेशोंका अनुसरण करती हैं और किन्हींको ऊपर उठाती हैं और किन्हींको नीचे गिरातीं या अपनेसे अलग हटाकर अन्धकारमें डाल देती हैं। ज्ञानियोंको वह और भी महान्, और भी ज्योतिर्मय ज्ञान देती हैं; दृष्टिवानोंको वह अपनी मन्त्रणामें सम्मिलित करती हैं; विरोधियोंको वह विरोधके परिणाम भोग कराती हैं; अज्ञ और मूढ़ जनोंको वह उनकी अन्धताके अनुसार लिये चलती हैं। प्रत्येक मनुष्यमें उसकी प्रकृतिके विभिन्न तत्त्वोंको वह उनकी आवश्यकता, प्रवृत्ति और वांछित प्रकृतिके अनुसार उत्तर देतीं और संचालित करती हैं, उनपर यथावश्यक दबाव डालतीं या उन्हें उनकी प्रिय स्वतन्त्रतामें छोड़ देती है ताकि वे अज्ञान राहोंमें फलें-फूलें या विनष्ट हो जायं। कारण, वह सबसे ऊपर हैं, जगत्की किसी भी वस्तुसे बद्ध नहीं, आसक्त नहीं। फिर भी, अन्य किसीकी भी अपेक्षा उनका हृदय जगन्माताका है। कारण, उनकी करुणा अनन्त और अपार है; उनकी आंखोंमें सब कोई, असुर, राक्षस, पिशाच, विद्रोही और विरुद्धाचारी भी उन्हींकी सन्तान और उन एक अद्वितीयके अंश हैं। उनका अस्वीकरण स्थगन ही है और उनसे मिला हुआ दण्ड उनका प्रसाद। किन्तु उनकी करुणाके कारण उनके ज्ञानपर पर्दा नहीं पड़ता, उनका कर्म निर्दिष्ट पथसे नहीं हटता ; कारण, वस्तुओंका सत्य ही उनका विषय है, ज्ञान उनका शक्तिकेन्द्र है और हमारे अन्तरात्मा तथा हमारी प्रकृतिको दिव्य सत्यमें निर्मित करना उनका व्रत और प्रयास।

महाकालीकी प्रकृति और है। बृहत्ता नहीं, उत्तुंगता, ज्ञान नहीं, शक्ति

और बल उनके विशिष्ट गुण हैं। उनमें दुर्निवार तीव्रता है, संसिद्धिके लिये शक्तिका विपुल आवेग है, सारी सीमाओं और बाधाओंको चूर्ण करनेके लिये धावन करनेवाली दिव्य प्रचण्डता है। उनका सारा दिव्यत्व प्रस्फुटित होता है रुद्रकर्मकी प्रभामें; वह हैं क्षिप्रताके लिये, आशुफलदायिनी प्रक्रियाके लिये, द्रुत ऋजु आघातके लिये, सर्वजयी सम्मुखीन आक्रमणके लिये। असुरके लिये भयंकर उनका मुखमण्डल है, भगवद्विद्वेषियोंके लिये निदारुण और निर्मम उनका चित्त है; विश्वलोकोंकी रणरंगिणी हैं वह, संग्रामसे वह कभी भी विमुख नहीं होतीं। अपूर्णता उन्हें सहन नहीं; मनुष्यमें जो कुछ भी अनिच्छुक है उसके प्रति उनका व्यवहार रूढ़ है, जो कुछ अज्ञान और अन्धकारके लिये हठ करता है उसपर कठोर हैं वह। विश्वासघात, मिथ्याचार और विद्वेषपर उनका कोप अविलम्ब और भीषण होता है, दुष्ट इच्छापर उनके शूलका प्रहार तुरत होता है। भागवत कर्ममें औदासीन्य, अवहेलना और आलस्य उन्हें सह्य नहीं; असमय सोनेवाले और दीर्घसूत्रीको, आवश्यकता होनेपर, वह तुरत तीक्ष्ण वेदनासे प्रहारित करके जगाती हैं। क्षिप्र, ऋजु और अकपट प्रेरणाएं, अकुण्ठ और अव्यभिचारिणी गतिधाराएं, अग्निशिखाकी तरह ऊर्ध्वगामिनी अभीप्सा,—ये महाकालीके संचार हैं। अदम्य उनकी अन्तर्वृत्ति है, श्येन पक्षीकी उड़ानकी तरह उत्तुंग और दूरप्रसारिणी उनकी दृष्टि और इच्छाशक्ति हैं, ऊर्ध्वपथमें द्रुत उनकी गति है, उनकी भुजाएं मारने और तारनेके लिये फैली हुई हैं। कारण, वह भी मा ही हैं; उनका स्नेह उतना ही तीव्र है जितना कि उनका कोप और उनमें गभीर तथा आवेग-आप्लुत करुणा है। जब उन्हें अपने बलके साथ हस्तक्षेप करनेका अवसर मिलता है तब साधककी गतिको रुद्ध करनेवाले विघ्न, उसपर आक्रमण करनेवाले शत्रु असंहत वस्तुओंकी तरह एक ही क्षणमें चूर्ण हो जाते हैं। विरोधीके लिये उनका कोप भयंकर है और दुर्बल और कायरके लिये उनके दबावका प्रवेग पीड़ाकर, किन्तु महान्, बलवान् और उदात्त जनोंका प्रेम पाती हैं वह, उनसे पूजित हैं वह, कारण, वे यह अनुभव करते हैं कि माके प्रहार उनके आधारमें जो विद्रोही है उसे ठोक-पीट करके सामर्थ्य और निर्दोष सत्य बना देंगे, जो कुटिल और विकृत है उसपर सीधा हथौड़ा चलायंगे और जो अशुद्ध या सदोष है उसे निकाल बाहर करेंगे। वह न हों तो जो काम एक दिनमें किया जाता है उसमें शताब्दियां लग सकती थीं; उनके बिना आनन्द विशाल और गभीर या कोमल, मधुर और सुन्दर तो हो सकता था किन्तु उसे अपनी परम पराकाष्ठाओंका प्रज्वलित उल्लास नहीं मिलता। वह ज्ञानको विजयिनी शक्ति देती हैं, सौन्दर्य एवं सामंजस्यमें उच्च ऊर्ध्वगामिनी गति और पूर्णताके मन्द और कठिन श्रममें वह आवेग लाती हैं जो शक्तिको बहुगुणित

करता है और लम्बे मार्गको छोटा। परतम आनन्द, उच्चतम उच्चता, महत्तम लक्ष्य और विशालतम दृष्टिसे न्यून रहनेवाली कोई भी चीज उन्हें तुष्ट नहीं कर सकती। अतएव भगवान्‌की विजयिनी शक्ति उन्हींके साथ है और यदि महासिद्धि बादमें न होकर अभी ही हो सके तो ऐसा उन्हींके तेज, आवेग और क्षिप्रताके प्रसादसे होगा।

ज्ञान और शक्ति ही परमा माताकी एकमात्र अभिव्यक्तियां नहीं; उनकी प्रकृतिका एक और भी सूक्ष्मतर रहस्य है और उसके बिना ज्ञान और शक्ति अधूरी वस्तुएं होंगी और पूर्णता पूर्ण नहीं होगी। उनसे ऊपर है शाश्वत सौन्दर्य-का आह्लुत्य, दिव्य सामंजस्योंका इन्द्रिय-अगम्य रहस्य, दुर्निवार विश्वव्यापक श्री और आकर्षणकी मोहिनी शक्ति जो वस्तुओं, शक्तियों और सत्ताओंको खींचती और साथ धरे रखती और परस्पर सम्मिलित और संयुक्त होनेको बाध्य करती है ताकि अन्तरालसे एक प्रच्छन्न आनन्द लीलायित होवे और उन्हें अपने छन्द और अपने रूप बनावे। यह महालक्ष्मीकी शक्ति है और देहधारी जीवोंके चित्तके लिये दिव्य शक्तिका इससे अधिक आकर्षक रूप और कोई नहीं। महेश्वरी इतनी अति स्थिर, महीयसी और दूर लग सकती हैं कि पार्थिव प्रकृतिकी क्षुद्रता उनतक पहुँचने या उन्हें धारण करनेमें असमर्थ हो, महाकाली उसकी दुर्बलताकी सहनशक्तिके लिये अति क्षिप्र और प्रचण्ड हो सकती हैं, किन्तु महालक्ष्मीकी ओर तो सब कोई हर्ष और चाहसे मुड़ते हैं। कारण, वह भगवान्‌की उन्मादिका माधुरीका जादू डालती हैं: उनके निकट होना गभीर सुख है और उन्हें हृदयमें अनुभव करना जीवनको आह्लादमय और अद्भुत बना देना है; श्री, शोभा और स्नेहधारा उनसे वैसे ही प्रवाहित होती हैं जैसे सूर्यसे प्रकाश और जहां कहीं वह अपनी अद्भुत दृष्टि जमातीं या अपनी मुस्कानका माधुर्य टपकाती हैं, अन्तरात्मा पकड़में आ जाता, बन्दी हो जाता और अगाध आनन्दकी गहराइ-योंमें डूब जाता है। उनके हाथोंके स्पर्शमें चुम्बकत्व है, उनके करकमलोंका गुह्य कोमल प्रभाव मन, प्राण और शरीरको मार्जित करता है और जहां उनके चरण पड़ते हैं वहां बह निकलते हैं चित्तोन्मादक आनन्दके अलौकिक स्रोत।

तथापि इस मोहिनी शक्तिको प्रसन्न करना या अपने अन्दर बसाये रखना सहज नहीं। महालक्ष्मी प्रसन्न होती हैं मन और अन्तरात्माके सामंजस्य और सौन्दर्यसे, विचार और अनुभवके सामंजस्य और सौन्दर्यसे, प्रत्येक बहिर्मुख कर्म और गतिविधिसे सामंजस्य और सौन्दर्यसे, जीवन और चतुःपार्श्वके सामंजस्य और सौन्दर्यसे। जहां निगूढ़ विश्वानन्दके छन्दोंके साथ साम्य है, जहां सर्व-सुन्दरकी पुकारको उत्तर दिया जाता है, जहां स्वरसंगति है, ऐक्य है, भगवान्‌की ओर मुड़े हुए अनेकानेक जीवनोंका सानन्द प्रवाह है, वैसे वातावरणमें ही रहनेको

वह सम्मत होती हैं। किन्तु जो कुछ कुत्सित, नीच और हीन है, जो कुछ दीन, मलिन और अशुचि है, जो कुछ निर्मम और रुक्ष है. वह सब उनके आगमनका प्रतिरोध करता है। जहां प्रेम और सौन्दर्य हैं नहीं या होना नहीं चाहते, वहां वह नहीं आतीं; जहां वे अपकृष्ट वस्तुओंसे मिश्रित और विकृत हो जाते हैं, वहांसे प्रस्थान करनेके लिये वह जल्दी मुड़ जाती हैं या वहां वह अपने वैभव उंडेलनेको इच्छुक नहीं होतीं। यदि वह अपने-आपको मनुष्योंके हृदयोंमें स्वार्थ-परता, घृणा, ईर्ष्या, असूया, विद्वेष और कलहसे घिरा पाती हैं, यदि देवोद्दिष्ट अर्घ्यपात्रमें विश्वासघातकता, लोभ और कृतघ्नता मिली हुई हैं, यदि आवेगकी स्थूलता और अमार्जित कामना भक्तिको अवनत करती हैं, तो ऐसे हृदयोंमें सौम्या सौन्दर्यमयी देवी नहीं ठहरेंगी। एक दैवी घृणासे उनका चित्त उचाट हो जाता है और वह वहांसे हट जाती हैं, कारण, उनकी प्रकृति आग्रह या आयास करनेकी नहीं; या वह अपना सुखद प्रभाव फिरसे प्रतिष्ठित करनेके पहले अपने मुखड़ेपर अवगुण्ठन डालकर इसकी प्रतीक्षा करती हैं कि यह कटु और विषाक्त आसुरी वस्तु वर्जित और विलुप्त हो जाय। संन्यासीकी रिक्तता और रुक्षता उन्हें पसन्द नहीं, हृदयके गभीरतर आवेगोंका निरोध और अन्तरात्मा तथा जीवनके सौन्दर्य-अंशोंका कठोर दमन भी नहीं। कारण, वह प्रेम एवं सौन्दर्य द्वारा ही मनुष्योंपर भगवान्‌का जूआ डालती हैं। उनकी समुच्चतम सृष्टियोंमें जीवन परिणत हो जाता है स्वर्गिक श्रीसम्पन्न कलाकृतिमें और निखिल सत्ता परिणत हो जाती है पुनीत आनन्दके काव्यमें; जगत्‌की सम्पदाको एक महत्तम व्यवस्थाक्रमके लिये एकत्र और सज्जित किया जाता है, अति साधारण और अति सामान्य वस्तुएं भी महालक्ष्मीकी एकत्वसंबोधि और उनकी अन्तःसत्ताके श्वाससे अनोखी बन जाती हैं। उन्हें हृदयमें स्थान देनेसे वह ज्ञानको अपूर्व शिखरोंपर पहुँचा देती हैं और उसके सामने सारे ज्ञानसे. अतीत उल्लासके गुप्त. रहस्योंको प्रकट करती हैं, भक्तिको भगवान्‌के तीव्र आकर्षणका उत्तर देती हैं, शक्ति और बलको वह छन्द सिखाती हैं जो उनके कार्योंके वीर्यको समंजस और परिमित रखता है और संसिद्धिपर वह मोहिनी डाल देती हैं जिससे वह चिरस्थायिनी हो जाती है।

महासरस्वती माकी कर्मशक्ति हैं, उनकी पूर्णता एवं व्यवस्थाकी वृत्ति हैं। वह चारोंमें सबसे कनिष्ठा हैं, कार्यनिष्पादनकी क्षमतामें सबसे निपुण हैं और स्थूल प्रकृतिके निकटतम हैं। महेश्वरी विश्वशक्तियोंकी बृहत् धाराएं निर्दिष्ट करती हैं, महाकाली उनकी ऊर्जा और वेगको प्रेरित करती हैं, महा-लक्ष्मी उनके छन्दों और मापोंको प्रकट करती हैं, किन्तु महासरस्वती उनके संगठन और क्रियान्वयनके ब्योरोंकी, अंगोंके सम्बन्ध, शक्तियोंके प्रभावी संयोजन

और परिणाम तथा परिपूर्तिके अचूक यथातथ्यकी अध्यक्षा हैं। वस्तुओंकी विद्या, कारुपद्धति और प्रयोगरीति महासरस्वतीका प्रान्त हैं। सिद्ध कर्मोंका अन्तरंग और यथायथ ज्ञान, उसकी सूक्ष्मदर्शिता और धीरता, उसके संबोधिमय मन, चेतन हाथों और दर्शिनी आंखोंकी निर्भूलता, इन्हें महासरस्वती अपनी प्रकृतिमें निरन्तर धारण किये रहती हैं और जिन्हें उन्होंने वरण किया है उनको ये चीजें प्रदान कर सकती हैं। यह शक्ति सारे लोकोंकी सबल, अक्लान्त, सतर्क और निपुण निर्मात्री, विधात्री, शासिका, प्रयोगज्ञानवती, कलावती और श्रेणी-विभागकर्त्री हैं। जब वह प्रकृतिके रूपान्तर और नवनिर्माणको हाथमें लेती हैं उनका कार्य श्रमसाध्य होता है, ब्योरोंमें बारीकीसे जाता हैं और प्रायः हमारी अधीरताको धीमा और असमाप्य लगता है, किन्तु होता है अविराम, सर्वांगीण और दोषलेशशून्य। कारण, उनके कर्मोंमें रहनेवाली इच्छा सतर्क, अतन्द्र और अक्लान्त है; वह हमपर आनत होकर प्रत्येक छोटे-छोटे ब्योरेको देखतीं और स्पर्श करती हैं, प्रत्येक बारीक दोष, छिद्र, कुटिलता या असम्पूर्णताको देखती हैं, जो कुछ किया जा चुका है और बादके लिये जो करना अभी शेष रह गया है उसपर विचार करतीं, उसे ठीक-ठीक तौलती हैं। उनकी दृष्टिके लिये कोई भी चीज अति तुच्छ या आपात-नगण्य नहीं; कोई भी चीज कितनी ही स्पर्श-अगम्य, छद्मयुक्त या गुप्त क्यों न हो, वह उनसे नहीं बच सकती। वह हर अंगको गढ़तीं और फिरसे गढ़ती हुई उसपर तबतक परिश्रम करती हैं जबतक कि वह अपना सच्चा रूप न प्राप्त कर लेवे, समग्रमें अपने ठीक स्थानपर न रख दिया जाय और अपना ठीक-ठीक कार्य पूरा न करे। निरन्तर अध्यवसायसे वस्तुओंका आयोजन और पुनरायोजन करनेमें उनकी आंखें एक साथ ही सारी आवश्यकताओं और उनकी पूर्तिके उपायको देखती हैं, उनकी संबोधि यह जानती है कि किसे वरण करना है और किसका वर्जन, और वह सही यन्त्र, सही समय, सही अवस्थाओं और सही प्रक्रियाको सफलतासे निर्धारित करती है। अनवधान, अवहेलन और आलस्यसे उन्हें घृणा है; किसी भी तरह जल्दबाजीसे या उलट-पुलटकर काम निपटा देना, कोई भी अपटुता, न्यूनाधिकता और लक्ष्यभ्रष्टता, करणों और वृत्तियोंका मिथ्या अनुकूलन और अपव्यवहार और चीजोंको बिना किये या आधा करके छोड़ देना उनकी प्रकृतिके लिये अप्रिय और विजातीय है। जब उनका कार्य शेष हो जाता है तो देखनेमें आता है कि कोई भी बात भुलायी नहीं गयी है, कोई भी अंश अस्थानमें नहीं है, छूट नहीं गया है, दोष-युक्त अवस्थामें नहीं छोड़ दिया गया है; सब कुछ ठोस, निर्भूल, सम्पूर्ण और प्रशंसनीय है। पूर्ण पूर्णतासे न्यून रहनेवाली कोई भी चीज उन्हें तुष्ट नहीं करती और उनकी सृष्टिकी सर्वांगपूर्तिके लिये यदि आवश्यक हो तो वह अनन्त-

काल श्रम करनेको प्रस्तुत हैं। अतः माकी सारी शक्तियोंमें महासरस्वती ही मनुष्य और उसके सहस्रों दोषोंको सबसे अधिक सहती रही हैं। सदया, सुस्मिता, समीप और सदा सहाय हैं वह; वह आसानीसे विमुख या हताश नहीं होतीं, बारबारकी विफलताके बाद भी उनका आग्रह रहता है; पद-पदपर उनका हाथ हमें सम्हाले रहता है, किन्तु शर्त्त यह है कि हमारा संकल्प अव्यभिचारी हो, हम ऋजु और एकनिष्ठ हों, कारण, द्विधा मन उन्हें सहन नहीं और उनका उद्भासक विद्रूप अभिनय, छलकला, आत्मप्रवंचना और पाखण्डके लिये निर्मम होता है। हमारे अभावोंकी पूर्त्तिके लिये वह मा हैं, हमारी कठिनाइयोंमें बन्धु हैं, धीर और प्रशान्त मन्त्री और परामर्शदात्री हैं; वह अपनी भास्वर मुस्कानसे विषाद, अवसाद और खिन्नताके बादल छिन्न-भिन्न कर देती हैं, सदा नित्य-विद्यमान सहायताकी याद दिलाती हैं, चिरप्रकाश सूर्यकिरणकी ओर अंगुली-निर्देश करती हैं; वह हमें उच्चतर प्रकृतिकी सर्वांगपूर्णताकी ओर चलानेवाली प्रेरणामें दृढ़, अचंचल और अध्यवसायी हैं। अन्य शक्तियोंका सारा कार्य अपनी सम्पूर्णताके लिये महासरस्वतीपर अवलम्बित है, क्योंकि वे ही भौतिक आधारको सुनिश्चित करती हैं, अंग-प्रत्यंगको सविस्तार प्रस्फुटित करती हैं और इमारतको खड़ा करतीं और उसका कवच कस देती हैं।

मा भगवतीके और भी कई महान् विग्रह हैं, परन्तु उन्हें उतार लाना अधिक कठिन था और पृथ्वीपुरुषके क्रमविकासमें वे उतनी स्पष्टतासे सामने खड़े नहीं हुए। उनमें ऐसे भी हैं जो अतिमानसिक सिद्धिके लिये अपरिहार्य हैं,—सबसे अधिक वह जो माका भागवत प्रेमसे प्रवाहित होते दुर्ज्ञेय और दुर्वार उल्लास एवं आनन्दका विग्रह है; एकमात्र वह आनन्द ही अतिमानसिक पुरुषके उच्चतम शिखरों और जड़तत्त्वके अधस्तम गह्वरोंके बीचकी खाईका उपचार कर सकता है, उसी आनन्दमें अनोखे दिव्यतम जीवनकी कुंजी है और वही अभी भी विश्वकी सारी अन्य शक्तियोंके कार्यको अपने गुप्त धामोंसे सहारा दे रहा है। परन्तु मानवीय प्रकृति सीमाबद्ध, अहमात्मिका और तमोग्रस्त है, इन महती सत्ताओंको धारण करने या उनकी विपुल क्रियाका आधार होनेमें असमर्थ है। वे अन्य विरलतर शक्तियां पार्थिव गतिधारामें केवल तब व्यक्त हो सकती हैं और अतिमानस-क्रिया केवल तब सम्भव हो सकती है जब कि शक्तिचतुष्टयने रूपान्तरित मन प्राण देहमें अपना सामंजस्य और स्वातंत्र्य प्रतिष्ठित कर लिया हो। कारण, जब माके सारे विग्रह उनमें एकत्र होते हैं, व्यक्त किये जाते हैं और उनकी पृथक् क्रियाको सामंजस्यपूर्ण एकत्वमें परिणत किया जाता और वे मामें अपने अतिमानसिक देवस्वरूपोंतक उठ जाते हैं, तभी मा अतिमानसिक महाशक्तिके रूपमें व्यक्त होती हैं और अपनी ज्योतिर्मयी

लोकातीत धाराओंको उनके अनिर्वचनीय व्योमधामसे बरसाती हुई लाती हैं। और तभी मानवीय प्रकृति सक्रिय देवप्रकृतिमें परिवर्तित हो सकती है, कारण, तब अतिमानसिक ऋत-चित् और ऋत-शक्तिकी सारी मूल धाराएं साथ गुंथ जाती हैं और जीवन-वीणा अनन्तके छन्दोंके योग्य हो जाती है।

यदि तुम यह रूपान्तर चाहते हो तो अपने-आपको मा और उनकी शक्तियोंके हाथोंमें दे डालो बिना कुण्ठाके, बिना बाधाके, और तुम्हारे अन्दर माका काम निर्विघ्न होवे। तुममें तीन चीजें आवश्यक हैं,—चेतना, नमनीयता, निःशेष समर्पण। कारण, तुम्हें चेतन होना होगा अपने मन, अन्तरात्मा, हृदय और प्राणमें, अपने शरीरके कोषोंमें भी, और तुम्हें मा, उनकी शक्तियों और उन शक्तियोंकी क्रियाके प्रति सबोध होना होगा; कारण, यद्यपि वह तुम्हारी तामसिकता और तुम्हारे अचेतन अंगों और अचेतन अवस्थाओंमें भी कार्य कर सकती हैं और सदा करती भी हैं, तथापि यह एक बात है और तुम्हारा उनसे जाग्रत् एवं जीवन्त संयोगमें होना एक और बात। तुम्हारी सारी प्रकृतिको उनके स्पर्शके प्रति सुनम्य होना होगा;—वह प्रश्न न करे जैसे कि आत्मनिर्भर और अज्ञ मन प्रश्न, संशय और विवाद करता और अपने प्रबोधन और परिवर्तनका आप ही शत्रु होता है; वह अपनी ही प्रवृत्तियोंके लिये हठ न करे जैसे कि मनुष्यकी प्राणसत्ता उनके लिये हठ करती और हर दिव्य प्रभावके विरोधमें अपनी उन्मार्गगामिनी कामनाओं और दुर्भावनाओंको दृढ़तासे खड़ा करती है; वह बाधा न दे, अक्षमता, जड़ता और तमसमें न गड़ी हो, जैसे कि मनुष्यकी शरीर-चेतना बाधा देती और अपने क्षुद्रता और अन्धकारके सुखसे आसक्त रहती हुई उस प्रत्येक स्पर्शके विरुद्ध चीत्कार करती है जो उसके अन्तःशून्य नित्यकर्म या उसके निष्प्राण आलस्य या उसकी घोर तन्द्रामें विघ्न डालता हो। तुम्हारी अन्तःसत्ता और बहिर्सत्ताका निःशेष समर्पण तुम्हारी प्रकृतिके सारे अंगोंमें यह नमनीयता ले आयगा; ऊपरसे प्रवाहित हो आती ज्ञानवत्ता, ज्योति, शक्ति, सामंजस्य, सौन्दर्य, पूर्णताकी ओर निरन्तर उन्मीलनसे चेतना तुम्हारे अंगप्रत्यंगमें जाग्रत् होगी। शरीर भी जाग जायगा और अन्तमें अपनी चेतनाको, जो कि तब अवगूढ़ न रह जायगी, अतिमानसिक अतिचेतन शक्तिसे संयुक्त कर देगा, माकी सारी शक्तियोंको ऊपर, नीचे और चारों ओरसे ओतप्रोत करते अनुभव करेगा और परम प्रेम एवं परम आनन्दसे पुलकित होगा।

परन्तु सावधान रहो और मा भगवतीको अपने क्षुद्र पार्थिव मनसे समझने और परखनेकी चेष्टा मत करो जो कि अपनी पहुँचसे परेकी वस्तुओंको भी अपने ही नाप और मानकों, अपनी संकीर्ण युक्तियों और प्रमादी धारणाओं, अपने दर्पभरे अथाह अज्ञान और अपने तुच्छ आत्मविश्वस्त ज्ञानके नीचे लाना

चाहता है। अपने अर्द्ध-प्रकाशित अन्धकारके कारागारमें बन्द रहनेवाला मन भागवती शक्तिके पदक्षेपोंकी बहुमुखी स्वतन्त्रताका अनुसरण नहीं कर सकता। माकी दृष्टि और क्रियाकी क्षिप्रता और जटिलता मनकी स्खलनशील धारणा-शक्तिसे बाहर छूटी रहती हैं; माकी गतिके माप मनके माप नहीं हैं। उनके बहुतेरे रूपोंके द्रुत परिवर्तन, उनके छन्द-निर्माण और छन्द-भंग, उनके गति-वेगके वर्द्धन और गतिह्रास, व्यक्ति-व्यक्तिकी समस्याओंके साथ उनके नाना रीतियोंके व्यवहार, उनका कभी इस धागेको और कभी और किसीको लेना और छोड़ देना और उनका उन सभीको एक साथ ग्रथित करना, इन सबसे विभ्रान्त हुआ मन परमा शक्तिकी रीतिको नहीं पहचान सकता जब कि वह शक्ति अज्ञानकी गहनताको भेद करके चक्कर काटती हुई पराज्योतिकी ओर तेजीसे बढ़ती है। वरन्, माकी ओर अपने अन्तर्हृदयको उन्मीलित करो, उन्हें अपनी चैत्य प्रकृतिसे अनुभव करने और चैत्य दृष्टिसे देखनेमें तुष्ट रहो, एकमात्र यह प्रकृति और यह दृष्टि ही सत्यको सीधा उत्तर देती हैं। तब स्वयं मा तुम्हारे मन, हृदय, प्राण और शारीर चेतनाको उनके चैत्य तत्त्वों द्वारा प्रबुद्ध करेंगी और उनके सामने अपनी रीति और प्रकृतिको व्यक्त करेंगी।

फिर, अज्ञ मनकी इस मांगकी भूलसे भी बचो कि भागवती शक्ति सदा ही सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता सम्बन्धी हमारी स्थूल सतही धारणाओंके अनुसार कार्य करे। कारण, हमारा मन पद-पदपर अघटनसाधिका शक्ति, सहज सफलता और चकाचौंध करनेवाले ऐश्वर्यसे प्रभावित होनेको आकुल रहता है, नहीं तो भगवान् यहां हैं इसका उसे विश्वास ही नहीं होता। मा अज्ञानके क्षेत्रमें अज्ञानसे बरत रही हैं; वह वहां उतर आयी हैं और सर्वथा ऊपर नहीं हैं। अपने ज्ञान और शक्तिको वह अंशतः अवगुण्ठित रखती हैं और अंशतः व्यक्त करती हैं, प्रायः उनको अपने यन्त्रों और विभूतियोंसे छिपाये रखती हैं और जिज्ञासु मन, अभीप्सु अन्तरात्मा, युयुत्सु प्राण और पाशबद्ध व्यथाक्लिष्ट स्थूल प्रकृतिकी राह चलती हैं जिससे कि वह उन्हें रूपान्तरित कर सकें। कुछ ऐसे विधान हैं जो परमा इच्छाशक्ति द्वारा निर्दिष्ट हैं, ऐसी बहुतेरी जटिल ग्रन्थियां हैं जिन्हें खोलना होगा और अकस्मात नहीं काट दिया जा सकता। इस क्रमविकासशीला पार्थिव प्रकृतिपर असुर और राक्षस अधिकार जमाये हुए हैं और उन्हींके दीर्घकालसे अधिकृत राज्य और क्षेत्रमें उन्हींकी शर्त्तोंपर उनका सामना करना और उन्हें जीतना होगा। हमारे अन्दरकी मानवीय सत्ताको उसकी सीमाओंके अतिक्रमणके लिये निर्देशित करना होगा और तैयार करना होगा; वह इतनी अधिक दुर्बल और तमोग्रस्त है कि उसे उससे परे बहुत दूरके रूपकी ओर अकस्मात् उन्नीत नहीं किया जा सकता।

भागवती चेतना और शक्ति विद्यमान हैं; जो कार्यपथकी अवस्थाओंमें आवश्यक है उसे वे प्रति क्षण करती हैं, सदा यथानिर्दिष्ट डग भरतीं और अपूर्णताके बीच भावी पूर्णताको घड़ती हैं। किन्तु तुममें अतिमानसका अवतरण हो जानेपर ही माका अतिमानसिक प्रकृतियोंके साथ अतिमानसिक शक्तिकी तरह साक्षात् व्यवहार हो सकता है। यदि तुम अपने मनके पीछे चलते हो तो यदि मा तुम्हारे सामने प्रकट होंगी तो भी उन्हें पहचाना नहीं जायगा। अपने मनके पीछे नहीं, अपने अन्तरात्माके पीछे चलो; सत्यको उत्तर देनेवाले अपने अन्तरात्माके पीछे चलो, न कि बाह्य रूपोंपर उछलनेवाले मनके पीछे। भागवती शक्तिमें आस्था रखो, वह तुम्हारे अन्तरमें देवोचित तत्त्वोंको मुक्त करेंगी और सबको भागवती प्रकृतिकी अभिव्यक्तिके रूपमें ढाल देंगी।

अतिमानसिक परिवर्तन नियति-निर्दिष्ट है और पार्थिव चेतनाके क्रमविकासमें अनिवार्य; कारण, उसका ऊर्ध्वारोहण समाप्त नहीं हुआ है, मन उसका सर्वोच्च शिखर नहीं। परन्तु वह परिवर्तन आय, रूप ग्रहण करे और स्थायी हो, इसके लिये आवश्यक है नीचेसे उसके लिये आवाहन और उस आवाहनके साथ यह संकल्प कि जब ज्योति अवतीर्ण हो तो उसे अस्वीकार नहीं करना, पहचानना है, और आवश्यक है ऊपरसे परमेश्वरकी अनुमति। इस अनुमति और इस आवाहनके बीच कड़ीका काम करनेवाली शक्ति मा भगवतीकी सत्ता और शक्ति है। कोई मानवीय प्रयास या तपस्या नहीं, एकमात्र माकी ही शक्ति आच्छादनको छिन्न और आवरणको विदीर्ण कर पात्रको स्वरूपमें गढ़ सकती और इस अन्धकार असत्य मृत्यु वेदनाके जगत्में ला सकती है सत्य एवं ज्योति, दिव्य जीवन एवं अमृतत्व-आनन्द।

\- * -